

मास्टर ऑफ आर्ट्स (हिस्ट्री)
तृतीय सेमेस्टर

भारत का इतिहास: सातवीं सदी ईस्वी से सोलहवीं
सदी ईस्वी के प्रथम चतुर्थांश तक

अध्ययन मण्डल

अध्यक्ष,

कुलपति,

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

अध्ययन मण्डल के सदस्यों के नाम

1. प्रोफेसर गिरिजा प्रसाद पाण्डे, निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
2. प्रोफेसर रामेश्वर प्रसाद बहुगुणा, इतिहास विभाग एवं संस्कृति विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिय विश्वविद्यालय, दिल्ली
3. प्रोफेसर शन्तन सिंह नेगी, इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, एच.एन.बी. गढ़वाल केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गढ़वाल
4. प्रोफेसर वी.डी.एस. नेगी, इतिहास विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, एस.एस.जे. परिसर, अल्मोड़ा
5. डॉ. मदन मोहन जोशी, समन्वयक इतिहास विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम समन्वयक: डॉ. मदन मोहन जोशी

इकाई लेखन-

| | |
|--------------|---|
| इकाई एक- | राजपूतों का उदय तथा भारतीय सामंतवाद- विविध दृष्टिकोण डॉ. दीपक कुमार, इतिहास विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली |
| इकाई दो- | हर्षोत्तर उत्तर भारत की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति डॉ. सिराज मुहम्मद, इतिहास विभाग, एम.बी.पी.जी.स्नात. महा. हल्द्वानी |
| इकाई तीन- | पल्लव, चालुक्य, चोल कालीन दक्षिण भारत दीपांकर दास इतिहास विभाग, मोतीलाल नेहरू कालेज दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली |
| इकाई चार- | तुर्क आक्रमण: परिस्थितियां, कारण एवं परिणाम डॉ. सिराज मुहम्मद, इतिहास विभाग, एम.बी.पी.जी.स्नात. महाविद्यालय, हल्द्वानी। |
| इकाई पांच- | मामलुक सुल्तान डॉ. सिराज मुहम्मद, इतिहास विभाग, एम.बी.पी.जी.स्नात. महाविद्यालय, हल्द्वानी। |
| इकाई छह- | दिल्ली सल्तनत का विस्तार: खिलजी वंश डॉ. सिराज मुहम्मद, इतिहास विभाग, एम.बी.पी.जी.स्नात. महाविद्यालय, हल्द्वानी। |
| इकाई सात- | दिल्ली सल्तनत की पराकाष्ठा: तुगलक वंश रमा जैसवाल, डी- 170, गामा 1, ग्रेटर नोयडा, गौतम बुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश |
| इकाई आठ- | दिल्ली सल्तनत का पतन: सैयद तथा लोदी वंश रमा जैसवाल, डी- 170, गामा 1, ग्रेटर नोयडा, गौतम बुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश |
| इकाई नौ - | विजय नगर साम्राज्य, बहमनी साम्राज्य रमा जैसवाल, डी- 170, गामा 1, ग्रेटर नोयडा, गौतम बुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश |
| इकाई दस- | सल्तनत काल में राज्य तथा सम्प्रभुता रमा जैसवाल, डी- 170, गामा 1, ग्रेटर नोयडा, गौतम बुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश |
| इकाई ग्यारह- | सल्तनत कालीन सैनिक तथा प्रशासनिक प्रणाली रमा जैसवाल, डी- 170, गामा 1, ग्रेटर नोयडा, गौतम बुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश |
| इकाई बारह- | शर्की वंश, डॉ. सिराज मुहम्मद, इतिहास विभाग, एम.बी.पी.जी.स्नात. महा., हल्द्वानी। |

आई.एस.बी.एन.

:

कॉपीराइट

: उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन वर्ष

:

Published by

: उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल-263139

Printed at

:

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

ब्लॉक एक

इकाई एक: राजपूतों का उदय तथा भारतीय सामंतवाद :विविध दृष्टिकोण

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 राजपूतों का उदय

1.3.1 पृष्ठभूमि

1.3.2 स्वदेशी उत्पत्ति का मत

1.3.3 विदेशी मूल

1.3.4 राजपूत पहचान का निर्माण एक सामाजिक- राजनीतिक प्रक्रिया

1.4. भारतीय सामंतवादका विवाद

1.4.1 पृष्ठभूमि

1.4.2 उत्पादन की एशियाई पद्धति

1.4.3 भारतीय सामंतवाद की अवधारणा

1.4.4 भारतीय सामंतवाद के विपक्ष अवधारणा

1.5 सारांश:

1.6 अभ्यास प्रश्न

1.7 विशेष शब्दावली:

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर:

1.9 अध्ययन सामग्री

1.10 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री:

1.11 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम मुख्यतः भारत के पूर्व-मध्यकालीन इतिहास का अध्ययन करेंगे। यह एक ऐसा कालखंड है जिसे प्राचीन काल तथा मध्यकाल के बीच माना गया है, इसकी चारित्रिक पहचान दोनों से भिन्न मानी गई है, इसलिए इस समय काल को इंगित करने के लिए पूर्व-मध्यकाल के रूप में नवीन संज्ञा दी गई है। हालांकि पूर्व-मध्यकाल के रूप में कालखंड का वर्गीकरण करने से पहले, भारत के इतिहास लेखन में इस समय काल के इतिहास को हम प्राचीन काल में अथवा मध्यकाल में ही समेटते रहे। जैसे-जैसे इतिहास लेखन की शैली

विकसित होती जा रही है हम विभिन्न विमर्शों और विचारधाराओं के अधीन इतिहास का पुनर्निर्माण होता हुआ पाएंगे। सामान्य रूप से कह सकते हैं कि इस काल खंड की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्थाएं इस प्रकार की नहीं थी कि उन्हें मध्यकालीन कहा जाए और ना तो वह पूर्णता प्राचीन व्यवस्थाओं सी थी।

पूर्व-मध्यकाल के रूप में भारतीय इतिहास को एक और काल खंड में वर्गीकृत करना और इस काल को संक्रमणकाल के रूप में देखना, इसका तर्कसंभवतः यह है कि इतिहास में दीर्घकालीन प्रक्रियाओं के प्रभावों का अध्ययन समय-काल की निर्धारित इकाई में करना व समेटना वास्तविकता में अराजक और मुश्किल काम है। परिवर्तन, पतन और विकास कुछ भी अकस्मात ही किसी काल खंड की समयसीमा में बंध कर नहीं होता। इन प्रक्रियाओं की निरंतरता के लक्षण मानवीय समयसीमा के आरपार देखे जाते हैं। भारत के इतिहास का वर्गीकरण उसकी अपनी वास्तविकताओं के आधार पर होना चाहिए। इसलिए नवीन विमर्श, परिस्थितियों, नए इतिहास लेखन और नवीन शोध परिणाम के कारण समय-काल का भी नवीन रूपसे विभाजन संभव है।

भारत के इतिहास लेखन में 'पूर्व-मध्यकाल' को मुख्यता निम्न दृष्टिकोण से समझा गया है।

प्रारंभिक विदेशी विद्वानों, औपनिवेशिक अधिकारियों और कुछ राष्ट्रवादी इतिहासकारों की दृष्टि में यह काल पतन और अंधकार का था। भारतीय मार्क्सवादी इतिहासकारों ने उत्पादन की पद्धति (mode of production) के आधार पर इसे सामंतवाद का काल माना है, जबसत्ता, समाज और अर्थव्यवस्था एवं संस्कृति का सामंतीकरण हुआ। वहीं इतिहासकारों में यह मत सामान्य होता गया कि यह काल प्राचीन से मध्यकाल के बीच का संक्रमण काल रहा है, लेकिन भारतीय सामंतवाद की संकल्पना को नकारते हुए कई नए विचार सामने आए हैं, जिसके अनुरूप वह इस काल में राज्य निर्माण और विकास की बात पर बल देते हैं। इस इकाई में हम जिन विषयों का अध्ययन कर रहे हैं उनसे हम पूर्व-मध्यकाल की गतिशीलता को समझ पाएंगे। हम पहले राजपूतों की उत्पत्ति को लेकर विभिन्न मतों का अध्ययन करेंगे, उसके बाद भारतीय सामंतवाद को लेकर इतिहासकारों के विभिन्न दृष्टिकोण की चर्चा करेंगे।

1.2 उद्देश्य

- इस पाठ को पढ़ने के बाद हम प्राचीन और मध्यकालीन भारत में, निरंतरता और दीर्घकालीन बदलावों एवं विकास की प्रक्रिया को समझ पाएंगे।
- हम राजपूत उत्पत्ति के विमर्श पर विभिन्न मतों को जान पाएंगे।
- हम भारतीय सामंतवाद को लेकर इतिहासकारों के दृष्टिकोण को समझेंगे।

1.3 राजपूतों का उदय

1.3.1 पृष्ठभूमि

‘राजपूत’ यह पद (term) कब और कैसे क्षत्रिय पद का प्रायः बन गया यह ध्यान देने की बात है, इसका सटीकता से पता लगाना मुश्किल है। हालांकि यह कहा जा सकता है कि बारवीं शताब्दी तक राजपूत पद एक खास वंश या बहुत सारे वंशों को इंगित करने के लिए, एक सामूहिक पहचान के पद के रूप में चलन में आ गया था। इतिहासकारों ने इस पद के प्रयोग में आने और इसके अर्थ के आधार पर भी राजपूत उत्पत्ति को समझने का प्रयास किया है।

राजपूत पद के अर्थ को लेकर भी इतिहासकार एक मत नहीं हैं, एक मत के अनुसार यह केवल वैदिक क्षत्रिय और राजपुत्रों के लिए उपयोग होता था। राजपूत को देशी मूल का मानने वाले इतिहासकार जयनारायण असोपा का मानना है कि राजपूत पद कालांतर में वैदिक राजपुत्र, राजन्य या क्षत्रिय वर्ग के लिए ही उपयोग में आने लगा था। उनका मानना है कि राजपुत्र और राजन्य समानार्थक रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। वह राजपूत को केवल क्षत्रिय के रूप में ही देखते प्रतीत होते हैं।

वहीं गौरीशंकर प्रसाद ओझा ने विभिन्न स्रोतों में राजपूत पद के प्रयोग का अर्थ निकलते हुए कहा है कि, यह शब्द विभिन्न अर्थों के रूप में प्रयोग हुआ है, कहीं रजा के पुत्रों के लिए तो कहीं सामंतों के पुत्रों के लिए, तो कहीं भू-स्वामियों के लिए भी इसका प्रयोग हुआ है। कुछ इतिहासकारों ने राजपूतों के कुछ वंशों को ब्राह्मण कुल से उत्पन्न माना है, जैसे परमार वंश को ब्रह्म-क्षत्रिय माना गया है, उनके अनुसार परमार मूलतः ब्राह्मण थे।

गुप्तोत्तर काल के साथ विभिन्न देशी और विदेशी जनजातियों का भारत में शक्तिशाली राजनीतिक प्रभाव तथा नए राज्यों के निर्माण की प्रक्रिया दृष्टिगोचर हुई। साथ ही इस काल में नई सामाजिक एवं राजनीतिक पहचानों का निर्माण भी हुआ। अनेक स्थानीय राजपूत स्रोतों में तथा जनश्रुतियों के माध्यम से राजपूतों के क्षत्रिय धर्म, शक्ति, साहस और बलिदान का महिमामंडन किया गया है, इस बात पर बल दिया गया है कि उन्होंने उस समय के हिंदुस्तान में बढ़ रही इस्लामी शक्तियों (अरब और तुर्क) को कठोर चुनौती दी तथा हिन्दू धर्म रक्षक की भूमिका निभाई थी। वस्तुतः हमें राजपूतों के इस गुणगान को उनकी संप्रभुता के निर्माण के प्रयास के रूप में भी देखना चाहिए।

राजपूतों की उत्पत्ति के विषय को लेकर इतिहासकारों के मध्य विवाद है, इसलिए राजपूतों का उदय कैसे हुआ इस पर अनेकों विचार सामने रखे गए हैं। इन विचारों को मूलतः निम्न प्रकार की संभावनाओं में प्रकट किया गया है।

- राजपूत देशी मूल के थे, वह वैदिक आर्य-क्षत्रिय थे। राजपूत सूर्य एवं चन्द्र वंशी थे। उनकी उत्पत्ति अग्निकुल/अग्निकुंडसे हुई थी।
- राजपूत विदेशी थे।

- राजपूतों के उदय एक सामाजिक एवं राजनीतिक प्रक्रिया का परिणाम है।

3.3.2. देशी उत्पत्ति का मत

राजपूतों की उत्पत्ति को देशी मूल का मानने वाले लोगों के विचार का मुख्य आधार यह है कि, राजपूत अपने समय की सामाजिक व्यवस्था में क्षत्रिय वर्ण के ही थे तथा वह मूल रूप से भारत के ही निवासी थे, वह राजपूतों को प्राचीन आर्यों की संतान मानते हैं। वहीं कुछ लोग राजपूतों की उत्पत्ति को मिथकीय कथाओं से समझाने का प्रयास करते हैं। उपरोक्त मत वाले सभी लोग राजपूतों को कमोबेश देशी मूल का ही मानते हैं, इसलिए इन के विचारों को हमने देशी उत्पत्ति के मत के अंतर्गत ही समझने का प्रयास किया है।

सूर्य एवं चंद्रवंशी होने का मत:

बहुत सारे इतिहासकारों का मत है कि अपने आपको दिव्य, श्रेष्ठ और कुलीन दर्शाने के लिए राजपूतों ने अपनी प्रभावशाली वंशावली बनवाई तथा अपनी उत्पत्ति के संदर्भ में वह खुद को सूर्य और चन्द्र वंशी मानते हैं। वहीं डॉ. ओझा ने ऐतिहासिक स्रोतों (अभिलेखों तथा ग्रंथों) के संदर्भ से राजपूतों को सूर्य और चन्द्र वंश का माना है, उदाहरण के लिए गुहिल एवं राठौर राजपूतों को सूर्यवंश से उत्पन्न तो भाटी और चन्द्रावती के चौहान राजपूतों को चंद्रवंशी माना है। इन प्रमाणों के आधार पर वह राजपूतों को प्राचीन क्षत्रिय के वंशज ही मानते हैं। कुमारपालचरित, वर्णरतनाकार और राजतरंगिणी जैसे स्रोतों में राजपूतों की जो सूचियाँ मिली है उनके आधार पर राजपूतों की 36 जातियाँ थीं। इन सूचियों के आधार पर ही कुछ इतिहासकार उन्हें प्राचीन क्षत्रिय और सूर्य एवं चन्द्र वंश का मानते हैं, हालांकि इन अलग-अलग स्रोतों में दी गई यह सूचियाँ आपस में पूर्णतः मेल नहीं खाती हैं।

पंडित गौरी शंकर ओझा का मत है कि राजपूत पारंपरिक क्षत्रियों के ही वंशज हैं, राजपूत पद असल में संस्कृत शब्द राजपुत्र का ही अपभ्रंश है। इस शब्द का अर्थ है राजघराने का व्यक्ति, इसलिए राजपूत पुरानी क्षत्रिय वर्ण की जातियों के ही थे। वह कर्नल जेम्स टॉड की बातों का खंडन करते हुए कहते हैं कि विदेशी जातियों और राजपूतों की वेशभूषा और रीति-रिवाजों में कोई समानता नहीं थी। राजपूत विदेशियों से इतने भिन्न थे कि उनको विदेशी साबित करना गलत होगा। सी.वी. वैद्य के अनुसार राजपूत वस्तुतः वैदिक आर्यों के ही वंशज थे, वैदिक आर्यों के अलावा कोई और इतने शौर्य से हिन्दू (वैदिक) परंपराओं की रक्षा हेतु नहीं लड़ सकता था, राजपूतों ने अरब और तुर्कों का सामना और विरोध इसलिए ही किया था।

दशरथ शर्मा का मानना है कि राजपूत जातियों ने विदेशी शक्तियों का प्रतिकार करने की प्रक्रिया के दौरान ही समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया, वह महत्व में तभी आए जब उन्होंने विदेशियों के खिलाफ संघर्ष शुरू किया, उनका मत है कि कुछ ब्राह्मण जातियों ने भी निज जन, समाज, संस्कृति और अपनी भूमि की रक्षा के लिए शस्त्र उठा लिए थे तथा क्षत्रिय धर्म का पालन किया। आर.सी. मजुमदार ने भी राजपूतों के संदर्भ में प्राचीन क्षत्रिय के मत को महत्व दिया है।

वहीं इस मत से विभेद रखते हुए कुछ इतिहासकारों का मानना है कि, इस प्रकार के प्राचीन क्षत्रिय वंशों से

अपनी वंशावली को जोड़ कर राजपूतों ने खुद को क्षत्रिय साबित किया क्योंकि क्षत्रियों को राज्य करने का अधिकार था, तथा उन्होंने पौराणिक मान्यताओं के आधार पर अपनी शासन करने की राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक वैधता को स्थापित एवं प्रसारित करने का प्रयास किया। उनके लिए यह आवश्यक था क्योंकि संभवतः वह शक्तिशाली राज्यों के निर्माण करने से पहले सामाजिक पहचान के धारक थे। खुद को सूर्य एवं चन्द्र वंशीय क्षत्रिय कुल से जोड़ कर उन्होंने अपनी राजनीतिक और सामाजिक पहचान बनाई।

बी.डी.चट्टोपाध्याय का मानना है कि 36 राजपूत जातियों की जो सूचियाँ हमें मिलती हैं, वह सभी स्रोतों में एक समान नहीं हैं और हम यह मान सकते हैं कि वंशावली और इस प्रकार की सूचियों के निर्माण और संकलन में छेड़छाड़ की गई है। उनका मानना है कि अपने गौरवशाली इतिहास की रचना करते हुए यह सामान्य प्रवृत्ति देखी जा सकती है कि राजपूत राज-वंशावलियों के निर्माण के समय बहुत सारे ऐसे शासकों को, जिनकी उत्पत्ति का काल और पीढ़ियों की कोई सूचना भी नहीं है, उन्हें भी उन्होंने ने अपनी वंशावलियों में स्थान दिया है। अर्थात् समय के साथ राजपूत शासकों ने अपने कुल को इन सूचियों से जोड़ लिया, उन्होंने अपनी वंशावलियों का निर्माण कर अपनी उत्पत्ति को प्रमुख वंश से जोड़ कर खुद के कुल को विशेष, प्रभावशाली, सिद्ध और ऐतिहासिक प्रमाणित करने का प्रयास किया। इसलिए अलग-अलग राजपूत जातियों की सूचियाँ अलग-अलग स्रोतों में कुछ हेरफेर के साथ वंश-क्रम की सूचना प्रस्तुत करती प्रतीत होती हैं।

अग्निकुल/अग्नि कुंड से उत्पत्ति का मत:

एक मिथक के अनुसार राजपूतों की उत्पत्ति उस अग्निकुंड अथवा यज्ञ से हुई जिसे गुरु वशिष्ठ ने अपनी कामधेनु गाय को पुनः प्राप्त करने के लिए किया था, क्योंकि विश्वामित्र ने कामधेनु गाय को हर लिया था अतः गुरु वशिष्ठ ने एक यज्ञ किया जिससे चार प्रमुख राजपूत जातियों (प्रतिहार, चाहमान, चौलुक्य और परमार) की उत्पत्ति मानी गयी है। धीरे-धीरे यह कथा गोण हो गयी लेकिन कुछ बदलावों साथ यह मिथकीय विचार जन स्मृतियों में जीवंत रहा है। यह सामान्यता माना गया कि अग्नि कुल के राजपूतों का जन्म विशेष प्रयोजन के लिए हुआ, जब ब्राह्मण धर्म खतरे में था और क्षत्रियों का अकाल था तब एक यज्ञ के द्वारा उसकी अग्नि से राजपूतों का जन्म विशेष प्रयोजन के लिए हुआ था। कलियुग में मलेच्छों का नाश करने के लिए इनका जन्म हुआ। चंदबरदाई द्वारा रचित पृथ्वीराज रासो में इस मिथक का वर्णन है, पृथ्वीराज रासो को ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करने वालों में बहुत सारे लोग इस मिथक को भी ऐतिहासिक घटना मानते हैं। यह माना जाता है कि राजस्थान के अबू पर्वत में हुए यज्ञ से चार प्रमुख राजपूत जातियों की उत्पत्ति हुई। क्योंकि इनकी उत्पत्ति अग्निकुंड अर्थात् यज्ञ की अग्नि से हुई तभी इनको अग्निकुल का माना जाता है। यह पहले ब्राह्मण थे और बाद में इन्होंने क्षत्रिय धर्म अपना लिया था।

इस मत को भी इतिहासकारों ने नाकारा है क्योंकि यह मत भी पौराणिक कथाओं पर आधारित है और वास्तविकता में यह संभव प्रतीत नहीं होता है। इसके विपरीत इतिहासकारों का तर्क है कि अग्नि अथवा यज्ञ द्वारा पवित्रीकरण/शुद्धि का अनुष्ठान संभव है, क्योंकि बहुत सारी राजपूत जातियाँ या तो विदेशी मूल की मानी

गई हैं, या वह निम्न सामाजिक पृष्ठभूमि से उभर कर सामने आई हैं। हम जानते हैं की निम्न वर्ण और विदेशियों को वर्ण व्यवस्था में पवित्र नहीं माना गया है बल्कि उनको मलेच्छ इंगित किया गया है। इस लिए यह संभव है कि इस तरह के अग्निकुंड अथवा यज्ञ द्वारा शक्तिशाली लेकिन निम्न सामाजिक दर्जे वालों को अथवा विदेशियों को राजपूत जाति के रूप में पवित्र किया गया हो।

3.3.3. विदेशी मूल

भारतविद(Indologist)/ अंग्रेज़अधिकारी जेम्स टॉड, विलियम क्रूक और वि.ए. स्मिथ के अनुसार राजपूत सीथियन, शक, कुषाण और हूण इत्यादिबाहरी जनजातियों की ही वंशज हैं। इतिहासकार आर.जी.भंडारकर ने भी गुर्जर को विदेशी मूल का माना है और प्रतिहारों को वह गुर्जरो से उत्पन्नमानते हैं।हूणों की तरह गुर्जर भी विदेशी नस्ल के थे वह उत्तर-पश्चिम से भारत से आए और धीरे-धीरे वह भारत के आंतरिक भागों में विस्तार करते रहे जहाँ सदी के अंतराल में उन्होंने हिंदु धर्म और संस्कृति को अपना लिया। सर जेम्स कैम्पबेल (Sir James Campbell) की तरह भंडारकर ने भी गुर्जरो को खज़र (Khazar) मना है।खज़र यूरोप और एशिया के सीमांत क्षेत्रों में रहते थे।

लेकिन इस मत का विरोध करने वाले सी.वी. वैद्य का मानना है कि गुर्जर आर्य थे और वह भारत के थे। खज़र और गुर्जर शब्द की ध्वनि समानता के चलते लोगों ने गलत दिशा में बढ़ता हुए, गुर्जरो को खज़रो के रूप में एक ही मानना शुरू कर दिया। खज़र मूलतः व्यापार करते थे वहीं गुजर घुमक्कड़ पशुपालन करने वाले थे।

विदेशी उत्पत्ति की विचारधारा को मानने वाले कर्नल जेम्स टॉड का मत था कि राजपूत और इन विदेशी जनजातियों के रीती रिवाजों में समानता है। वह इस समानता के प्रतिबिंब के आधार पर उनका संबंध राजपूतों से जोड़ते हैं, जैसे यह विदेशी भी सूर्य के उपासक थे, उनके अनुसार सती प्रथा, अश्वमेध यज्ञ, शास्त्रों और घोड़ों की पूजा करने की रीत तथा दोनों की पौराणिक कथाओं में भी समानताएं हैं।

स्मिथ का विचार है कि शक, कुषाण गुर्जर व हूण जन जातियों का भारत में धार्मिक परिवर्तन हुआ है, इन्होंने भारत में अपने राज्य बना लिए थे, आगे चलकर इन्हीं से राजपूतों की उत्पत्ति हुई। अपनी राजनीतिक और सामाजिक प्रतिष्ठा का संवर्धन करने के लिए अपनी वंशावलियों को सूर्य एवं चन्द्र वंश से जोड़ लिया। विलियम क्रूक की बात से सहमत होकर स्मिथ का भी मानना है कि पृथ्वीराज रासो में जिस अग्नि द्वारा राजपूतों की उत्पत्ति बताई गयी है वह वास्तविकता में इन विदेशी जनजातियों का पवित्रीकरण कर समाज में विलय था।

इन जनजातियों को धीरे-धीरे मुख्यधारा में संकलित कर लिया गया और क्षत्रिय वर्ण का माना गया। इन विदेशी मूल की जातियों ने भी ब्राह्मण धर्म को अपना लिया, अपनी सामाजिक पहचान को सुदृढ़ करने के लिए उन्होंने वंशावलियों का निर्माण कर खुद को सूर्य और चन्द्र वंश से जोड़ लिया।हलांकि विदेशी उत्पत्ति का मत रखने वाले इतिहासकार इस संभावना को निरस्तनहीं कर सकते कि कुछ राजपूत जातियां पूर्णता भारतीय मूल की ही थी।

वहीं राजपूतों के मिश्रित उत्पत्ति के विचार के अनुरूप यह अवधारणा भी रही है कि राजपूतों की उत्पत्ति दोनों विदेशी एवं देशी मूल के वंशजों से संभव है, विभिन्न विदेशी भारत आए और भारत में उनका सामाजिक-सांस्कृतिक विलय सुगमता से हो गया, साथ ही साथ इस काल में ब्राह्मण धर्म का भी विस्तार हुआ और बहुत सारी जनजातियों को मुख्य धरा में शामिल किया गया था, कई सारी देशी-विदेशी शक्तिशाली जनजातियों को राजपूत के रूप में मुख्यधारा के सामाजिक व्यवस्था में क्षत्रिय का स्थान प्राप्त हुआ, हालांकि बहुत सी अन्य जन-जातियों को निम्न वर्ग में ही समाहित किया गया था।

3.3.4. राजपूत उत्पत्ति एक सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रिया

हाल के समय में राजपूतों की उत्पत्ति को लेकर नवीन विचार प्रस्तुत किए गए हैं, इतिहासकारों ने राजपूतों की योद्धा के रूप में सम्मान, उदय और उनकी उपलब्धियां को राजनीतिक प्रक्रिया समझा है। वह राजपूतों की उत्पत्ति को एक लम्बी प्रक्रिया के विकास के रूप में समझते हैं, जहाँ एक से अधिक कारणों के साथ उस समय की व्यवस्थाओं में राजपूत जैसी जातियों का उदय संभव था।

आर.एस.शर्मा के अनुसार राजपूत सामंत थे, जिनका उदय गुप्तोत्तर काल के बाद और सल्तनत के उदय से पहले सामंतवादी काल में हुआ, जब राज्यों की शक्ति और सत्ता का राजनीतिक विकेंद्रीकरण हो रहा था। इस समय अंतराल में राजनीति, अर्थव्यवस्था और समाज के सामंतीकरण हुआ, सामंतवादी उत्पादन के चलन एवं व्यवस्था का प्रभाव उस समय की सभी व्यवस्थाओं पर भी पड़ा।

इरफ़ान हबीब के अनुसार 7 वीं और 12 वीं सदी का काल गोत्र/बिरादरी आधारित राजतंत्र (clanmonarchies) और आद्य-राजपूत राज्य का था। इरफ़ान हबीब इस बात की और संकेत करते हैं कि फ़ारसी स्रोतों में राजपूत शब्द १६ वीं सदी से ही मिलता है, इससे पहले सल्तनत काल में राजस्थान और उतर भारत के बड़े-बड़े भू-स्वामियों के लिए यह शब्द प्रयोग नहीं किया गया है।

नार्मनपि.ज़ेग्लेर (Norman P Ziegler) ने राजपूतों के शौर्यवान, विदेशियों का विरोध करने वाली छवि से हटकर उनके संबंधों को समझने का प्रयास किया है, उनके अनुसार राजपूतों के केंद्रीय शक्तियों के साथ जो संबंध थे उन्हें केवल राजनीतिक और सांस्कृतिक टकराव के रूप में नहीं समझा जा सकता है। उनका मानना है कि राजपूत इन 'मुस्लिम' शासकों को अपनी ही 'जाति' की उप श्रेणी का मानते थे, जो केवल शक्ति और हैसियत में उनसे अलग थे।

एक बार जब तुर्क और मंगोलों की केंद्रीय सत्ता और संप्रभुता का निर्माण हो गया, उसके बाद नए और पहले से ही प्रतिष्ठित राजपूतों ने इनकी अधीनता स्वीकार कर ली। उन्होंने ऐसी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में, जहाँ तुर्क और मुग़ल संप्रभुता को स्वीकार कर लिया गया था, खुद को रजा का पुत्र माना।

नई नैतिक व्यवस्था में अपने स्वामी के प्रति पूर्ण सेवा एवं निष्ठा रखना जिसके बदले उससे भू-क्षेत्र, राज दरबार में स्थान एवं सम्मानित पद मिलता था। सेवा एवं निष्ठा का यह नैतिक मूल्य राजपूत राजनीतिक-संस्कृति का प्रमुख मूल्य बन गया। जब कभी यह केन्द्रीय राज्य राजपूतों के क्षेत्र को अपने अधिकार में ले आते थे और

इनकी वरीयता कम करते थे, तभी इन राजपूतों और मुस्लिम शासकों के बीच टकराव होता था। उनका मानना है कि राजपूतों का तुर्क और मुगलों के साथ टकराव और सहयोग, के व्यवहार को राजपूतों के विश्वास, मिथक और नैतिक मूल्यों द्वारा समझा जा सकता है।

डी.एच.ए. कोल्फ (D.H.A. KOLF) के अनुसार मध्यकाल में राजस्थान और उत्तर भारत के अन्य क्षेत्रों में भी बहुत सारे चरवाहा पृष्ठभूमि वाले घुमक्कड़ समूह जिन्हें सैनिक या लड़ाकों वाले गुण विद्यमान थे, वह समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर पाए। राजपूत पद एक व्यापक नाम के रूप में इस तरह की सैनिक और भू-स्वामी वर्ग के लिए उपयोग होने लगा था।

इनका मानना है कि वस्तुतः राजपूत कोई जाति न होकर किसी प्रकार का सैनिक कार्य करने वालों की पहचान सूचक पद था। जिस प्रकार 'सिंह' पद का उपयोग हुआ है उसी प्रकार राजपूत पद भी सैनिक, योद्धा या सैन्य कार्य करने वालों के लिए उपयोग में आया, मध्यकाल की भारतीय सेनाओं में आम लोग ही सैनिक के रूप में श्रम देते थे, कोई विशेष सैनिक भर्तियाँ या प्रशिक्षण नहीं होता था, किसान भी बेहतर आय और खली समय में अपने स्थान से बहुत दूर-दूर जाकर भी सैनिक की भूमिका निभाते थे।

१६ वीं सदी तक राजस्थान के राजपूत परिवारों ने खुद को श्रेष्ठ साबित करने का प्रयास किया और अपनी वंशावलियों का निर्माण किया उनके बीच महान राजपूत परंपरा का भाव था। इस तरह उन्होंने अपने गौरव, शक्ति और प्रतिष्ठा को पुष्ट किया। लेकिन राजस्थान के बहार, उत्तर भारत में भी इस प्रकार के निम्नसामाजिक हैसियत वाले घुमक्कड़ लड़ाकू समूह और सैनिक लगातार राजपूत के नाम के खुले सामाजिक वर्ग में आधुनिक समय की शुरुवात तक आते रहे। अर्थात् यह केवल उन लोगों का वर्ग नहीं था, जो क्षत्रिय परिवार में पैदा हुए थे, बल्कि यह उन लोगों का भी सामाजिक समूह था जिन्हें लड़ना आता था और जो इस प्रकार की सेवाएं दे रहे थे।

हिन्दुस्तान में सैनिक श्रम की अत्यधिक मांग थी, स्थानीय मुखिया अथवा सरदार लोगों को एकत्रित कर बढ़े-बढ़े राज्यों और मुगल साम्राज्य को सैनिक सेवा प्रदान करते थे। इस तरह की सैन्य बाजारों में न तो केवल हिन्दू न केवल क्षत्रिय ही सैनिक कार्य करने हेतु प्रस्तुत थे, बल्कि विभिन्न सामाजिक और जाति के लोग प्रस्तुत थे, आगे चलकर इन सब लोगों की एक ही सामाजिक और आर्थिक पहचान बनी की वह किस के सेवक हैं। कोल्फ का मानना है कि अपने निम्न सामाजिक पहचान को छिपाने के लिए इन आम लोगों ने खुद को राजपूत कहना शुरू किया क्योंकि वह सैनिक कार्य करते थे। कोल्फ के अनुसार राजपूत और सिपाही के रूप में इन लोगों की पहचान इनकी जाति के परे स्थापित हो गयी। कोल्फ इस तरह मध्यकाल में 'राजपूतीकरण' की प्रक्रिया की ओर इशारा करते हैं।

बी.डी. चट्टोपाध्यायने आर.एस.शर्मा की तरह 8वीं से 13वीं सदी के काल को साम्राज्यों या राज्यों के राजनीतिक विकेंद्रीकरण और आर्थिक पतन का काल नहीं माना है। वह इस समय-काल को सामंतवादी व्यवस्थाओं का काल नहीं मानते हैं, बल्कि वह इस समय-काल को 'पूर्व-मध्य काल' की संज्ञा देने के ही

पक्षधर हैं। वह हमारा ध्यान इस समय हो रही ऐतिहासिक क्रियाओं पर केंद्रित करना चाहते हैं। कृषि विस्तार, वह इस समय जन-जातीय क्षेत्रों में कृषक बस्तियों का स्थापना और फैलाव की बात करते हैं, जिसके चलते समाज में निरंतर बदलाव हुए, विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच सत्ता और जमीन को लेकर संघर्ष हुआ। आगे चलकर शक्तिशाली सरदारों के अधीन कुछ क्लैन(clan)/बिरादरियां अपने आपको संघटित कर राज्य बनाने में सफल रही, इनमें से बहुत सारे निम्न सामाजिक स्तर से उठ कर यह कर पाए थे। इस समय जन-जातियों चरवाहों का कृषि अर्थव्यवस्था और कृषक समाज में विलय हो गया, नई जातियों का निर्माण हुआ और कबीलों का राजतन्त्र के रूप में उद्भव हुआ। इन नए उभरते राज्यों ने क्षत्रिय पहचान पाने के लिए ब्राह्मण विचारधारा के ढांचे में खुद को रख कर शक्ति और सत्ता को अपना अधिकार साबित करने का प्रयास किया। इसी तरह वह इस बात पर बल देते हैं कि, राजपूतों की उत्पत्ति उनके समय काल की सामाजिक-राजनीतिक और आर्थिक प्रक्रियाओं के प्रभाव के अध्ययन के बिना नहीं समझी जा सकती है। राजपूत पहचान अपनाने वाली अथवा कहलाई जाने वाली जातियां, वह कुल/गोत्र थे जिनका विकास उस समय की कृषि-अर्थव्यवस्था के विस्तार, भूमि वितरण के नए चलन खासकर शासक वर्ग की अपनी बिरादरी के अन्दर ही भूमि वितरण होना, राजनीतिक और वैवाहिक संधियों के द्वारा बिरादरी में अंतर-सहभागिता बनाना और अभूतपूर्व पैमाने पर गढ़ों का निर्माण करने के साथ ढलती या निर्मित होती रही।

राजपूत पहचान एक प्रक्रिया के रूप में उभर के सामने आई जिसे वह 'राजपूतीकरण' के रूप में समझते हैं। वह मानते हैं कि यह प्रक्रिया अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग समय में होती रही, इस तरह विभिन्न भारतीय राजपूत कई चरणों में राजपूतीकरण की जटिल प्रक्रिया से गुजरते हुए राजपूत कहलाए गए, तथा इनमें बहुत से पहले निम्न सामाजिक स्तर के थे।

उनके मत अनुसार देशी और विदेशी मूल के राजपूत उत्पत्ति के सिद्धांत उस समय काल की जटिल सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति को विशेष महत्व नहीं देते, जबकि राजपूतों की उत्पत्ति को राजस्थान में और उसके बहार भी एक पूर्ण प्रक्रियाके रूप में ही समझा जा सकता है।

1.4 भारतीय सामंतवाद

1.4.1 पृष्ठभूमि

सामंतवाद की चर्चा करने वाले विद्वानों ने इस शब्द के अर्थ का व्यापक रूप में प्रयोग किया है तथा सामंतवाद की मूल परिभाषा को लेकर भी उनमें मतभेद हैं। प्रोफेसर हरबंस मुखिया का मानना है कि वस्तुतः 'सामंत'(feudal) शब्द का प्रयोग मध्यकालीन यूरोप में कानूनी अर्थ में किसी के संपत्तिगत अधिकार को इंगित करने के लिए होता था। वहीं 'सामंतवाद'(feudalism) शब्द का प्रयोग काफी बाद लगभग अठारहवीं सदी में आरंभ हुआ जिसके उद्देश्य छोटे-छोटे राजकुमारों और अधिपतियों के बीच संप्रभुता की साझेदारी को परिभाषित करना था। फ्रांसीसी क्रांति के दौरान इस शब्द का उपयोग पुरानी राजतंत्रीय व्यवस्था (Ancien regime) की आलोचना करने के लिए किया गया, इसके बाद 'सामंतवाद' शब्द का प्रयोग और भी व्यापक

होता गया। अधिकांश इतिहासकारों ने पश्चिमी और मध्य यूरोप में 10 वीं से 12 वीं सदी की राजनीतिक और सामाजिक ढांचे के रूप में सामंतवाद को इस काल की एक महत्वपूर्ण व्यवस्था माना है।

भारत के इतिहास में भी गुप्तोत्तर काल से दिल्ली सल्तनत के निर्माण से पहले के काल की व्यवस्थाओं को परिभाषित करने के लिए इतिहासकारों में मतभेद है और इस इकाई में हम केवल भारत के इतिहास लेखन में भारतीय सामंतवाद को लेकर विद्वानों के मुख्य दृष्टिकोण को प्रस्तुत करेंगे।

यूरोपीय लेखकों ने (Orientalism) पूर्व के प्रति अपने पूर्वाग्रह से ग्रसित विचारधारा के चलते एशियाई सभ्यताओं का पूर्वाग्रही चित्रण विश्व के सामने प्रस्तुत किया, भारत का भी उन्होंने एक धूमिल चित्रण ही प्रस्तुत किया। औपनिवेशिक अधिकारियों अथवा विद्वानों ने भी अपने साम्राज्यवादी शासन को सही प्रमाणित करने के लिए भारत के इतिहास को अंधकारमय युग के रूप में प्रस्तुत किया जहाँ यूरोपीय आधुनिक ज्ञान और व्यवस्थाओं से पहले केवल अव्यवस्था, पिछड़ापन और अपरिवर्तनशील समाज था। भारत के संदर्भ में कर्नल जेम्स टॉड ने राजस्थान के इतिहास संकलन किया और उसमें माना की राजस्थान में भी यूरोपीय सामंतवादी व्यवस्थाएं और संबंध दृष्टिगोचर हैं।

1.4.2 उत्पादन की एशियाई पदाति

भारत समेत एशिया की आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक अवस्था पर कार्ल मार्क्स ने विशेष सैद्धांतिक पक्ष रखने का प्रयास किया। लेकिन उन्होंने भी एशियाई देशों की व्यवस्थाओं को पश्चिमी औपनिवेशीकरण के काल से पहले तक अपरिवर्तनशील रहने की अवधारणा प्रस्तुत की थी, जिसका मुख्य कारण एशिया की एशियाई पद्धति (Asiatic mode of Production) थी। मार्क्स के अनुरूप उत्पादन की यह पद्धति एक अपवाद थी, क्योंकि एशियाई देशों में सभी संपत्ति और भूमि का वास्तविक स्वामी या तो राजन था अथवा वहां भू-संपत्ति व्यक्तिगत अधिकार में न होकर समुदाय की थी। ऐसे समाज में वर्ग संघर्ष संभव नहीं था। इसलिए औपनिवेशिक काल से पहले के समय में उत्पादन व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं आया और भारत भी इस 'अपरिवर्तनशील पूर्व' का हिस्सा था। इस उत्पादन पद्धति के अंतर्गत भारत में निरंकुश शासकों के अधीन गतिहीन अर्थव्यवस्था थी। यहाँ मुख्यता वस्तु उत्पादन बाजार और व्यापार के लिए नहीं किया जाता था, अपितु एशिया की अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान थी जहाँ सीमित आवश्यकता की पूर्ति के लिए ग्राम आत्मनिर्भर थे, इसलिए भारत में एशिया के अन्य क्षेत्रों की तरह बंध-अर्थव्यवस्था (closed economy) उभरी जहाँ मुख्यता व्यापार और मुद्रा विनिमय चलन में नहीं था।

भारतीय इतिहास लेखन के ऊपर राष्ट्रीय संघर्ष का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने भारत के गौरवशाली इतिहास को उभारा, उन्होंने गुप्तोत्तर काल से लेकर दिल्ली सल्तनत के निर्माण से पहले तक के राज्यों को भी केंद्रीय एवं सुसंगठित शक्तिशाली राज्य के रूप में प्रस्तुत किया। वहीं आर्थिक समीक्षा और आलोचनात्मक अध्ययन से मार्क्सवादी इतिहासकारों ने लगभग गुप्तोत्तर काल से मध्यकाल के प्रारंभ के

समय काल को लेकर भारतीय सामंतवाद का अध्ययन प्रस्तुत किया।

भारतीय मार्क्सवादी विद्वानों ने 1950-60 के दशकों में ना सिर्फ भारत के संदर्भ में मार्क्स की अवधारणा (Asiatic mode of Production)की आलोचना की अपितु उसे पूरी तरह से नकारते हुए, भारत के पूर्व-मध्यकाल के समय को वस्तुतः सामंतवादी युग माना है। भारत में सामंतवादी व्यवस्था के पक्षधर विद्वान; भारत में सामंतवाद कैसे पनपा? उसकी चारित्रिक विशेषता क्या थी ? क्या भारत और यूरोपीय सामंतवाद एक समान थे, या भारतीय सामंतवाद उससे भिन्न था? ऐसे प्रश्नों के उत्तर तलाश रहे थे।

1.4.3 भारतीय सामंतवाद की अवधारणा

1956 में अपनी पुस्तक 'एन इंट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री' में डी.डी. कोसाम्बी ने भारत में सामंतवाद के उदय को द्विमार्गी प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत किया। 'ऊर्ध्वगामी' और 'अधोगामी सामंतवाद'। सामंतवाद के उदय में राजा द्वारा अधिकारियों की सेवा और सैन्य शक्ति हेतु उन्हें वेतन की जगह भूमि-अनुदान के साथ-साथ उस भू-क्षेत्र पर विभिन्न अधिकार प्रदान करने से राजा द्वारा स्वयं शक्ति और अधिकारों का विकेंद्रीकरण, क्षेत्रीय अभिजात वर्ग का शक्तिशाली होना तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास को प्रमुख कारक माना गया।

राजा अपने अधीनस्थ सामंतों से नज़राना लेते थे जिसके चलते उन्हें अपने अधिकार क्षेत्रों में राज्य करने की स्वतंत्रता थी। इसे कोसाम्बी 'ऊर्ध्वगामी' सामंतवाद' की प्रक्रिया मानते हैं, यह राजनीतिक निर्णयों का परिणाम था। वहीं आगे चलकर राजा और किसान के मध्य ग्रामीण समाज में बिचौलियों की श्रृंखला उभरी, जो राज्य के लिए किसानों पर बल प्रयोग का जरिया भी थे, सामंतवाद की इस सामाजिक और आर्थिक प्रक्रिया को 'अधोगामी सामंतवाद' की प्रक्रिया मानते हैं।

1964 में अपनी पुस्तक 'इण्डियन फ्यूडलिज़्म' में आर. एस. शर्मा ने सामंतवाद का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करने का प्रयास किया। शर्मा ने हेनरी पिरेंन (Henri Pirenne) की यूरोपीय सामंतवाद की अवधारणा को अपनाया और उसी के आधार पर भारत के सामंतवाद को समझने का प्रयास किया। उनका मानना था की भारत में गुप्त साम्राज्य के पतन के साथ-साथ लंबी दूरी का व्यापार और शहरीकरण अवरुद्ध हो गया, साथ ही मुद्रा विनिमय भी ठप होता गया था, परिणामस्वरूप सामंतवादी व्यवस्था में आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था विकसित होती गई।

राज्य ब्राह्मणों के साथ-साथ अब बड़े अधिकारियों को भी उनकी (सैन्य एवं प्रशासनिक) सेवाओं के भुगतान के लिए भूमि देने लगे थे। इस भूमि पर प्राप्तकर्ता को पूर्ण अधिकार होता था, अपने क्षेत्र एवं निवासियों के ऊपर न्याय एवं प्रशासनिक अधिकार के साथ-साथ प्राप्तकर्ता का क्षेत्रीय स्तर पर सामाजिक एवं आर्थिक दबदबा कायम हो गया था। कृषि प्रधान ग्रामीण व्यवस्था में कृषक भू-सामंतों के अत्यधिक अधीन होते गए और इस बदलते अंतर संबंधों के फलस्वरूप कृषक, कृषक-दास (serfdom) में बदलते गए। आर. एस. शर्मा का

मानना है कि सामंतों के अधीन अत्यधिक शोषण हो रहा था, सामंतों द्वारा लोगों से बलपूर्वक श्रमदान भी लिया जाता था। अतः शर्मा के अनुसार सामंतवाद के अन्तर-संबंधित मुख्य कारक एवं लक्षण थे- भूमि एवं अधिकारों का वितरण, सत्ता का विकेंद्रीकरण, उप-सामंतीकरण, कृषक दास एवं बलपूर्वक श्रम (विष्टि) और नगरों का पतन तथा मुद्रा हासावह मानते हैं कि सामंतवाद का पतन 11वीं सदी में व्यापार और नगरों के पुनरुत्थान के साथ ही संभव हो पाया।

1.4.4 भारतीय सामंतवाद के विपक्ष अवधारणा

1971 में हरबंस मुखिया ने अपने लेख द्वारा भारतीय मार्क्सवादियों की भारतीय सामंतवाद के विचार पर गंभीर प्रश्न खड़े किए। खासकर भारतीय सामंतवाद पर आर.एस.शर्मा के विचारों की उन्होंने कड़ी आलोचना की। उन्होंने पूछा क्या भारत के इतिहास में वास्तविक रूप में कभी सामंतवाद था?

मुखिया सामंतवाद को पूंजीवाद की भांति एक सार्वभौमिक व्यवस्था ना मानते हुए केवल एक क्षेत्रीय व्यवस्था के रूप में देखते हैं, जहाँ उत्पादन अत्यधिक लाभ पर नियंत्रण के लिए नहीं बल्कि उपभोग की प्रवृत्ति से प्रेरित था। इसमें उत्पादन वृद्धि एवं बाज़ार विस्तार द्वारा सार्वभौमिक व्यवस्था के रूप में उभरना संभव नहीं है। मुखिया का मानना है कि अगर सामंतवाद अलग-अलग स्थानों में अलग प्रकार का था तो व्यवस्था के रूप में भी उसकी एक सटीक परिभाषा देना मुश्किल है।

मुखिया के अनुसार भारत में यूरोप की तुलना में खेती साल के अधिक महीनों तक की जाती थी, साथ ही खेती के लिए उर्वरक भूमि तथा कृषि श्रम के लिए जनसंख्या भी यूरोप की तुलना में बहुत अधिक थी। भारत में कूबड़ वाले बैल का उपयोग होता था जिससे अधिक संतुलन के साथ हल का उपयोग होने के कारण खेत जोतने की क्षमता यूरोप की तुलना में अधिक थी। भूमि उत्पादकता की दर भी भारत में अधिक थी, भारत में अधिकांश जगह साल में दो बार खेती की जाती थी।

जैसा दबाव यूरोपीय कृषक समाज पर था वही दबाव भारतीय कृषक समाज पर नहीं था। इसलिए कृषक-दास और कृषि में बलपूर्वक श्रम प्रथा का भारत में उभरना संभव नहीं था। इसके अतिरिक्त भारत में बंधुवा श्रम गैर-उत्पादक कार्यों के लिए अधिक प्रयोग होता था। मुखिया का मानना है कि भारतीय किसानों का श्रम उनके अपने नियंत्रण में था।

हरबंस मुखिया के इस लेख के बाद आर.एस.शर्मा ने 'भारतीय सामंतवाद कितना सामंती था' के रूप में अपने विचारों को पुनः नवीन दृष्टिकोण एवं शोध अध्ययन के साथ प्रस्तुत किया तथा भारतीय सामंतवाद को उन्होंने सामाजिक एवं आर्थिक संकटों के कारण उत्पन्न हुई एक आर्थिक प्रक्रिया के रूप में देखने पर अधिक बल दिया। अपने पुराने तर्कों को संशोधित करते हुए, हाल ही में उन्होंने सामंती समाज के विचारात्मक एवं सांस्कृतिक पहलुओं की ओर अपना ध्यान मोड़ा था। उनके अनुसार सामंती मानसिकता, कला एवं वास्तुशिल्प में पदानुक्रम के तत्व विद्यमान थे तथा सामंती समाज के वैचारिक आधार में स्वामी के प्रति कृतज्ञता एवं निष्ठा दृष्टिगोचर होती है। भारतीय सामंतवाद के पक्षधर कई विद्वानों ने सांस्कृतिक पहलुओं के

माध्यम से भी सामंतवाद का अध्ययन करने का प्रयास आरम्भ किया है। उनके द्वारा भक्ति काल में स्वामी के प्रति अधीनता एवं निष्ठा संबंधित विचारधारा को ब्राह्मणवादी प्रभुत्व के आधार स्तंभ के रूप में देखा गया, उनके अनुसार ईश्वर के प्रति समर्पण और निष्ठा को सामंतों के प्रति मोड़ना कठिन नहीं था।

अपने अध्ययनों में इतिहासकार बी. डी. चट्टोपाध्याय ने इस काल में सम्पूर्ण भारत में सिक्कों की कमी और नगरों के पतन के विचार का खंडन किया है तथा रणवीर चक्रवर्ती ने सामंतवादी काल में भारत में व्यापार के विकसित होने के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, भारत में कौड़ीका मुद्रा के रूप में उपयोग लम्बी दूरी के व्यापार में पूर्व-मध्यकाल में भी होता रहा था। भारतीय मार्क्सवादी इतिहासकारों ने सामंतवादी काल में राज्यों के पतन की बात पर बल दिया था, लेकिन बाद के कई शोधकार्यों के आधार पर विद्वानों ने इसी काल में भारत में नवीन राज्य निर्माण की प्रक्रिया को उजागर किया।

बर्टन स्टीन (Burton Stein) ने अपने दक्षिण भारत के शोधकार्य में भारत के संदर्भ में 'खंडित राज्य' निर्माण की अवधारणा प्रस्तुत की। उनके अनुसार भारत में औपनिवेशिक काल से पहले तक राजन केवल नाम मात्र को स्वामी होता था, वास्तविक रूप में उसकी राजनीतिक संप्रभुता केवल उसके राज्य के मुख्य केंद्रीय क्षेत्र तक सीमित थी, लेकिन राज्य के अधिकांश भू-भाग पर उसकी धार्मिक संप्रभुता कायम थी। राज्य में इसलिए स्थानीय स्वतंत्र इकाई थी जिन्हें अपने प्रशासनिक एवं आर्थिक अधिकार हासिल थे। इस धार्मिक संप्रभुता का निर्माण राजा धार्मिक क्रियाकलापके माध्यम से करता था।

भारतीय सामंतवाद की अवधारणा को चुनौती देते हुए हरमन कुलके और बी. डी. चट्टोपाध्याय ने इस काल को सामंतवादी काल की जगह पूर्व-मध्यकाल कहना अधिक उचित माना है। उनके अनुसार इस समय नए राज्यों का निर्माण की प्रक्रिया भी चल रही थी, जिसे उन्होंने अपने 'समग्र राज्य' के अवधारणा द्वारा प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार इस समय काल में जन-जातियों का मुख्यधारा में आना, कृषि का विस्तार, जातियों का प्रादुर्भाव, राजनीतिक वंशों की उत्पत्ति, धार्मिक (भक्ति) क्षेत्रीय एवं केन्द्रीय संस्कृतियों इत्यादि अनेक प्रक्रियाओं से राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास हो रहा था।

समग्र राज्य की अपनी अवधारणा के अधीन इनका मानना था कि राजा भू-अनुदान द्वारा राज्य का विकेंद्रीकरण नहीं अपितु विस्तार और निर्माण कर रहे थे। भू-अनुदान द्वारा राज्य का भौगोलिक विस्तार हुआ, जनजातियों को मुख्य संस्कृति से जोड़ा गया, कृषि क्षेत्र बड़ा तथा मंदिरों और ब्राह्मणों के माध्यम से राजन अपनी संप्रभुता का निर्माण करता था तथा साथ ही पारस्परिक संस्कृति का निर्माण हुआ। अतः भू-अनुदान द्वारा राज्य अपनी शक्ति, लोकप्रियता और राज्य का विस्तार कर रहा था ना की विकेंद्रीकरण और उप-सामंतीकरण।

1.5 अभ्यास एवं बोध प्रश्न

प्र.1 अग्निकुल अथवा अग्निकुंड के विचार के अनुसार राजपूतों का उदय कैसे हुआ है?

प्र.2 राजपूतों की कितनी जातियों की संख्या का राजतरंगनी में अंकित है?

प्र.3 औपनिवेशिक काल से पूर्व, भारत के संदर्भ में किसने खंडित राज्य की अवधारणा प्रस्तुत की?

प्र.4 भारतीय मार्क्सवादी इतिहासकारों ने कार्लमार्क्स द्वारा भारत और एशिया के संदर्भ में कौन सी उत्पादन पद्धति की अवधारणा को पूर्णता नकारा है?

3.6 सारांश

अंततः हम यह कह सकते हैं कि इतिहास लेखन में पारंपरिक दृष्टिकोणों को निरंतर चुनौती देकर उसका पुनर्निर्माण किया जा रहा है। इतिहास की इस पुनर्निर्माण प्रक्रिया में हमेशा तथ्यों अथवा स्रोतों का अध्ययन विभिन्न विचारधाराओंके साथ-साथ नवीन संकल्पनाओं और विमर्श से जहाँ एक और लगातार जटिल होता रहा है, वहीं इससे हमारी इतिहास को समझने और उसका अवलोकन करने की क्षमता कुशल होती रही है। इतिहास का कालखंडों में वर्गीकरण भले ही अपनी सुविधा के लिए किया गया हो लेकिन यह इतिहास की स्थाई छवि नहीं है। हमारी सबसे बड़ी चुनौती यह है कि हमें इतिहास पढ़ने, लिखने और समझने में पूर्वाग्रहों से बचना होगा और इतिहासकार को तार्किक दृष्टि से सभी प्रकार के मौखिक अथवा लिखित स्रोतों का अवलोकन करना चाहिए।

भारत के इतिहास का वह हिस्सा जिसे अंधकार युग माना गया था, वह अत्यंत क्रियाशील थाराजपूतों की उत्पत्ति और भारतीय सामंतवाद, इन दोनों विषयों के नए अध्ययन से हमें, पूर्व-मध्यकालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक निरंतरता एवं परिवर्तन की प्रक्रियाओं को समझने का मौका मिलता है। जिन्हें कृत्रिम समय सीमा में बांधना मुश्किल है। जहाँ एक और आर्थिक समीक्षा और आलोचनात्मक अध्ययन से मार्क्सवादी इतिहासकार भारत के इतिहास लेखन में भारतीय सामंतवाद की चर्चा करते हैं वहीं उनके द्वारा किए गए अध्ययन को संसोधनवादियों ने लगातार चुनौती प्रदान कर भारतीय सामंतवाद को नाकारा है तथा पूर्व-मध्यकाल को विकासशील माना है।

3.7 विशेष शब्दावली

- क्लैन/Clan: क्लैन की ठीक-ठीक और एक सटीक परिभाषा देना संभव नहीं है, यह व्यक्तियों का वह समूह है जिसका वास्तविक, मिथकों अथवा मान्यताओं के आधार पर मनुष्य या अन्य किसी समान पूर्वज से उत्पत्ति हुई है। इस परम पूर्वज से वह अपना किसी ना किसी प्रकार से रक्त संबंध मानते हैं। कभी-कभी इस समूह के लोग यह मानते हैं, की उनकी उत्पत्ति एक ही स्थान में हुई है।
- ओरिएंटलिज्म/ORIENTALISM: पूर्वी राष्ट्रों के प्रति पश्चिमी लोगों की पूर्वाग्रही, काल्पनिक, अतिरंजित एवं विकृत औपनिवेशिक मानसिकता जिसके द्वारा वह पूर्व की दुनिया को अपने से भिन्न 'अन्य' के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उ.1 अग्निकुल के मिथक के अनुरूप राजपूतों का उत्पत्ति विशेष परियोजन हेतु यज्ञ अग्नि से हुआ है।

उ.2 राजतरंगिणी में राजपूतों जातियों की संख्या 36 अंकित की गई है।

उ.3 बर्टन स्टीन।

उ.4 एशिया की एशियाई पद्धति (Asiatic mode of Production)

3.9 अध्ययन सामग्री

- B.D. Chattopadhyaya, *The Making of Early Medieval India*, Oxford University Press, 1997
- R.S. Sharma, *Indian Feudalism: C.300-1200*, 1963
- D.H.A. Kolff, *Naukar, Rajput and Sepoy, The Ethnohistory of military Labour Market in Hindustan 1450-1850*, Cambridge University Press, 2002
- Upender Singh, *A History of Ancient and Early Medieval India from Stone Age to the 12th Century*, Pearson, Delhi, 2008
- Norman P. Ziegler, *Marwari Historical Chronicles Sources for Social and Cultural History of Rajasthan*, The Indian Economic and Social History Review, 1976 also see Some Notes on Rajput Loyalties during the Medieval Period by Norman P. Ziegler in J.F Richards (ed) *Kingship and Authority in south Asia, Madison: South Asian studies, 1978*,
- Nihar Ranjan Ray, Origin of the Rajputs (A) The Nationality of the Gujars, Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. 12, No.2 (1931) also see URL: <http://www.jstor.org/stable/41688201>
- Herman Kulke, Fragmentation and Segmentation Versus Integration? Reflections on the Concepts of Indian Feudalism and the Segmentary State in Indian History, Studies in History, Vol.iv, No.2, 1982
- Harbans Mukhia, *The Feudalism Debate in India*, Manohar, 1999
- हरबंस मुखिया, सामंतवाद पर विभिन्न दृष्टिकोण, अध्याय 20, 2018,
- भारतीय इतिहास में सामंतवाद विभिन्न दृष्टिकोण, अध्याय 10. इज्ञानकोष, इग्नू, 2018, (<http://egyankosh.ac.in>)

3.10 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री

- Burton Stein, *Peasant, State and Society in Medieval South India*, 1980
- J.N Asopa, *Origin of Rajputs*, Delhi, 1976

- C.V. Vaidya, *History of Medieval Hindu India and Early History of Rajputs* (750 to 1000 AD), Poona, 1924
 - D. Sharma, *Rajasthan Through Ages*, Bikaner, 1996
 - James Tod, *Annals and Antiquities of Rajasthan*, ed William Crooke, (1920)
 - Satish Chandra, *The History of Medieval India*,
 - Irfan Habib, *Agrarian System of the Mughal India 1556-1707*. Also see '*The social Distribution of Landed Property in Pre-British India: A Historical Survey*' in R.S. Sharma ed; *Indian Society: Historical Probings*;1974
-

3.11 निबंधात्मक प्रश्न

प्र(1) राजपूतों की उत्पत्ति के संदर्भ में विभिन्न विचारों की चर्चा करते हुए उनकी उत्पत्ति की वैज्ञानिक परिकल्पना पर टिप्पणी करें ?

प्र(2) पूर्व-मध्यकाल अथवा भारतीय सामंतवाद के संदर्भ में इतिहासकारों के विभिन्न विचारों का विश्लेषण करें ?

ब्लॉक एक

इकाई दो : हर्षोत्तर उत्तर भारत की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 राजनीतिक स्थिति
- 2.4 कन्नौज के लिए त्रिपक्षीय संघर्ष
- 2.5 उत्तरी भारत के अन्य क्षेत्रीय राज्यों का उदय
 - 2.5.1 चाहमान या चौहान वंश
 - 2.5.2 चन्देल वंश
 - 2.5.3 परमार वंश
- 2.6 सामाजिक स्थिति
 - 2.6.1 सामन्तवाद का विकास
 - 2.6.2 कठोर वर्ण व्यवस्था
 - 2.6.3 नवीन वर्ग कायस्थ का उदय
 - 2.6.4 वैश्य वर्ण का पतन तथा शूद्र वर्ण का उत्थान
 - 2.6.5 अंतर्जातीय विवाह
 - 2.6.6 अस्पृश्यता
 - 2.6.7 स्त्रियों की दशा
 - 2.6.8 दास प्रथा
- 2.7 धार्मिक स्थिति
 - 2.7.1 वैष्णव सम्प्रदाय
 - 2.7.2 शैव सम्प्रदाय
 - 2.7.3 शाक्त सम्प्रदाय
 - 2.7.4 गणेश सम्प्रदाय
 - 2.7.5 सूर्य पूजा
 - 2.7.6 तांत्रिक सम्प्रदाय
 - 2.7.7 बौद्ध धर्म
 - 2.7.8 जैन धर्म
- 2.8 सारांश
- 2.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 2.10 सन्दर्भ-ग्रन्थ

2.1 प्रस्तावना

गुप्तों के पश्चात् भारत अनेक क्षेत्रीय शक्तियों में विभाजित हो गया और इन शक्तियों के मध्य संघर्ष प्रारम्भ हो गया। ऐसे समय में थानेश्वर में एक नये वंश का उत्कर्ष हुआ। जिसने भारतीय सभ्यता और संस्कृति को नष्ट करने वाले हूणों से देश की रक्षा कर भारत को पुनः राजनैतिक एकता के सूत्र में बाँधने में सफलता प्राप्त की। यह वंश थानेश्वर के वर्धन वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिसका सबसे प्रतापी सम्राट हर्षवर्धन था। हर्षवर्धन (606 ई0-647 ई0) की मृत्यु के पश्चात् उत्तर भारत में राजनैतिक विकेन्द्रीकरण एवं विभाजन की शक्तियाँ एक बार पुनः सक्रिय हो गयीं। सामान्यतः यह काल पारस्परिक संघर्ष तथा प्रतिद्वन्द्विता का काल था। हर्ष के पश्चात् उत्तर भारत की राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र बिन्दु कन्नौज बन गया। जिस पर अधिकार करने के लिए त्रिपक्षीय शक्तियों के मध्य संघर्ष के पश्चात् भारत अनेक छोटे-छोटे क्षेत्रीय राज्यों में बंट कर रह गया।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे कि

- उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति एवं कन्नौज के लिए त्रिपक्षीय संघर्ष (पाल, प्रतिहार और राष्ट्रकूट)
- उत्तर भारत के नए क्षेत्रीय शक्तियों का उदय।
- हर्ष के बाद उत्तर भारत की सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति।
- भारत का विकेन्द्रीकरण एवं सामन्तवाद का उदय।
- हर्षोत्तर काल में भारत की सांस्कृतिक स्थिति।

2.3 राजनीतिक स्थिति

कन्नौज के शासक हर्ष की मृत्यु के बाद लगभग 75 वर्षों तक का कन्नौज का इतिहास अंधकारमय है। यशोवर्मन ने सम्भवतः 700 ईसवी से 740 ईसवी तक शासन किया। सोन घाटी से विंध्य पर्वत होते हुए मगध शासक पर चढ़ाई कर उसे मार गिराया। तत्पश्चात् बंग लोगों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इसके उपरांत यशोवर्मन ने दक्षिण के राजा को परास्त कर मलमगिरी को पार किया। यहाँ पारसीकों पर चढ़ाई करके उन्हें युद्ध में पराजित किया। तत्पश्चात् हिमालय क्षेत्र की विजय की। यशोवर्मन शैव मतानुयायी था। उसका उत्थान और पतन उल्का की भाँति रहा। उसके पश्चात् कन्नौज में आयुध नामधारी राजाओं का शासन रहा। इनमें वज्रायुध, इन्द्रयुध तथा चक्रायुध के नाम मिलते हैं। ये सभी अन्यन्त निर्बल शासक थे।

2.4 कन्नौज के लिए त्रिपक्षीय संघर्ष (पाल, प्रतिहार और राष्ट्रकूट)

हर्ष के पश्चात् कन्नौज विभिन्न शक्तियों के आकर्षण का केन्द्र बन गया। इसे वही स्थान प्राप्त हुआ जो गुप्तयुग तक मगध का था। उत्तर भारत का चक्रवर्ती शासक बनने के लिये कन्नौज पर अधिकार करना आवश्यक समझा जाने लगा। राजनैतिक महत्व होने के साथ-साथ कन्नौज नगर का आर्थिक महत्व भी काफी बढ़ गया तथा यह भी इसके प्रति आकर्षण का महत्वपूर्ण कारण सिद्ध हुआ था। व्यापार-वाणिज्य की दृष्टि से भी यह नगर काफी महत्वपूर्ण था क्योंकि

यहाँ से विभिन्न दिशाओं को व्यापारिक मार्ग जाते थे। जिस प्रकार पूर्वकाल में मगध उत्तरारपथ के व्यापारिक मार्ग को नियंत्रित करता था उसी प्रकार की स्थिति कन्नौज ने भी प्राप्त कर ली। अतः इस पर अधिकार करने के लिए आठवीं शताब्दी की तीन बड़ी शक्तियों- पाल, गुर्जर-प्रतिहार तथा राष्ट्रकूट- के बीच त्रिपक्षीय संघर्ष प्रारम्भ हो गया जो आठवीं-नवीं शताब्दी के उत्तर भारत के इतिहास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है।

आठवीं शताब्दी के अन्त में गुर्जर-प्रतिहार नरेश वत्सराज (780-805 ई0) राजपूताना और मध्य भारत के विशाल भू-भाग पर शासन करता था। बंगाल के पालों का एक शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित हुआ। वत्सराज का पाल प्रतिद्वन्दी धर्मपाल (770-810 ई0) था। वत्सराज और धर्मपाल का समकालीन राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव (780-793 ई0) था। वह भी दक्षिण भारत में अपना राज्य सुदृढ़ कर लेने के पश्चात् राजधानी कन्नौज पर अधिकार करना चाहता था। अतः कन्नौज पर आधिपत्य के लिए प्रथम संघर्ष वत्सराज, धर्मपाल तथा ध्रुव के बीच हुआ।

सर्वप्रथम कन्नौज पर वत्सराज तथा धर्मपाल ने अधिकार करने की चेष्टा के परिणामस्वरूप दोनों में गंगा-यमुना के दोआब में युद्ध हुआ। युद्ध में धर्मपाल की पराजय हुई। इसका उल्लेख राष्ट्रकूट शासक गोविन्द तृतीय के राधनपुर लेख (808 ई0) में हुआ है जिसके अनुसार 'मदान्ध वत्सराज ने गौड़राज की राजलक्ष्मी को आसानी से हस्तगत कर उसके दो राजछत्रों को छीन लिया'। इस प्रकार वत्सराज ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया तथा वहाँ का शासक इन्द्रायुध उसकी अधीनता स्वीकार करने लगा। इसी समय राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव ने विन्ध्यपर्वत पार कर वत्सराज पर आक्रमण किया। वत्सराज बुरी तरह परास्त हुआ तथा वह राजपूताना के रेगिस्तान के रेगिस्तान की ओर भाग खड़ा हुआ। राधनपुर लेख में कहा गया है कि उसने वत्सराज के यश के साथ ही उन दोनों राजछत्रों को भी छीन लिया जिन्हें उसने गौड़नरेश से लिया था। ध्रुव ने पूर्व की ओर बढ़कर धर्मपाल को भी पराजित कर दिया। संजन लेख के अनुसार उसने 'गंगा-यमुना' के बीच भागते हुए गौड़राज की लक्ष्मी के लीलारविन्दों और श्वेतछत्रों को छीन लिया। परन्तु इन विजयों के पश्चात् ध्रुव दक्षिण भारत लौट गया जहाँ 793 ईसवी में उसकी मृत्यु हो गयी।

ध्रुव के उत्तर भारत के राजनीतिक दृश्य से ओझल होने के बाद पालों तथा गुर्जर-प्रतिहारों में पुनः संघर्ष प्रारम्भ हो गया। इस समय पालों का पलड़ा भारी था। खालीमपुर अभिलेख में वर्णन मिलता है कि धर्मपाल ने कान्यकुब्ज के राजा का अभिषेक किया। इसे भोज, मत्स्य, मद्र, कुरू, यदु, यवन, अवन्ति, गन्धार तथा कौर के राजाओं ने अपना मस्तक झुकाकर धन्यवाद देते हुये स्वीकार किया था। इस विवरण से स्पष्ट है कि कन्नौज के राजदरबार में उपस्थित उक्त सभी शासक धर्मपाल की अधीनता स्वीकार करते थे। परन्तु उसकी विजयें स्थायी नहीं हुईं। गुर्जर-प्रतिहार वंश की सत्ता को जीता तथा कन्नौज पर आक्रमण कर चक्रायुध को वहाँ से निकाल दिया। नागभट्ट कन्नौज को जीतने मात्र से संतुष्ट नहीं हुआ, अपितु उसने धर्मपाल के विरुद्ध भी प्रस्थान कर दिया। मुंगेर में काव्यात्मक विवरण इस प्रकार प्रस्तुत करता है- 'बंगनरेश अपने गजों, अश्वों एवं रथों के साथ घने बादलों के अन्धकार की भाँति आगे बढ़कर उपस्थित हुआ किन्तु त्रिलोकों को प्रसन्न करने वाले नागभट्ट ने उदयमान सूर्य की भाँति उस अन्धकार को काट डाला। इस विवरण से स्पष्ट है कि युद्ध में धर्मपाल की पराजय हुई। भयभीत पालनरेश ने राष्ट्रकूट शासक गोविन्द तृतीय (793-814 ई0) से सहायता माँग नागभट्ट पर आक्रमण किया। संजन ताम्रपत्र से पत चलता है कि उसने नागभट्ट द्वितीय को पराजित किया तथा मालवा पर अधिकार कर लिया। धर्मपाल तथा चक्रायुध ने स्वतः उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। गोविन्द आगे

बढ़ता हुआ हिमालय तक जा पहुँचा परन्तु वह उत्तर में अधिक दिनों तक नहीं ठहर सका। उसकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर दक्षिण के राजाओं ने उसके विरुद्ध एक संघ बनाया जिसके फलस्वरूप उसे शीघ्र ही अपने गृह-राज्य वापस आना पड़ा।

भोज प्रथम के बाद उसका पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम शासक हुआ जिसने 910 ई० तक शासन किया। बिहार तथा उत्तरी बंगाल के कई स्थानों से उसके लेख मिलते हैं जिनमें उसे 'परमभद्रारकपरमेश्वरमहाराजाधिराजमहेन्द्रपाल' कहा गया है। इनसे स्पष्ट है कि मगध तथा उत्तरी बंगाल के प्रदेश भी पालों से गुर्जर-प्रतिहारों ने जीत लिया। इन प्रदेशों के मिल जाने से प्रतिहार-साम्राज्य अपने उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँच गया।

इस प्रकार साम्राज्य के लिए नवीं शताब्दी की तीन प्रमुख शक्तियाँ-गुर्जर-प्रतिहार, पाल तथा राष्ट्रकूट-में जो त्रिपक्षीय संघर्ष प्रारम्भ हुआ था, उसकी समाप्ति हुई। देवपाल की मृत्यु के बाद पाल उत्तरी भारत की राजनीति में ओझल हो गये तथा प्रबल शक्ति के रूप में उनकी गणना न रही। अन्तोगत्वा प्रतिहारों की सफलता के साथ युद्ध समाप्त हुआ। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रतिहार शासक महिपाल प्रथम (912-943 ई०) के समय में राष्ट्रकूट राजाओं इन्द्र तृतीय तथा कृष्ण तृतीय ने कन्नौज नगर पर आक्रमण किया तथा थोड़े समय के लिए प्रतिहारों के अधिकार को चलायमान कर दिया। किन्तु राष्ट्रकूटों की सफलता क्षणिक रही और उनके हटने के बाद वहाँ प्रतिहारों का अधिकार पुनः सुदृढ़ हो गया। अब प्रतिहारों की गणना उत्तर भारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में होने लगी।

2.5 उत्तरी भारत के अन्य क्षेत्रीय राज्यों का उदय

दसवीं शताब्दी के मध्य एक प्रतिहार वंश की शक्ति लगभग पूर्ण रूप से क्षीण हो चुकी थी। पश्चिमी भारत एवं मध्य देश के इस शक्तिशाली साम्राज्य के अवशेषों पर एक नहीं अपितु अनेक शक्तियों का उदय हुआ। जो प्रतिहारों की सामन्त रह चुकी थी। परमार चौहान (चाहमान), चंदेल, चालुक्य एवं गहड़वाल ऐसी ही शक्तियाँ थी जब महमूद गजनवी एवं मौहम्मद गौरी के आक्रमण हो रहे थे और भारत में तुर्की राज्य की स्थापना की प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी थी। तब उत्तरी भारत में इन्हीं राजनीतिक शक्तियों का बोलबाला था।

2.5.1 चाहमान या चौहान वंश

इस वंश का उदय शाकंभरी (साम्भर अजमेर के आस-पास का क्षेत्र) में हुआ। चाहमान वंश के प्रारम्भिक राजाओं में वासुदेव और गूवक के नाम उल्लेखनीय हैं। इस वंश का सर्वप्रथम लेख वि०सं० 1030-973 ई० का दुर्लभ हर्षलेख है, जिसमें गूवक प्रथम तक वंशावली दी गई है। दूसरा प्रसिद्ध लेख बिजौलिया शिलालेख-पूरी वंशावली देता है।

चाहमानों की शक्ति का विशेष विकास अर्णोराज के पुत्र चतुर्थ विग्रहराज बीसलदेव (1153-1164 ई०) के समय हुआ। उसने सबसे बड़ा कार्य मध्य देश से मुसलमान आक्रमणकारियों को समाप्त करके किया जो पंजाब को जीतने के बाद धीरे-धीरे मध्य देश में आकर बस गये थे। गहड़वाल भी उसके हाथों पराजित हुए। बीसलदेव के पुत्र अपर गांगेय को बीसल के ही भतीजे पृथ्वीराज द्वितीय ने राज्य का मौका नहीं दिया। पृथ्वीराज का उत्तराधिकारी बीसल का छोटा भाई सोमेश्वर हुआ।

सोमेश्वर का पुत्र और उत्तराधिकारी चाहमान वंश का सबसे प्रसिद्ध और अंतिम शक्तिमान राजा पृथ्वीराज तृतीय (1179-1193 ई०) था। इसके राजकवि चंद्रबरदाई ने पृथ्वीराज रासो नामक अपभ्रंश महाकाव्य और जयनिक ने पृथ्वीराज वियज नामक संस्कृत काव्य की रचना की। लगभग 1182 ई० में उसने उत्तर भारत के प्रसिद्ध राजा परमर्दिदेव चंदेल को पराजित किया। बीसलदेव के काल से ही चाहमानों और गहड़वालों की प्रतिद्वंद्विता चल रही थी। दुर्भाग्य से यह आंतरिक कलह उस समय चल रही थी जब भारत के द्वार पर मुहम्मद गौरी दस्तक दे रहा था। यद्यपि वह एक बार पृथ्वीराज के हाथों पराजित हो चुका था, किन्तु 1193 ई० में तराईन के द्वितीय युद्ध में गौरी बदला लेने में सफल हुआ। अजमेर और दिल्ली दोनों ही तुर्कों के हाथ लगे। चाहमान सत्ता को नष्ट होने में देर नहीं लगी।

2.5.2 चंदेल वंश

जहाँ वर्तमान बुंदेलखंड पर चंदेलों की राजनीतिक शक्ति का उदय हुआ। खजुराहों उनकी राजधानी थी। इस वंश का सर्वप्रथम राजा नन्नक हुआ। हर्षदेव (905-925 ई०) के समय से चंदेलों की शक्ति जोरों से बढ़नी शुरू हुई। उसके पुत्र यशोवर्मन ने मालवा, चेदि और महाकोसल पर आक्रमण करके अपने राज्य का पर्याप्त विस्तार कर लिया और व्यवहार में वह प्रतिहारों से बिल्कुल स्वतंत्र हो गया, यद्यपि वह उनका नाममात्र का आधिपत्य स्वीकार करता था।

यशोवर्मन का पुत्र (950-1008 ई०) बड़ा प्रतापी और विजयी सिद्ध हुआ। प्रतिहारों से पूर्ण स्वतंत्रता का वास्तविक श्रेय उसी को दिया जाता है। धंग की विजयों के फलस्वरूप उसका राज्य पश्चिम में ग्वालियर, पूर्व में वाराणसी और उत्तर में यमुना तट तक तथा दक्षिण में चेदि और मालवा की सीमा तक फैल गया। शाही राजा जयपाल ने तुर्कों का प्रतिरोध करने के लिए जो संघ बनाया था, उसमें धंग ने सक्रिय भाग लिया। धंग के बाद उसका पुत्र गंड राजा हुआ। उसने भी 1008 ई० में महमूद गजनवी का सामना करने के लिए जयपाल के पुत्र आनंदपाल द्वारा बनाए हुए संघ में भाग लिया। दुर्भाग्य से यह दूसरा संघ भी पराजित हुआ। विद्याधर ने भोज परमार और कलचुरि गांगेय की सहायता से तुर्कों को मध्य देश से निकालने का प्रयास किया।

चंदेल वंश का अंतिम शक्तिशाली राजा परमर्दि अथवा परमल था। इसके समय में अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज ने आक्रमण किया। 1203 ई० में गहड़वालों की शक्ति नष्ट हो जाने के बाद जब कुतुबुद्दीन ऐबक ने कालिंजर पर आक्रमण किया तब परमर्दि ने उसका घोर विरोध किया, किन्तु अंत में उसे हार का समाना करना पड़ा।

2.5.3 परमार वंश

दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब प्रतिहारों का आधिपत्य मालवा में नष्ट हो गया, तब वहाँ पर परमार शक्ति का उदय हुआ। इस वंश का प्रथम स्वतंत्र एवं शक्तिमान राजा सीयक या श्रीहर्ष था। राष्ट्रकूटों से इसका संघर्ष हुआ और खोट्टिग को हराकर सीयक ने विपुल सम्पत्ति लूटी। वास्तव में मालवा में परमारों की शक्ति का उत्कर्ष वाकपति मुंज (972-994 ई०) के समय में प्रारम्भ हुआ। उसकी सबसे प्रसिद्ध विजय कल्याणी के चालुक्य राजा तैलप द्वितीय पर थी।

भोज (1000-1055 ई०) इस वंश का सबसे लोकप्रसिद्ध राजा हुआ। उदयपुर प्रशस्ति के अनुसार उसने अनेक भारतीय राजाओं, विशेषकर चेदि के इंद्रनाथ, गुजरात के प्रथम जोगल और भीम, लाट और कर्णाट के राजाओं, गुर्जर और तुरुष्कों से युद्ध किए। अपने चाचा (वाकपति मुंज) की मृत्यु का बदला लेने के लिए उसने कल्याणी के चालुक्य राजा विक्रमादित्य चतुर्थ को परास्त किया। किन्तु जयसिंह द्वितीय ने उसे शीघ्र हरा दिया और 'मालवा संघ' तोड़ दिया।

इसके बाद भोज ने कलचुरि राजा गांगेयदेव को हराया। किन्तु चंदेल राजा विद्याधर के साथ युद्ध में मालवा नरेश को मुँह की खानी पड़ी। अंत में भोज के दो पुराने शत्रु-गुजरात के सोलंकीयों और त्रिपुरा के कलचुरियों ने परस्पर मैत्री कर एक साथ मालवा पर आक्रमण किया और उन्होंने भोज की राजधानी धारा को खूब लूटा।

इन बड़े राज्यों के अतिरिक्त हर्ष के बाद ही उत्तरी भारत में अनेक छोटे-क्षेत्रीय राज्य थे, गहड़वाल (कन्नौज में ही-प्रतिहारों की शक्ति क्षीण होने पर) त्रिपुरी (आधुनिक जबलपुर के निकट) में कलचुरि, पंजाब, कश्मीर, नेपाल, उड़ीसा आदि के राजवंश।

2.6 सामाजिक स्थिति

प्राचीन भारत के इतिहास में आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी का काल सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। इस काल में सामाजिक परिवर्तनों के पीछे कुछ आर्थिक घटनाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा जिन्होंने प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के प्रति लोगों का दृष्टिकोण बदल दिया।

भारत के इतिहास में हर्ष की मृत्यु के बाद से लेकर राजपूत वंशों के शासन तक (650-1200 ई0) का काल सामान्य तौर से पूर्व मध्य युग कहा जाता है। इसके प्रथम चरण (650-1000 ई0) को आर्थिक दृष्टि से पतन का काल निरूपित किया गया है। इस काल में व्यापार तथा वाणिज्य का हास हुआ। रोम साम्राज्य के पतन हो जाने के कारण पश्चिमी देशों के साथ भारत का व्यापार बन्द हो जाने तथा इस्लाम के उदय के कारण भी भारत का स्थल मार्ग से होने वाला व्यापार प्रभावित हुआ। इस काल में स्वर्ण मुद्राओं का अभाव दृष्टिगोचर होता है। व्यापार-वाणिज्य के पतन के कारण व्यापारी तथा कारीगर एक ही स्थान पर रहने के लिये मजबूर हुए तथा उनका एक स्थान से दूसरे स्थान में आना-जाना बन्द हो गया। इस प्रकार इस काल की अर्थव्यवस्था अवरूद्ध हो गयी। भारत में मुस्लिम सत्ता स्थापित हो जाने के बाद से मुसलमान व्यापारियों तथा सौदागरों की गतिविधियाँ तेज हुईं, जिसके फलस्वरूप उत्तरी भारत में व्यापार-वाणिज्य की प्रगति हुई। बारहवीं सदी तक आते-आते देश आर्थिक दृष्टि से पुनः सुदृढ़ हो गया।

2.6.1 सामन्तवाद का विकास

यह समाज का सबसे शक्तिशाली वर्ग था। यद्यपि भारत में हमें सामन्तवाद का अंकुरण शक-कुषाण काल में ही दिखाई देने लगता है तथापि इसका पूर्ण विकास पूर्व मध्य काल में ही हुआ। इस काल में राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों ने सामन्तवाद के विकास के लिये उपयुक्त आधार प्रदान किया। बाह्य आक्रमणों के कारण केन्द्रीय सत्ता निर्बल पड़ गयी तथा चारों ओर राजनीतिक अराजकता एवं अव्यवस्था फैल गयी। केन्द्रीय शक्ति की निर्बलता ने समाज में प्रभावशाली व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग तैयार किया, जिसके ऊपर स्थानीय सुरक्षा का भार आ पड़ा।

सामन्तवाद के विकास में प्राचीन भारतीय धर्मविजय की अवधारणा का भी योगदान रहा। कालान्तर में शासकों की विजय का उद्देश्य अधिक से अधिक अधीन शासक तैयार कर उनसे करवाना हो गया। इस प्रवृत्ति ने भी सामन्तवाद को प्रोत्साहित किया।

सामन्तवाद को विकसित करने में आर्थिक कारक भी सहायक सिद्ध हुए। राजनीतिक अव्यवस्था में व्यापार-वाणिज्य का पतन हुआ। जिससे अर्थव्यवस्था मुख्यतः भूमि और कृषि पर निर्भर हो गयी। बड़े-बड़े भूस्वामी आर्थिक स्रोतों के केन्द्र बन गये। समाज में भूसम्पन्न कुलीन वर्ग का अविभावं हुआ। समाज के बहुसंख्यक शूद्र तथा श्रमिक जीविका के लिये उनकी ओर उन्मुख हुए। भूमिपतियों को अपने खेतों पर कार्य करने के लिये बड़ी संख्या में श्रमिकों की आवश्यकता थी। आर्थिक परिवर्तन की इस प्रक्रिया ने सामन्तवाद के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

राजाओं द्वारा अपने कुल के व्यक्तियों तथा सम्बन्धियों को विभिन्न प्रान्तों में उपराजा अथवा राज्यपाल नियुक्त करने की प्रथा से भी सामन्तवाद की जड़ें मजबूत हुईं। राजकुमारों के साथ-साथ प्रशासन के मंत्रियों तथा अन्य उच्च पदाधिकारियों को भी जागीरें दी गयीं। पूर्व मध्यकाल में यह एक सर्वमान्य प्रथा हो गई। सामन्तों की विभिन्न श्रेणियां थीं। कुछ बड़े सामन्त अपने अधीन कई छोटे सामन्त रखते थे। वे अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रों में राजाओं जैसी सुख-सुविधाओं का ही उपभोग करते थे।

इस प्रकार समाज में ऐसे लोगो की संख्या बढ़ती गयी जिन्हें भूमि से दूसरे के श्रम पर पर्याप्त आय प्राप्त होने लगी। राजपूत-काल में सामन्तों के छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये जो अपनी शक्ति और प्रभाव बढ़ाने के लिये परस्पर संघर्ष में उलझ गये। इन्होंने व्यापार-वाणिज्य को हतोत्साहित किया तथा आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया। सामन्त तथा उसके अधीनस्थों के अपने-अपने क्षेत्रों में ही व्यस्त और मस्त रहने के कारण प्रबल स्थानीकरण की भावना का विकास हुआ तथा सामाजिक गतिशीलता अवरूद्ध हो गयी।

प्रो० यादव के अनुसार इस काल में हम सामाजिक स्तरीयकरण की दो प्रवृत्तियों को साथ-साथ चलते हुए पाते हैं। जहाँ एक ओर समाज के उच्च तथा कुलीन वर्ग द्वारा वर्ण नियमों को कठोरतापूर्वक लागू करने का प्रयास किया गया वहीं दूसरी ओर इस युग के व्यवस्थाकारों ने विभिन्न जातियों एवं वर्गों के मिश्रण से बने हुए, शासक एवं सामन्त वर्ग को वर्णव्यवस्था में समाहित कर आदर्श एवं यथार्थ के बीच समन्वय स्थापित करने का कार्य भी किया। सामन्तवादी प्रवृत्तियों के विकास के साथ-साथ भू-सम्पत्ति, सामरिक गुण, राजाधिकार आदि सामाजिक स्थिति एवं प्रतिष्ठा के प्रमुख आधार बन गये। समाज के प्रथम दो वर्ण (ब्राह्मण तथा क्षत्रिय) एक दूसरे के निकट आ गये। इसी प्रकार अन्तिम दो वर्गों (वैश्य तथा शूद्र) में भी सन्निकटता आई। इस प्रकार पूर्वमध्यकालीन समाज दो भागों में विभाजित हो गया। प्रथम भाग में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय तथा द्वितीय में वैश्य एवं शूद्र समाहित हो गये। दोनों का अन्तर काफी बढ़ गया। समाज का यह द्विभागीकरण इस काल में पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सुस्पष्ट हो गया।

2.6.2 कठोर वर्ण व्यवस्था

आठवीं शताब्दी से समाज पर इस्लाम धर्म का प्रभाव परिलक्षित होने लगा। इसके सामाजिक समानता के सिद्धान्त ने परम्परागत चातुर्वर्ण व्यवस्था को गम्भीर चुनौती दी जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू समाज में रूढ़िवादिता की वृद्धि हुई। समाज में शुद्धता बनाये रखने के उद्देश्य से विवाह, खान-पान तथा स्पृश्यता के नियम अत्यन्त कड़े कर दिये गये। अन्तर्जातीय खान-पान पर भी प्रतिबन्ध लग गया। ब्राह्मणों के लिये अन्य वर्गों के यहाँ भोजन करना (आपात काल को छोड़कर) निषिद्ध कर दिया गया। इस प्रकार समाज में शौचाचार की भावना प्रबल हो गयी। ब्राह्मणों के कुछ

वर्ण इतने अधिक रूढ़िवादी थे कि जो ब्राह्मण, जैन आदि वैदिकेतर धर्मों को स्वीकार कर लेते थे उन्हें भी वे कुजात समझते थे। कलिवर्ज्य का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया जिसके अन्तर्गत विदेश यात्रा करने तथा विदेशियों से सम्पर्क स्थापित करने पर रोक लगा दी गयी। विभिन्न जातियों तथा उपजातियों की उत्पत्ति के कारण सामाजिक व्यवस्था अत्यन्त जटिल हो गयी।

इस समय भी समाज में ऐसे लोग थे जिन्होंने जाति-प्रथा की रूढ़ियों को मान्यता देने से इन्कार कर दिया। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के जैन आचार्यों, शाक्त-तांत्रिक सम्प्रदायों तथा चार्वाकों ने जाति-प्रथा उसके प्रतिबन्धों का विरोध करते हुए कर्म की महत्ता का प्रतिपादन किया। जैन आचार्य अमितगति (ग्यारहवीं शताब्दी) ने यह प्रतिपादित किया कि जाति का निर्धारण आचरण से होता है, जन्म या वंश से नहीं। बौद्ध ग्रन्थ लटकमेलक में भी जाति-पाति एवं छुआछुत की निन्दा की गयी है।

सामाजिक परिवेश में हुए परिवर्तन के कारण पूर्व मध्ययुग में परम्परागत वर्णों के कर्तव्यों को भी नये सिरे से निर्धारित किया गया। प्रथम बार पराशर स्मृति (600-902 ई०) में कृषि को ब्राह्मण वर्ण की वृत्ति बताया गया है। अभी तक के शासकारों ने केवल आपत्तिग्रस्त ब्राह्मणों के लिए कृषि विधान किया था। इसके टीकाकार माधवाचार्य (1300-1380 ई०) ने बताया है कि कलियुग में आपद्धर्म ही सामान्य धर्म बन जाता है। इससे पता चलता है कि पूर्व मध्यकाल में अधिकांश ब्राह्मणों ने कृषि करना या कराना प्रारम्भ कर दिया था। भूमिदानग्राही कुलीन ब्राह्मण शूद्रों के द्वारा कृषि करवाते थे। क्षत्रिय वर्ण इस समय दो भागों में बँट गया। पहला शासक वर्ग तथा जागीरदार वर्ग था जबकि दूसरे में सामान्य क्षत्रिय थे। पराशर ने कृषि को सामान्य क्षत्रिय की भी वृत्ति बताया है। वृहद्धर्म पुराण में ब्राह्मणों की पूजा को क्षत्रिय के प्रमुख कर्तव्यों में रखा गया है। जहाँ तक वैश्य तथा शूद्र वर्णों का प्रश्न है, इस काल में हम दोनों के कार्यों में समानता पाते हैं। पराशर ने 'कृषि, वाणिज्य तथा शिल्प' को दोनों का व्यवसाय बताया है। यह उल्लेखनीय है कि 'कृषि' को सभी वर्णों का सामान्य धर्म माना गया है। यह समाज के बढ़ते हुए कृषिमूलक स्वरूप का सूचक है जो सामन्तवाद के प्रतिष्ठित होने के कारण पूर्व मध्यकाल में अत्यधिक स्पष्ट हो गया था।

2.6. 3 नवीन वर्ग कायस्थ का उदय

एक जाति के रूप में कायस्थों का आविर्भाव एक महत्वपूर्ण सामाजिक घटना है। कायस्थों का सर्वप्रथम उल्लेख याज्ञवल्क्य स्मृति में है। यह हिसाब-किताब रखते थे और पद का अनुचित लाभ उठाकर प्रजा पर अत्याचार करते थे। कौन सी भूमि कर मुक्त है, किससे कौन-से कर लिए जाने हैं, किस वर्ग से विष्टि लेनी चाहिए-भूमि तथा राजस्व सम्बन्धी इन सभी कार्यों का हिसाब-किताब या दस्तावेज कायस्थों को ही रखने पड़ते थे। फलतः कायस्थों की संख्या में वृद्धि हुई। न्यायाधिकरण में न्याय-निर्णय लिखने का कार्य 'करणिक' करते थे। ये लेखक, गणक या दस्तावेज रखने वाले अनेक नामों से पुकारे जाते थे, जैसे कायस्थ, करणिक, पुस्तपाल, अक्षपाटलिक, दीविर, लेखक इत्यादि। किन्तु कलांतर में ये सभी कायस्थ वर्ग में समाविष्ट हो गए।

धीरे-धीरे कायस्थों ने मूल वर्णों से सम्बन्ध तोड़ दिया और एक नया वर्ग बना लिया जिसका सामाजिक सम्पर्क, खान-पान, शादी-विवाह आदि अपने ही वर्ग तक सीमित रह गया। पैतृकता तथा खान-पान सम्बन्धी

सामाजिक सम्पर्कों के आधार पर कायस्थों की एक पृथक् जाति बन गई। कायस्थों में विभिन्न वर्णों के लोग थे। जब उनकी अलग जाति बन गई

तो वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत सम्मिलित करने में ब्राह्मणों को असमंजस का सामना करना पड़ा। 10 वीं से 12 वीं शताब्दी के बीच विभिन्न स्थानों के आधार पर कायस्थों की उपजातियां भी बन गईं, जैसे बंगाल से आए हुए गौड़ कायस्थ, बल्लभीय कायस्थ, माथुर, श्रीवास्तव, निगम आदि।

कायस्थ केवल लेखक और गणक ही नहीं रहे बल्कि वे अनेक ऊंचे पदों पर भी नियुक्त हुए। श्रीवास्तव कायस्थ चंदेलों के यहां मंत्री तथा सेनापति पद पर नियुक्त हुए और उन्हें 'ठाकुर' की सामंत उपाधि भी मिली। इसी प्रकार माथुर कायस्थ चौहानों के यहां मुख्यमंत्री तथा कोषाधिकारी कहा गया है। हरिघोषकरण कायस्थ बंगाल में वालालसेन का संधि विग्रहिक था। लक्ष्मणसेन का मुख्यमंत्री भी करण कायस्थ था।

क्षेत्र के अनुसार कायस्थों के उदय से ब्रह्मणों के अधिकारों पर आघात पहुंचा। रामशरण शर्मा के मतानुसार इससे ब्रह्मणों का एकाधिकार समाप्त हो गया। कायस्थों में अप्रसन्न होने का दूसरा कारण था, भूमि-सम्बन्धी दस्तावेजों में कायस्थों द्वारा हेराफेरी। इससे ब्राह्मण, जिन्हें भूमि दान में मिलती थी, काफी परेशान थे। इसीलिए कायस्थ ब्रह्मणों के कोपभाजन बने।

2.6.4 वैश्य वर्ण का पतन तथा शूद्र वर्ण का उत्थान

पूर्व मध्यकालीन समाज में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि वैश्य वर्ण की सामाजिक स्थिति पतनोन्मुख हुई तथा उन्हें शूद्रों के साथ समेट लिया गया। वैश्यों की स्थिति में गिरावट का मुख्य कारण पूर्व मध्यकाल के प्रथम चरण में व्यापार-वाणिज्य का हास है। इस काल में आंतरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के व्यापार का हास हुआ, जिसके कारण वैश्य वर्ण अत्यन्त निर्धन हो गया। इस समय शूद्रों का सम्बन्ध कृषि के साथ हो जाने से उनकी आर्थिक दशा पहले से अधिक अच्छी हो गई। इस काल के कुछ ग्रन्थ भी वैश्यों की दीन-हीन दशा का चित्रण करते हैं। विष्णुपुराण में कहा गया है कि कलियुग में वैश्य कृषि तथा व्यापार छोड़ देंगे तथा अपनी जीविका दासकर्म एवं कलाओं द्वारा कमायेंगे। विष्णु तथा वायु पुराण तो यहाँ तक बताते हैं कि कलियुग में वैश्य वर्ण वस्तुतः विलुप्त हो जायेगा। वैश्यों की यह स्थिति सामन्तों तथा जागीरदारों के अविभावं एवं व्यापार-वाणिज्य में हास के कारण हुई।

जहाँ तक शूद्र वर्ण का प्रश्न है, हम देखते हैं कि पूर्व मध्यकाल के अनेक विचारक उन्हें कृषि-कार्य से सम्बन्धित करते हैं। स्मृतिकार देवल ने कृषि को वैश्य तथा शूद्र दोनों का समान कार्य बताया है। शूद्रों की स्थिति में यह परिवर्तन सामन्ती प्रवृत्तियों के विकसित हो जाने के कारण हुआ। भूमि अनुदानों की अधिकता के कारण सामन्तों तथा भूस्वामियों की संख्या अधिक हो गयी। इन्हें अपने खेतों पर कार्य करने के लिए बड़ी संख्या में श्रमिकों की आवश्यकता पड़ी। इसकी पूर्ति शूद्र वर्ण द्वारा ही सम्भव थी जो संख्या में अत्यधिक था। प्रभूत उत्पादन के कारण शूद्रों को भी कृषि की आय का अच्छा लाभ प्राप्त हुआ, जिससे उनकी आर्थिक दशा काफी अच्छी हो गयी। इस प्रकार उन्होंने कृषि को वैश्यों के अधिकार से छीन लिया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अब वैश्य, कृषि के अधिकारी नहीं रहे। उनमें से कुछ निम्न श्रेणी के लोग शूद्र वर्ण के साथ संयुक्त हो गये। किन्तु ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में, जब व्यापार-वाणिज्य का पुनरुत्थान हुआ, तब वैश्य वर्ण की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ।

2.6.5 अंतर्जातीय विवाह

तथाकथित क्षत्रियों में बाह्य तथा आदिवासी जातियों के समावेश के कारण ब्राह्मण ने, रक्तशुद्धि की भावना से प्रेरित होकर, विवाह एवं खान-पान के नियम अत्यधिक कठोर बना दिए थे। अंतर्जातीय विवाहों को हतोत्साहित करने के लिए औशन तथा व्यास स्मृतियों में बताया गया कि अनुलोम अंतर्जातीय विवाह से उत्पन्न संतान की जाति माता पर आधारित होगी, पिता पर नहीं। इस नियम की पुष्टि पूर्वमध्यकालीन अभिलेखों से भी होती है। अलबरूनी ने भी लिखा है कि बच्चे की जाति माता की होती है, पिता की नहीं।

विवाह-सम्बन्धी निषेध के साथ-साथ भोजन-सम्बन्धी निषेध के नियम भी कट्टर हो गए। माँस, मदिरा, प्याज, लहसुन इत्यादि ब्राह्मणों के लिए वर्जित थे। ह्वेनसांग ने खान-पान के सम्बन्ध में ब्राह्मणों की कट्टरता का उल्लेख किया है। इस युग में धीरे-धीरे भोजन-सम्बन्धी नियम इतने कठोर हो गए कि ब्राह्मण, ब्राह्मण के हाथ का बना हुआ भोजन नहीं खा सकता था।

2.6.6 अस्पृश्यता

अस्पृश्यता में वृद्धि इस काल में दिखाई देती है। पूर्वकाल में चाण्डालों को तो अस्पृश्य माना ही जाता था, लेकिन अब कई जातियों को अस्पृश्य बताया गया। स्मृतियों में धोबी, चमार, नट, वरूड़, कैवर्त, धीवर, भेद तथा भिल्ल जातियों को अस्पृश्य माना है। देवयात्रा, विवाह, यज्ञोत्सव देश पर आक्रमण के समय अस्पृश्यता का भाव त्याग दिया जाता था।

2.6.7 स्त्रियों की दशा

स्त्रियों की स्थिति में पहले की तुलना में गिरावट आ गई थी। स्त्रियों की गिरती हुई स्थिति के कई कारण थे। अब विवाह की उम्र बहुत कम हो गई थी। इस काल के स्मृति तथा निबंध ग्रंथों के अनुसार स्त्री का विवाह 8 से 10 वर्ष की आयु तक हो जाना चाहिए। आदर्श विवाह आठ वर्ष का माना जाता था। आठ वर्ष की लड़की को 'गौरी' व 10 वर्ष की लड़की को 'कन्या' कहा गया है। बाल विवाह का स्त्रियों की शिक्षा पर भी असर पड़ा। जैसा कि कामसूत्र तथा मध्यकालीन साहित्य से प्रकट होता है, राजघराने, उच्चाधिकारियों और समृद्ध वैश्य परिवारों की स्त्रियां ही शिक्षित होती थीं।

यद्यपि सती-प्रथा के कुछ उदाहरण पूर्व काल में भी मिलते हैं किन्तु 9 वीं शताब्दी से सती प्रथा अत्यधिक प्रचलित हो गई। इस प्रथा के बढ़ने के कई कारण थे जैसे वैराग्य तथा कठोर सयंम सम्बन्धी विचारधारा का समाज पर-विशेषतः ब्राह्मण वर्ग पर-बढ़ता हुआ प्रभाव, पुनर्विवाह का निषेध, विधवाओं के सम्पत्ति विषयक अधिकार को विलंब से तथा हिचकिचाहट के साथ मान्यता देना आदि। विधवाओं के इस सम्पत्तिगत अधिकार पर कई तरह के

प्रतिबंधों ने विधवाओं की दशा को शोचनीय बना दिया और पति के साथ सती होने में ही उसे जीवन के इन कष्टों से मुक्ति दिखाई दी। अंगिरा, हारीत आदि पूर्वमध्यकालीन स्मृतियों तथा अपराकी, विज्ञानेश्वर आदि निबंधकारों ने सती प्रथा की प्रशंसा की।

2 .6.8 दासप्रथा

पूर्व मध्यकाल में दास प्रथा में वृद्धि हुई केवल राजा, सामंत और गृहस्थ के यहाँ ही नहीं वरन् बौद्ध मठों, वैष्णव, शैव और शाक्त मंदिरों में भी दास रहते थे। इस युग में दास प्रथा के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए धर्म शास्त्रों के अतिरिक्त जैन ग्रन्थों, शिलालेखों तथा विदेशी यात्रियों के वृत्तांतों से भी जानकारी प्राप्त होती है। विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में नारद द्वारा कथित 15 प्रकार के दासों का उल्लेख किया है। इनमें से 7-8 प्रकार के दासों के अस्तित्व की पुष्टि अर्थशास्त्र के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों तथा शिलालेखों से होती है। जैन ग्रन्थ समराइच्छकहा तथा प्रबंधचिन्तामणि में दास व्यापार की अनेक कथाएँ हैं जिनसे पता चलता है कि दास-व्यापार नियमित रूप से चल रहा था।

बहुत से लोग ऋण चुकाने के लिए अपने को दास रूप में बेच देते थे। मनु की मेधातिथि की टीका से पता चलता है कि यह प्रथा अधिक प्रचलित थी, हालांकि देश, धर्म और राजा द्वारा बनाए गए नियम के अनुकूल होते हुए भी, शास्त्र इसके विरुद्ध था। विज्ञानेश्वर ने अपनी मिताक्षरा में इस प्रथा का अनुमोदन किया है। ऋण न चुका सकने के कारण ऋणी स्वयं को ऋणदाता का दास बना लेता था। पूर्व काल की भांति इस युग में भी दास प्रायः घरेलू कामों में ही लगाए जाते थे।

इस काल के नियामकों ने दासों के जान-माल के अधिकारों की रक्षा के लिए कोई नियम नहीं दिए हैं, जिससे स्पष्ट है कि उनकी दशा पूर्व काल की अपेक्षा अधिक गिरी हुई थी। त्रिपट्टिशलाकाचरित में कहा गया है कि सामान्यतः दासों को खच्चर की तरह पीटना चाहिए, उन्हें भारी बोझ ढोना चाहिए और भूख-प्यास सहन करनी चाहिए। लेखापद्धति से पता चलता है कि दासियों को खरीदते समय उनसे यह स्वीकारोक्ति ली जाती थी कि भागने, चोरी करने, मालिक की निंदा करने अथवा मालिक और उसके सम्बन्धियों की आज्ञा की अवहेलना करने पर स्वामी को उसे पीटने तथा बाँधने का पूरा-पूरा अधिकार था। किसी भी लेखों में दास-दासियों को मुक्त करने का कोई उल्लेख नहीं है। अतिरिक्त परिश्रम अथवा स्वामी की कृपा से दासत्व से मुक्त होने का कोई उपाय नहीं है। लेखापद्धति में कहा गया है कि दासी के भाई और पिता धन देकर उसे वापस नहीं ले सकते।

2 .7 धार्मिक स्थिति

इस युग में ब्राह्मण और बौद्ध धर्म का नई दिशा में विस्तार हुआ। नवीन सिद्धांतों एवं धार्मिक क्रियाओं का समावेश हुआ। इन धर्मों के नए रूप समाज के सामने आए। जैन धर्म भी इस प्रगति से अप्रभावित न रह सका, यद्यपि इसमें परिवर्तन की गति धीमी रही।

धार्मिक विचारों के विकास का एक प्रबल कारण तांत्रिक पूजा और उपासना का वेग है। जिसने बौद्ध धर्म के मूल रूप को ही बदल दिया। इन तांत्रिक विचारों ने ब्राह्मण धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में भी प्रवेश किया और उनके

आधारभूत विचारों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों ने एक-दूसरे को प्रभावित किया। वैष्णव और शैव धर्म की तरह बौद्ध और जैन धर्मों में ईश्वरवादी प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं। बुद्ध और जिन् देवता माने जाने लगे और उनकी मूर्तियों की पूजा मंदिर में भक्तिमय गीतों से होने लगी। बुद्ध और जिन् को विष्णु का अवतार माना जाने लगा।

2.7.1 वैष्णव सम्प्रदाय

गुप्त काल में वैष्णव धर्म पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था और विष्णु के अवतारों का सिद्धांत स्थापित हो चुका था। अभिलेखों तथा स्मारकों से विदित होता है कि गुप्तोत्तर व हर्षोत्तर काल में वैष्णव धर्म भारतवर्ष में प्रचलित था और अनेक राजवंश इसके अनुयायी थे, जैसे कश्मीर के दुर्लभवर्धन, ललितादित्य, बंगाल के सेन नरेश, प्रतिहार नरेश देवशक्ति और अनेक गुहिल, चंदेल व चौहान नरेश। किन्तु वैष्णव धर्म का गढ़ दक्षिण में तमिल प्रदेश में था। यहां वैष्णव मत के आदि प्रवर्तक अलवार संत थे। अलवार भक्ति आंदोलन की प्रमुख विशेषता है कि यह आंदोलन मूलतः भावनात्मक है, दार्शनिक नहीं। उनकी दृष्टि में भक्ति, प्रेम तथा शरणागति से मोक्ष की प्राप्ति संभव है। वे एकेश्वरवादी थे और विष्णु की ही पूजा करते थे। विष्णु परमदेव विश्वात्मा, सर्वज्ञानमय, अनंत, अमेय है, असीम ब्रह्म होते हुए भी प्राणियों के अनुग्रह के लिए वह पृथ्वी पर अवतार लेता है और मूर्ति के रूप में सीमित रहता है। अवतारों में कृष्ण का अवतार लोकप्रिय है। विष्णु के अर्चनावतारों की पूजा से बैकुंठ में ईश्वर की सेवा का अवसर मिलता है। प्रपत्ति द्वारा ईश्वर से ऐक्य ऊंच और नीच सभी को प्राप्त हो सकता है। इसमें ज्ञान, सामाजिक स्तर तथा व्रत के बंधन नहीं हैं। अलवार में कुछ शूद्र थे, जैसे तिरूमंगाई वेल्लाल जाति का था।

2.7.2 शैव सम्प्रदाय

हिन्दू धर्म के अंतर्गत जितने सम्प्रदाय थे उनमें शैव सम्प्रदाय सबसे अधिक प्रबल था। जनसाधारण के अतिरिक्त अनेक राजवंशों ने शैव धर्म अपनाया और मंदिर बनवाये। शैव धर्म अनेक मतों में बंटा हुआ था। इनमें सबसे अधिक प्राचीन पाशुपत मत था। इसके प्रवर्तक लकुलीश थे। उसके बाद उनके शिष्यों की परम्परा बनी रही।

शैव का अतिमार्गी रूप भी था जिसे कापालिक और कालुमुख के नाम से जाना जाता है। रामानुज के श्रीभाष्य में कापालिकों का वर्णन इस प्रकार है: वे खोपड़ी में भोजन करते थे, शरीर में राख मलते थे, हाथ में गदा रखते थे। सुरापात्र में विद्यमान देवता की पूजा करते थे। मालती माधव नाटक में कापालिकों को जटाधारण किए हुए दिखाया गया है। वे अपने साथ खट्वांग (एक शस्त्र) रखते थे। चामुंडा को मनुष्य की बलि देते थे। कापालिकों और कालमुखों के धार्मिक कृत्यों में अनेक तांत्रिक क्रियाएं सम्मिलित थीं। वे नरमुंडमाला पहनते थे और श्मशान के समीप निवास करते थे। ये कालमुख भैरव की देवता के रूप में आराधना करते थे और भैरव को नरबलि तथा मदिरा चढ़ाई जाती थी। वे भक्ष्याभक्ष्य सभी ग्रहण करते थे। उनका विश्वास था कि मदिरापान आदि घृणित पदार्थों के भक्षण से चमत्कारिक शक्ति पैदा होती है और भक्ष्याभक्ष्य खान-पान तथा वीभत्स तांत्रिक क्रियाओं से सिद्धि तथा मोक्ष प्राप्ति होती है। किन्तु वास्तव में ये विचार मनुष्य की बुद्धि और आत्मा की पथभ्रष्टता, मतिभ्रम और नैतिक हास के द्योतक हैं।

2.7.3 शाक्त सम्प्रदाय

शक्ति-पूजा भारत में प्राचीन काल से चली आ रही थी किन्तु पूर्व मध्यकाल में यह बहुत व्यापक हो गई। शक्ति पूजा के मूल में यह दार्शनिक विचार है कि ईश्वर अपनी शक्ति की सहायता से ही सृष्टि धारण एवं संहार करता है। परिणाम यह हुआ कि ईश्वरवादी संप्रदायों में, शक्ति, परमदेवता की अर्द्धांगिनी के रूप में संसार में प्रचलित हो गई। छठी शताब्दी से शक्ति-उपासना स्पष्ट एवं निश्चित रूप में दिखाई देती है और नवीं शताब्दी से तो इस मत का प्रबल प्रभाव दिखाई देता है। मध्यप्रदेश और उड़ीसा में चौंसठ योगिनियों के मंदिर हैं, जिनमें मातृदेवी चौंसठ रूपों में दिखाई गई हैं। इन चौंसठ योगिनियों के मंदिरों में तीन भेड़ाघाट (जबलपुर के पास), खजुराहो तथा उड़ीसा में सम्भलपुर में है। चौथा मंदिर कालाहंडी में और पांचवां ललितपुर (उत्तरप्रदेश) में है। जबलपुर और खजुराहो के मंदिर 9 वीं शताब्दी के हैं। बंगाल में शबर जाति के लोग शबरोत्सव पर पत्तों से आच्छादित पर्णेश्वरी की पूजा करते हैं। तांत्रिक पूजा की वृद्धि के साथ शक्ति मत का और विस्तार हुआ और अधिकश तांत्रिक ग्रन्थों की रचना सीमावर्ती आदिवासी क्षेत्र में हुई।

2.7.4 गणेश पूजा

यद्यपि अग्नि और बराह पुराण में गणेश को उद्देश्य-पूर्ति में विघ्न डालने वाला कहा गया है, किन्तु जनसाधारण में गणेश को सिद्धि देने वाला तथा उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक देवता माना गया है। दसवीं शताब्दी में वह हिन्दू परिवार का लोकप्रिय देवता हो गया। विशेषकर पश्चिमी भारत में गणपति पूजा बहुत प्रचलित हो गई और गणपत्य संप्रदाय का आविर्भाव हुआ जो कि गणपति को सब देवताओं में श्रेष्ठ मानने लगा। गणेश के उपलक्ष में गणेश चतुर्दशी के व्रत का माहात्म्य अग्नि पुराण में दिया गया है जिसे 9 वीं- 10वीं शताब्दी की रचना माना जाता है। गणपति-पूजा का जब अधिक प्रचलन हुआ तो अनेक रूपों में गणेश की मूर्तियां बनाई जाने लगीं।

2.7.5 सूर्य पूजा

भारत में सूर्य पूजा बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रही है किन्तु बृहत् संहिता, भविष्य पुराण, अभिलेखों, अनेक सूर्य प्रतिमाओं और मंदिरों से पता चलता है कि सूर्य इस युग के अधिक लोकप्रसिद्ध था। आदित्य सेन और जीवितगुप्त के शाहपुर और देववर्नाक अभिलेख में सूर्य-पूजा का उल्लेख है।

कुछ प्रतिहार नरेश परम आदित्यभक्त थे। पालों के समय के बंगाल में सूर्य की अनेक मूर्तियां मिली हैं जिससे यह अनुमान स्वाभाविक है कि सूर्यपूजा लोकप्रसिद्ध थी। बंगाल के सेन शासक विश्वरूप सेन सूर्योपासक होने के कारण 'परमसोर' पदवी से विभूषित किए गए। ललितादित्य, जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है, सूर्योपासक था। उसने कश्मीर में सूर्य का प्रसिद्ध मार्तण्ड मंदिर बनवाया। इसके वर्तमान ध्वंसावशेष उसकी प्राचीन भव्यता का आभास देते हैं।

सूर्य पूजा का प्रसिद्ध केंद्र मुल्तान में था। मुल्तान के सूर्य मंदिर का उल्लेख ह्वेनसांग, आवूजइद, अलमसूदी तथा अलबरूनी ने किया है।

2.7.6 तांत्रिक सम्प्रदाय

तांत्रिक धर्म वह धर्म है जिसमें चर्या (ब्रह्म धार्मिक कृत्य), क्रिया (मंदिर निर्माण तथा मूर्ति पूजा), योग तथा ज्ञान के द्वारा मुक्ति और मुक्ति से इस लोक की सिद्धि, ऐश्वर्य तथा इष्टदेव के साथ अद्वैत भावना प्राप्त की जा सकती है। तांत्रिक रचनाओं का प्रारंभ छठी शताब्दी माना गया है, यद्यपि बौद्ध तंत्र और भी पहले के हैं।

पूर्व मध्य युग में तांत्रिक धर्म की व्यापक लोकप्रियता का प्रमाण वैष्णव, शैव, बौद्ध आदि अनेक प्राचीन धर्मों में दृष्टिगोचर होता है। जहां तक इस प्रवृत्ति के कारणों का प्रश्न है, यह विचारणीय तथ्य है कि जिस सामाजिक-आर्थिक संरचना का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, उसका स्पष्ट प्रभाव तांत्रिक प्रथाओं की बढ़ती लोकप्रियता पर भी दृष्टिगोचर होता है। भूमिगत बिचौलियों के उदय एवं कृषि के प्रसार के परिप्रेक्ष्य में उपरोक्त विकास को देखने का प्रयास किया गया है। तांत्रिक धर्म के तत्वों में केवल पंच मकार-मद्य, मांस, मत्स्य, मैथुन एवं मुद्रा ही नहीं अपितु मातृदेवी पंथ की महत्ता भी महत्वपूर्ण है।

भूमिदान अनुदानों के माध्यम से इन पिछड़े जनजातीय क्षेत्रों में को सभ्यता के कगार से हटाकर मुख्या धारा में मिलाने के प्रयास के फलस्वरूप तांत्रिक प्रथाओं का समागम अन्य धर्मों में भी हो गया। मिथुन एवं मातृदेवी प्रथाओं का, प्रजननशक्ति से सम्बन्ध होने के कारण, कृषिगत समुदायों में विशेष स्थान था और इसीलिए तांत्रिक धर्म में भी ये विशेष रूप से हमारे सामने आते हैं। जब बौद्ध संघ भी अपने द्वार दासों एवं ऋणियों के लिए बंद कर रहा था, तब तांत्रिक चक्र ने वर्ण, लिंग आदि का विचार किए बिना अपने द्वार सभी प्रकार के लोगों के लिए खोल दिए।

2.7.7 बौद्ध धर्म

अधिकांश विद्वानों का मत है कि सातवीं शताब्दी से बौद्ध धर्म का पतन स्पष्ट रूप से प्रारम्भ हो गया था। पाल राजाओं के संरक्षण में बंगाल और बिहार में बौद्ध धर्म सम्पन्न अवस्था में था। बोधगया, नालंदा, ओदंतपुरी, विक्रमशील पुरानी परंपरा को बनाए हुए थे किन्तु यहां भी वज्रयान और कालचक्रयान में बौद्ध धर्म के मूल सिद्धांतों पर दूषित विचारों का बोलबाला हो गया था और वे बौद्ध धर्म को पतन की ओर अग्रसर कर रहे थे। 9 वीं से 12 वीं सदी तक बंगाल और बिहार इस दूषित पतनशील बौद्ध धर्म के प्रभाव क्षेत्र बने रहे किन्तु बंगाल में सेन वंशीय राजाओं के आगमन से ब्राह्मण धर्म ने बौद्ध धर्म को निष्कासित कर दिया और बिहार में बख्तियारूद्दीन खिलजी के विध्वंसात्मक आक्रमण ने बौद्ध धर्म का उन्मूलन कर दिया।

2.7.8 जैन धर्म

इस समय तक जैन धर्म का पूर्ण रूप से विकास हो चुका था और इसके अनेक संप्रदाय थे जिनमें से दिगंबर और श्वेतांबर महत्वपूर्ण थे। राजस्थान, गुजरात तथा मालवा के अतिरिक्त उत्तर भारत में जैन धर्म को राजाओं का आश्रय नहीं मिला। किन्तु वैश्य वर्ग में यह लोकप्रिय था। इन राजपूत राजाओं से जैन धर्म को आश्रय तथा सम्मान मिला। नागभट्ट द्वितीय के जैन आचार्य अक्षदेव से सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध थे। राजस्थान में अनेक जैन मंदिरों का निर्माण हुआ जिनमें ओसिया में महावीर का मंदिर प्रसिद्ध है। मांडोर के प्रतिहार नरेश ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे।

जैन धर्म को लुप्त होने से बचाने तथा एक सजीव तथा उत्प्रेरक धर्म बनाने का श्रेय राजस्थान के अनेक जैनाचार्यों को है। इनमें से हरिभद्र सूरि का नाम उल्लेखनीय है। मठों और चैत्यों के जैनाचार्य, मंदिरों के लिए एकत्रित धर्म का अपने निजी व्यय के लिए उपयोग कर रहे थे और सरल जीवन को त्यागकर विलासी जीवन व्यतीत कर रहे थे। उनके प्रवचन सरल और सुग्राह्य नहीं थे। वे धनी लोगों को प्रसन्न करने में लगे थे। हरिभद्र सूरि ने इन बुराइयों के विरुद्ध आंदोलन प्रारम्भ किया और जैन आचार्यों और श्रावकों में धार्मिक सुधार सम्बन्धी विचारों का प्रचार किया। हरिभद्र ने विद्वानों के लिए ही नहीं वरन् जनसाधारण के लिए भी ग्रंथों की रचना की। इनमें अनेकान्त विजय तथा धर्मबिन्दु उल्लेखनीय हैं।

2.8 सारांश

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि वर्धन वंश के पश्चात् भारत अनेक क्षेत्रीय शक्तियों में बंटकर रह गया। जिनके मध्य निरंतर युद्ध और संघर्ष चलता रहा। सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में कठोरता और रूढ़िवादिता आ गई। कठोर वर्ण व्यवस्था का पालन किया गया। नए-नए राजवंश एवं नई जातियों का उदय हुआ। राजपूत परमार, चन्देल और चौहान नामक शक्तियों में केन्द्रित होने लगे। इसी प्रकार एक नई कायस्थ जातियों का भी उदय हुआ। इस काल में वैश्य शक्ति का हास हुआ, वहीं शूद्रों की शक्ति में वृद्धि हुई। निःसंदेह यह काल राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था का एक संक्रमण काल था, जिसने भारत के सभी वर्गों को प्रभावित किया।

2.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. कन्नौज के लिए त्रिपक्षीय संघर्ष का वर्णन कीजिए।
2. भारत में सामन्तवाद के उद्भव तथा विकास के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों का वर्णन कीजिए।
3. हर्षोत्तर भारत में धार्मिक स्थिति का उल्लेख कीजिए।
4. हर्षोत्तर काल में उत्तरी भारत में कौन-से नये राजवंशों का उदय हुआ। समीक्षा कीजिए।
5. हर्षोत्तर भारत में सामाजिक स्थिति का मूल्यांकन कीजिए।
6. कायस्थ जाति के उदय पर संक्षिप्त लेख लिखिए।

2.10 सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. द्विजेन्द्रनारायण झा एवं कृष्ण मोहन श्रीमाली-प्राचीन भारत
2. हरीशचंद्र वर्मा-मध्यकालीन भारत
3. मणिकांत सिंह-भारतीय इतिहास
4. के0सी0 श्रीवास्तव-प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति

ब्लॉक एक

इकाई तीन : पल्लव, चालुक्य व चोल कालीन दक्षिण भारत

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 राजनीतिक घटनाक्रम: राजवंशों का प्रारम्भिक इतिहास
 - 3.3.1 पल्लव
 - 3.3.2 चालुक्य
 - 3.3.3 पाण्ड्य
 - 3.3.4 चेर
 - 3.3.5 राष्ट्रकूट
 - 3.3.6 चोल
- 3.4 राजनीतिक संघर्ष
- 3.5 राज्य और प्रशासन
 - 3.5.1 राजसत्ता और राज्य का स्वरूप
 - 3.5.2 प्रशासन
 - 3.5.2.1 राजकुल और अधिकारी-वर्ग
 - 3.5.2.2 राजस्व प्रशासन
 - 3.5.2.3 प्रांतीय/ स्थानीय प्रशासन
 - 3.5.2.4 सैन्य संगठन
- 3.6 सार संक्षेप
- 3.7 संदर्भ ग्रंथ
- 3.8 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

छठीं शताब्दी ईस्वी के आरम्भ में दक्कन व दक्षिण भारत में पूर्ववर्ती काल के नायकतंत्र व छोटे राज्यों का रूपांतरण बड़े राज्यों में हुआ, हालांकि यह नये तरह का राज्य तीसरी शताब्दी ईस्वी से इन क्षेत्रों के राजनीतिक ढाँचों में देखी गई निरंतरताएं व अनिरंतरताएं दोनों दर्शाते हैं। इन राज्यों में तीन, नामतः पश्चिमी दक्कन (उत्तरी कर्णाटक का बीजापुर क्षेत्र) में बादामी या वातापी के चालुक्य, तमिल नाडु में कांची के पल्लव व मदुरई के पाण्ड्य बड़ी शक्तियाँ बनकर उभरे, और परस्पर को हराकर अपना-अपना क्षेत्रिय विस्तार करने व दक्षिण भारत पर अपना वर्जस्व स्थापित करने के लिए छठीं शताब्दी के आरम्भ से नौवीं शताब्दी के अंत तक संघर्ष करते रहे। इसलिए प्रायद्विपीय भारत में

छठी से नौवीं शताब्दी ईस्वी के राजनीतिक इतिहास को इन तीन शक्तियों के बीच परस्पर संहार-युद्धों द्वारा चिन्हित किया जाता है। नौवीं शताब्दी के मध्य में मान्यखेट (वर्तमान मालखेड, कर्णाटक) के राष्ट्रकूटों ने बादामी के चालुक्यों को और नौवीं शताब्दी के अंत में चोलों ने पल्लवों विस्थापित कर दिया, पर पाण्ड्य 14वीं शताब्दी तक अपना शासन कायम रख पाएँ। इनके अलावा इस काल में कुछ छोटे राज्यों का भी उदय हुआ, नामतः बादामी के चालुक्यों की दो अतिरिक्त शाखाएँ, लाट (दक्षिणी गुजराट) के चालुक्य व वेंगी (पूर्वी आंध्र) के पूर्वी चालुक्य जो लगभग स्वतंत्र रूप से शासन करते थे; मैसूर (दक्षिणी कर्णाटक) के गंग; रेन्दु (रायलसीमा, आंध्र) के तेलुगु-चोल (जो पूर्ववर्ती संगम काल में तमिल क्षेत्र [उरैयूर] के चोलों का वंशज होने का दावा करते थे); तथा केरल के चेर। गंगों व पूर्वी चालुक्यों ने चालुक्य-पल्लव-पाण्ड्य संघर्ष में बीच-बीच में हस्तक्षेप भी किया। यह सारे राज्य कमोबेश वैदिक व आगमीय धर्म द्वारा प्रभावित हुए। जहाँ एक ओर हिंदु धर्म में, विशेषतः उसके कुछ पंथों में, एक हद तक बौद्ध व जैन धर्म के प्रति उदासीन या द्वेषपूर्ण भावना विकसित हुई, वहीं दूसरी ओर दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन ने हिंदु धर्म के विकास में तेज़ी लाने के साथ साथ आम जनता को उत्साहित किया तथा काफ़ी मात्रा में हृदय-स्पर्शी भक्ति साहित्य और दार्शनिक चिंतन को जन्म दिया। इस धार्मिक आंदोलन के प्रभाव से स्थापत्य-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला व संगीत में भी उल्लेखनीय विकास हुआ। अतः, इस काल में निरंतर राजनीतिक संघर्ष के साथ-साथ या उसके बावजूद काफ़ी सांस्कृतिक विकास हुआ।

नौवीं शताब्दी के मध्य में चोल शासन की शुरुआत हुई और 13वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उसका अंत हो गया। इस समय काल में चोल दक्षिण भारत का सबसे शक्तिशाली राज्य बनकर उभरे, पर उनके वर्जस्व को निरंतर चुनौति मिलती रही उत्तर में—पहले राष्ट्रकूटों से, फिर कल्याणी के चालुक्यों या पश्चिमी चालुक्यों से। अपने उत्तरी प्रतिस्पर्धियों के साथ संघर्ष में चोलों को मदद मिली पूर्वी चालुक्यों से जो उनके सामंत थे और उनसे वैवाहिक संबंध रखते थे। 12वीं शताब्दी के अंत में यह बड़े राज्य आपसी युद्धों से कमजोर हो गए, और छोटे राज्य, जो उनके अधीनस्थ थे जैसे सुदूर दक्षिण में पाण्ड्य, मैसूर के होयसल और उत्तरी दक्कन में यादव और काकतीय, स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर अपनी शक्ति और क्षेत्र का विस्तार करने लगे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य पल्लव, चालुक्य व चोल कालीन दक्षिण भारत के विषय में जानकारी प्रदान करना है, इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप –

- दक्षिण के राजवंशों के प्रारंभिक इतिहास की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- दक्षिण के राजवंशों के बीच राजनीतिक संघर्ष की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- राज्य और प्रशासन तथा राजसत्ता और राज्य के स्वरूप की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- राजकुल और अधिकारी-वर्ग के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- प्रशासन और सैन्य संगठन के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे

3.4 राजनीतिक घटनाक्रम: राजवंशों का प्रारम्भिक इतिहास

3.3.1 पल्लव

तमिल नाडु में स्थित कांची के पल्लवों ने तीसरी शताब्दी के अंत में दक्षिण आंध्र के गुंतुर जिले में कृष्णा नदी के आस-पास के इलाके में इक्ष्वाकुओं को विस्थापित कर अपने शासन की शुरुआत की थी। इनमें काफ़ी उत्तर भारतीय प्रभाव दिखता है। पहले के कुछ विद्वानों के अनुसार पल्लव पल्लव थे व भारत में बाहर से आए थे, पर कई विद्वान अब उनको दक्षिण भारतीय मूल का या उत्तर और दक्षिण भारतीय मिश्र मूल का मानते हैं। पल्लव वंश का प्राचीनतम ज्ञात अभिलेख, गुंतुर जिले से प्राप्त, तमिल में उत्कीर्ण व राजा सिंहवर्मन के छठे शासन-वर्ष में जारी किया गया पल्लकोयिल ताम्र-पत्र अभिलेख कांचीपुरम के निकट स्थित एक जैन मंदिर को दिए गए अनुदान का जिक्र करता है। प्राकृत में दो और ताम्र-पत्र अभिलेख उत्तर में किए गए कुछ अनुदानों का विवरण देते हैं। संस्कृत में 12 ताम्र-पत्र अभिलेख स. 350 से 550 ईस्वी तक की प्रारम्भिक पल्लव वंशावली (शासकों की 8-9 पीढ़ियाँ) की जानकारी देते हैं। इनमें से ज्यादातर अभिलेख, संस्कृत व प्राकृत, ब्राह्मणों या मंदिरों को दिए गए अनुदानों से संबंधित हैं। इन अभिलेखों में अनुदान में दिए गए सारे गाँव दक्षिण आंध्र (यानी गुंतुर व नेल्लोर जिले) में स्थित थे सिवाय एक के, जो दक्षिणी तमिल नाडु में स्थित था। टी. महालिंगम के अनुसार, इससे यह प्रतीत होता है कि इन अभिलेखों में जिक्र किया गया कांचीपुरम तमिल नाडु का प्रसिद्ध कांचीपुरम नहीं, बल्कि शायद कृष्णा नदीमुख के पास स्थित कोई गाँव था, हालांकि इस सुझाव की पुष्टि करने के लिए कोई ठोस पुरातात्विक सबूत नहीं है। 5वीं शताब्दी तक पल्लवों का शासन पेन्नार नदी के दक्षिण तक स्थापित हो चुका था, और इसी शताब्दी में पल्लवों ने कदम्बों व गंगों के साथ क करीबी सम्बंध स्थापित किए उनके अधिपति व मित्र के रूप में। पल्लवों के क्षेत्र को तोण्डईमण्डलम् कहा जाता है, जो उत्तरी पेन्नार व उत्तरी वेल्लार नदियों के बीच की भूमि, या कांचीपुरम व महाबलिपुरम तथा इनके आस-पास का इलाका है, ।

पल्लकोयिल अभिलेख में राजा सिंहवर्मन का विवरण नहीं बल्कि उनके पुत्र और उत्तराधिकारी सिंहविष्णु की उपलब्धियों के बारे में विस्तार से बताया गया है। इस अभिलेख और बाद के अभिलेखों के अनुसार सिंहविष्णु (560-80 ईस्वी) ने तेलंगु चोलों को हराकर कावेरी तक के क्षेत्र को अपने अधीन किया, कलभ्रों द्वारा फैलाए राजनीतिक उपद्रवों का अंत किया, उत्तर में भी कुछ प्रतिद्वंद्वी शासकों को हराया, और पाण्ड्यों तथा श्री लंका के शासक से भी युद्ध किया। विष्णु के उपासक सिंहविष्णु ने *अवनीसिंह* ('पृथ्वी का सिंह') उपाधी ली। छठी शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में पल्लवों का एक बड़ी शक्ति के रूप में उदय का श्रेय सिंहविष्णु को जाता है। उनके पुत्र और उत्तराधिकारी थे महेंद्रवर्मन-I (580-630 ईस्वी), जिनके शासन काल में पल्लवों का क्षेत्र उत्तर में कृष्णा तक बढ़ कर कंदर और विष्णुकुण्डिन राज्यों की सीमा तक पहुँच गया। महेंद्रवर्मन-I कला के संरक्षक तथा स्वयं एक कवि, संगीतज्ञ व मंदिर-निर्माता के रूप में प्रसिद्ध हुए। उनकी साहित्यिक रचनाएँ में उल्लेखनीय हैं *मत्तविलास*, *विचित्र-चित्त* और *गुणभद्र*। स्थापत्य-कला के क्षेत्र में उनके समय-काल में एक नयी शैली का आरंभ हुआ, नामतः गुफा-मंदिर। राजनीतिक क्षेत्र में उनके शासन काल में ही कांची पर चालुक्य पुलकेशिन-II के आक्रमण से एक दीर्घ-कालिन पल्लव-चालुक्य संघर्ष की शुरुआत हुई। इसके बाद पल्लवों का शासन तमिल क्षेत्र तक ही सीमित रहा, हालांकि उन्होंने चालुक्यों के विरुद्ध कई सैन्य अभियान चलाए।

3.3.2 चालुक्य

चालुक्य शुरुआत में बनवासी (उत्तरी कन्नड़ जिला, कर्णाटक) के कदम्बों के अधीनस्थ शासक थे, पर बाद में उनसे स्वतंत्र हो गए। उनकी शक्ति का केंद्र था उत्तरी कर्णाटक में बादामी/वातापी और निकटवर्ती ऐहोले, पर बाद में उन्होंने उत्तर में वाकाटक राज्य और पश्चिम में कुछ समुद्रतटीय क्षेत्रों को अपने अधीन कर लिया। छठी शताब्दी के मध्य में चालुक्यों को एक स्वतंत्र शक्तिशाली राजवंश के रूप में स्थापना की पुलकेशिन-I (535-66 ईस्वी) ने। उन्होंने 543-44 में बादामी में एक विशाल गढ़ का निर्माण किया और *अश्वमेध* समेत कई वैदिक श्रौत यज्ञ सम्पन्न कर कदम्बों से अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की। उनके पुत्र कीर्तिवर्मन-I (566/67-597/98 ईस्वी) बनवासी के कदम्बों, कोंकन के मौर्यों और बस्तर के नलों को हराकर राज्य का विस्तार किया। कोंकन पर विजय ने रेवतिद्वीप (गोआ) को चालुक्य साम्राज्य का हिस्सा बना दिया। उनके नाबालिग पुत्र पुलकेशिन-II के शासन-काल में उनके भाई और राज-प्रतिनिधि मंगलेश (597/8-609/10 ईस्वी) ने गुजरात, खांदेश और मालवा में कलचुरियों के क्षेत्र अर आक्रमण किया और रेवतिद्वीप के शासक के विद्रोह का दमन कर कोंकन पर चालुक्य शासन को पुनर्स्थापित किया। पुलकेशिन-II (609/10-42 ईस्वी) अपने चाचा मंगलेश के साथ संघर्ष में विजयी होकर 609-10 में सत्तारूढ़ हुए और महत्वपूर्ण सैन्य सफलताएं पाईं, जिनका वर्णन रविकीर्ति द्वारा रचित ऐहोले प्रशस्ति (634-35 ईस्वी) में मिलता है। उन्होंने कदम्बों को हराया, और दक्षिणी कन्नड़ के आलुपों, मैसूर के गंगों, कोंकन के मौर्यों, पूर्वी दक्कन के विष्णुकुण्डिनों, लाटों, मालवों, गुर्जरो, तथा कलिंग व दक्षिण कोसल के शासकों को अपनी अधीनता स्वीकार करने पर बाध्य किया। नर्मदा के तट पर हर्षवर्धन के साथ हुए युद्ध में उनकी विजय को सबसे अविस्मरणीय माना जाता है। पल्लवों की राजधानी कांची पर उनके सफल आक्रमण से शुरुआत हुई दीर्घकालीन पल्लव-चालुक्य संघर्ष की। उनके शासन में पूर्वी चालुक्य पश्चिमी और मध्य दक्कन में सबसे शक्तिशाली राजवंश बना। पुलकेशिन-II ने 625-26 ईस्वी में फ़ारसी शासक खुसरू-II के साथ राज-दूतों का भी आदान-प्रदान किया। उनके भाई विष्णुवर्धन ने वेंगी (पूर्वी आंध्र) में और पुत्र जयसिंहवर्मन ने लाट (दक्षिणी गुजरात) में दो अतिरिक्त राजवंशों की भी स्थापना की, जो बाद में बादामी के चालुक्यों से स्वतंत्र हो गए।

3.3.3 पाण्ड्य

दक्षिण भारत के प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल से ही तमिल संगम साहित्य में मदुरई के पाण्ड्य शासकों का जिक्र मिलता है, पर उनका प्रारम्भिक मध्यकाल यानी छठी शताब्दी के अंत में पाण्ड्य शासकों के साथ कोई प्रत्यक्ष संबंध स्पष्ट नहीं होता। प्रारम्भिक मध्यकालीन पाण्ड्य वंश के पहले दो शासक, कडुंगोन (590-630 ईस्वी) व उनके पुत्र मारवर्मन अवनिशूलामणि (590-620 ईस्वी) को कलभ्रों की शक्ति नष्ट करने तथा पाण्ड्यों की शक्ति पुनरुज्जीवित करने का श्रेय दिया जाता है। तीसरे पाण्ड्य शासक शेंदन (654-70 ईस्वी) ने चेर राज्य में अपना शासन स्थापित किया, और चौथे शासक अरिकेसरि मारवर्मन (670-700 ईस्वी) ने पल्लवों के विरुद्ध युद्ध किया। पाण्ड्यों का पल्लवों तथा अन्य समकालीन राजवंशों के साथ युद्ध चलता रहा। 10वीं शताब्दी में चोलों ने पाण्ड्य-शक्ति पर पूरी तरह अंकुश लगा दिया।

3.3.4 चेर

हालांकि पल्लवों, पाण्ड्यों, चालुक्यों और राष्ट्रकूटों ने केरल पर अपनी-अपनी सैन्य विजय का दावा किया, फिर भी प्रारम्भिक मध्यकाल में केरल के तटीय क्षेत्र पर चेर पेरुमाल का वर्जस्व बना रहा। चेरों व पल्लवों के बीच सांस्कृतिक संबंधों के कई साक्ष्य भी उपलब्ध हैं, जैसे पल्लव शासक महेंद्रवर्मन-I द्वारा रचित *मत्तविलास* चाक्कियार नामक मालाबार के वंशागत नाट्य-अभिनेता समुदाय के पसंदीदा नाटकों में से एक बना; दण्डी द्वारा रचित *अवंतिसुंदरी-कथासार* में केरल के बारे में काफ़ी जानकारी उपलब्ध है और पल्लव-सभा में उनकी उपस्थिति में केरल के कई सौ ब्राह्मणों के आगमन का जिक्र है। पर चेर इतिहास के बारे में कहीं विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है। 7वीं-8वीं शताब्दी में इस वंश का अंतिम प्रमुख शासक चेर पेरुमाल था, जिससे जुड़ी कई लोक-कथाएं हैं। अलग-अलग स्रोतों में उन्हें जैन, ईसाई, शैव या मुस्लिम कहा गया है, जिसका कारण शायद उनकी धार्मिक सहिष्णुता थी। संभवतः उन्होंने अपने परिजनों और अधीनस्थ सामनों के बीच अपने राज्य को बांट कर सांसारिक जीवन का परित्याग कर दिया। इसलिए केरल के इतिहास के बारे में कोई ठोस जानकारी नहीं है 825 ईस्वी से पहले, जब एक नए सन्, कोल्लम संवत्, की शुरुआत हुई। इस संवत् के उद्भव के बारे में कई मत हैं, पर एम्. जी. एस्. नारायणन के अनुसार, इसका आरम्भ पाण्ड्य शासन से वेणाड की मुक्ति और कोल्लम बंदरगाह की स्थापना से संबंधित है।

3.3.5 राष्ट्रकूट

दक्कन में 8वीं शताब्दी के मध्य में राष्ट्रकूटों का उदय हुआ। 'राष्ट्रकूट' शब्द का मतलब है 'राष्ट्र का मुखिया/प्रमुख'; इसमें 'राष्ट्र' अलग-अलग संदर्भ में 'राज्य' या 'राज्य का प्रमंडल' (division) के अर्थ में इस्तमाल होता था। चौथी शताब्दी के बाद, कई राजवंशों के अभिलेखों में यह शब्द सामान्यतः प्रांतीय अधिकारियों के एक वर्ग के लिए हुआ है। इसलिए संभवतः राष्ट्रकूट मूल रूप से उसी वर्ग के अधिकारियों का समूह रहे होंगे। इस राजवंश की उत्पत्ति कन्नड़-भाषी क्षेत्र में हुई होगी। इस राजवंश की मुख्य तथा सह शाखाओं के राजाओं की एक उपाधी 'लत्तलूर पुरेश्वर' ('लत्तलूर नामक शहर या पुर का अधिपति') से प्रतीत होता है यह मूलतः वर्तमान महाराष्ट्र-कर्णाटक सीमा पर स्थित लातूर क्षेत्र के थे। ऐसा प्रतीत होता है कि 625 ईस्वी में राष्ट्रकूटों का लातूर क्षेत्र से इलिचपुर (वर्तमान मध्य प्रदेश में तापी नदी के उद्गम के पास) में स्थानांतरण हुआ। वहाँ उन्होंने अपनी जागीर बनाई और कई पीढ़ियों तक चालुक्यों का सामंतों के रूप में शासन किया। दंतिदुर्ग ने राष्ट्रकूटों के स्वतंत्र राज्य की नींव डाली और 733 ईस्वी में राज्यारोहण किया। उन्होंने अनेक सैन्य सफलताएं पाईं और साम्राज्यिक उपाधियां धारण कीं। उनके वंशज अमोघवर्ष (814-78 ईस्वी) ने मान्यखेट (वर्तमान मालखेड, कर्णाटक) के रूप में अपनी नई राजधानी का निर्माण किया। दंतिदुर्ग व उनके उत्तराधिकारियों—विशेषतः कृष्ण-I, गोविंद-III और अमोघवर्ष—के नेतृत्व में राष्ट्रकूट साम्राज्य का बहुत विस्तार हुआ तथा उत्तर और दक्षिण में कई सैन्य सफलताएं प्राप्त हुईं। किसी न किसी काल में उनसे सभी प्रमुख समकालीन शक्तियां—जैसे पाल; प्रतिहार; बादामी, कल्याणी व वेंगी के चालुक्य; पूर्वी गंग; पल्लव; और चोल—पराजित हुए, किंतु उत्तर में प्राप्त उपलब्धियों को वे बहुत दिनों तक संभाल नहीं सके। 10वीं शताब्दी के अंत में परमारों द्वारा मान्यखेट पर कब्जा करने के बाद राष्ट्रकूटों का पतन सुनिश्चित हो गया।

3.3.6 चोल

दक्षिण भारत के प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल से ही तमिल संगम साहित्य में उरैयूर के चोल शासकों का जिक्र मिलता है, पर संगमकाल के उपरांत उनका इतिहास अस्पष्ट है। हालांकि प्रारम्भिक मध्यकाल में तंजौर का चोलवंश के शासक संगमकालीन चोलों के वंशज होने का दावा करते थे। इस वंश के संस्थापक विजयालय शुरुआत में पल्लवों के सामंत थे। उन्होंने उरैयूर के आस-पास के क्षेत्र में अपने राज्य की स्थापना कर और 850 ईस्वी के आस-पास मुत्तैरैयर सर्दारों से तंजौर छीन लिया जब पल्लवों के साथ पाण्ड्यों संघर्ष चल रहा था, जिसमें गंग, राष्ट्रकूट, सिंहल/श्रीलंका, तेलुगु-चोल भी लिप्त थे। विजयालय ने निचली कावेरी प्रदेश तक अपने राज्य का विस्तार किया। उनके वंशजों ने, विशेषतः आदित्य-I, परांतक-I, परांतक-II, राजराज-I और राजेंद्र-I, अपने-अपने शासन काल में पाण्ड्य, गंग, चेर, चालुक्य, पल्लव आदि समकालीन शक्तियों पर विजय पाकर चोलों को दक्षिण भारत की साम्राज्यिक शक्ति बना दिया, पर 13वीं शताब्दी में यह वंश पतनगामी हुआ।

3.4 राजनीतिक संघर्ष

छठी से नौवीं शताब्दी तक दक्कन और दक्षिण भारत के राजनीतिक संघर्षों में प्रमुख था पल्लव-चालुक्य-पाण्ड्य संघर्ष, जिसकी शुरुआत हुई पल्लव महेंद्रवर्मन-I के विरुद्ध चालुक्य पुलकेशिन-II के सैन्य अभियान से। जब चालुक्य पुलकेशिन-II सेना समेत पल्लव क्षेत्र के काफ़ी अंदर प्रवेश कर कांची के बिल्कुल निकट पहुंच गई, तब कांची के उत्तर में 15 मील दूर पुल्ललूर में पल्लव महेंद्रवर्मन-I ने चालुक्य पुलकेशिन-II से डट कर लड़ाई लड़ी और कांची को बचा लिया, पर राज्य का उत्तरी हिस्सा पुलकेशिन-II के कब्जे में चला गया। अपने राज्य में लौटने के बाद उन्होंने अपने भाई विष्णुवर्धन को वेंगी (पूर्वी आंध्र) का राज्यपाल बनाया। विष्णुवर्धन ने वहाँ पूर्वी चालुक्य वंश की स्थापना की।

पुलकेशिन-II ने पल्लवों के विरुद्ध 641-42 ईस्वी में दुसरा सैन्य अभियान चलाया। रायलसीमा पर शासनरत पल्लवों के अधीनस्थ सामंत बानों पर आक्रमण कर तथा उनको पराजित कर पुलकेशिन-II ने फिर पल्लव राज्य में प्रवेश किया और कांची के पास आ पहुंचे। नए पल्लव शासक नरसिंहवर्मन-I महामल्ल (630-68 ईस्वी) ने सिंहल/श्रीलंका के राजकुमार मानवर्मा की मदद से चालुक्यों को कई युद्धों में हराया। अतः पुलकेशिन-II का सैन्य अभियान असफल रहा।

संघर्ष में एक नए चरण की शुरुआत की पल्लव नरसिंहवर्मन-I ने। चालुक्यों पर आक्रमण कर उन्होंने बादामी पर कब्जा कर लिया और *वातापिकोण्ड* ('वातापी का विजेता') की उपाधी ली। बादामी में मल्लिकार्जुनदेव मंदिर के पीछे एक पत्थर पर नरसिंहवर्मन-I के 13वें शासन-वर्ष में उत्कीर्ण एक अभिलेख बादामी पर उनकी विजय तथा *वातापिकोण्ड* की उपाधी ग्रहण करने के तथ्य की पुष्टि करता है। इस युद्ध में पुलकेशिन-II की मौत के बाद चालुक्य राज्य संकट से घिर गया जब सामंतों तथा पुलकेशिन-II के दो पुत्रों ने स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर दिया। अंत में पुलकेशिन-II के एक और पुत्र विक्रमादित्य-I (654/55-81 ईस्वी) अपने मामा दुर्विनीत की मदद से नरसिंहवर्मन-I को खदेड़ने, अपने भाईओं और विद्रोही सामंतों को हराने और राज्य की एकता कायम रखने में सफल हुए। उन्होंने स्वयं को 654-55 ईस्वी में एकीकृत चालुक्य राज्य का शासक घोषित किया और अपने वफ़ादार भाई जयसिंहवर्मन को लाट (दक्षिणी गुजरात) का राज्यपाल बनाया। जयसिंहवर्मन व उनके वंशजों लाट चालुक्य के नाम से जाना गए।

अपने राज्य में लौटने के बाद नरसिंहवर्मन-I ने दो नौसैनिक अभियान भेजकर मानवर्मा को श्रीलंका का राजा बनने में मदद की, पर जल्द ही मानवर्मा ने श्रीलंका का राज्य खो दिया और पल्लवों के राजनीतिक आश्रय में चले गए। नरसिंहवर्मन-I को चोलों, चेरों, कलभ्रों और पाण्ड्यों को हराने का श्रेय दिया गया है, पर इन युद्धों के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। नरसिंहवर्मन-I स्थापत्य के एक उत्साही संरक्षक के रूप में भी जाने जाते हैं; मामल्लपुरम का बंदगाह और रथों के नाम से प्रसिद्ध मंदिरों के निर्माण का श्रेय उन्हें जाता है।

नरसिंहवर्मन-I की मौत (668 ईस्वी) के बाद उनके पुत्र महेंद्रवर्मन-II (660-70 ईस्वी) के छोटे शासन-काल में चालुक्य विक्रमादित्य-I के साथ युद्ध हुआ, जिसमें महेंद्रवर्मन-II की हार और मौत हुई। महेंद्रवर्मन-II के पुत्र परमेश्वरवर्मन-I (670-700 ईस्वी) के शासन-काल की शुरुआत में ही विक्रमादित्य-I ने पाण्ड्य शासक अरिकेसरि मारवर्मन की मदद से दोबारा पल्लव राज्य पर आक्रमण कर दिया और कांची के पास पहुंच गए। परमेश्वरवर्मन-I ने कांची से पलायन किया और विक्रमादित्य-I ने उरैयूर में पड़ाव डाला। परमेश्वरवर्मन-I ने एक बड़ी सेना इकट्ठा कर विक्रमादित्य-I के मित्र गंग शासक भूविक्रम से युद्ध किया, पर पराजित हुए। हतोत्साहित न होकर, उन्होंने शत्रु का ध्यान भटकाने के लिए एक सैन्य अभियान चालुक्य राज्य में भेजा, और स्वयं उरैयूर के पास पेरुवलनल्लूर में आक्रमणकारी पल्लव सेना से युद्ध किया और उसे हरा दिया। चालुक्य सेना विक्रमादित्य-I के पुत्र और पौत्र, विनयादित्य और विजयादित्य, को हराकर काफ़ी लूट की सम्पत्ति लेकर लौटी। दूसरी तरफ़, विक्रमादित्य-I को पल्लव क्षेत्र छोड़कर अपने राज्य लौटना पड़ा। दोनों तरफ़ भारी जानोमाल का नुकसान हुआ, क्योंकि दोनों का सैन्यबल लगभग समान था।

अगले पाँच दशकों तक, यानी चालुक्य शासक विनयादित्य (681-96 ईस्वी) और विजयादित्य (696-734 ईस्वी) तथा उनके समकालीन पल्लव शासक नरसिंहवर्मन-II राजसिंह (700-28 ईस्वी) के शासन कालों में युद्ध-विराम और शांति रही। पर चालुक्य विजयादित्य के लम्बे शासन काल और पल्लव परमेश्वरवर्मन-II के छोटे शासन काल (728-31 ईस्वी) के अंत में संघर्ष पुनरुज्जीवित हुआ, जब चालुक्य युवराज विक्रमादित्य (जो बाद में विक्रमादित्य-II बने) ने गंग शासक श्रीपुरुष के पुत्र ऐरेयप्प की मदद से पल्लव राज्य आक्रमण किया। विक्रमादित्य ने परमेश्वरवर्मन-II को भारी शान्ति-मूल्य देने के लिए मजबूर किया। परमेश्वरवर्मन-II की इस हार का बदला लेने की कोशिश विफल हुई जब श्रीपुरुष से साथ विलन्दे के युद्ध में उनकी मौत हो गई। बिना वारिस के परमेश्वरवर्मन-II की मौत होने पर पल्लव राज्य में उत्तराधिकार का संकट आ गया, पर राज्य के अधिकारियों (*मात्र*) ने, विद्वान ब्राह्मणों की मण्डली (*घटिका*) व प्रजा (*मूलप्रकृति*) के सहयोग से, संपार्श्विक वंश (*collateral line*) के एक 12 साल के राजकुमार नंदिवर्मन-II पल्लवमल्ल (731-96 ईस्वी) को राजा चुना। इस घटना का वर्णन नंदिवर्मन-II द्वारा निर्मित कांची के वैकुण्ठपेरुमाल मंदिर के अलंकृत पट्टिकों तथा कुछ ताम्र-पत्र अभिलेखों से मिलता है।

पाण्ड्य शासक मारवर्मन राजसिंह-I (730-65 ईस्वी), चालुक्य विक्रमादित्य-II के साथ संधि कर, नंदिवर्मन-II के प्रतिस्पर्धी चित्रमाय का पल्लव सिंहासन पर दावे का समर्थन करते हुए नंदिवर्मन-II को कई युद्धों में हराया और नंदिग्राम (वर्तमान नंदिपुरम) नामक जगह पर उनका घेराव किया। पर पल्लव सेनापति उदयचंद्र ने पाण्ड्य सेना की घेरे को तोड़कर नंदिवर्मन-II को मुक्त किया, चित्रमाय को मारा और पल्लव सिंहासन को नंदिवर्मन-II के लिए सुरक्षित किया। उदयचंद्र ने नंदिवर्मन-II के अन्य शत्रुओं को भी परास्त किया, जिनकी शायद चालुक्य विक्रमादित्य-II से

मिलीभगत थी। विक्रमादित्य-II (733/34-744/45 ईस्वी) ने 733/34 ईस्वी में सिंहासनारूढ़ होने के तुरंत बाद ही, 735 ईस्वी में गंग सामंत श्रीपुरुष के साथ पल्लव राज्य आक्रमण किया और नंदिवर्मन-II को हराकर कांची पर कब्जा किया। पर विक्रमादित्य-II ने कांची को क्षति नहीं पहुंचाई, बल्कि वहां के निवासीओं को प्रचुर उपहारों से संतुष्ट किया और कैलाशनाथ व सारे मंदिरों का सोना लौटा दिया। कैलाशनाथ मंदिर के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण एक कन्नड़ अभिलेख में अपनी दानशीलता और अतीत में पल्लव नरसिंहवर्मन-I द्वारा बादामी-विजय के अपमान को मिटाने की अपनी इच्छा का जिक्र किया है। इसके बाद विक्रमादित्य-II अपने राज्य लौट गए। यहाँ उल्लेखनीय है कि पल्लव और चालुक्य दोनों ने एक-दूसरे के क्षेत्र पर स्थायी रूप से अधिकार करने की कोई प्रवृत्ति नहीं दिखाई। अपने शासन काल के अंत में विक्रमादित्य-II ने अपने पुत्र कीर्तिवर्मन (जो बाद में कीर्तिवर्मन-II बने) के नेतृत्व में पल्लवों के विरुद्ध एक और सफल सैन्य अभियान भेजा, और कीर्तिवर्मन कई हाथीओं व काफ़ी सोने व जवाहरात के साथ लौटे।

विक्रमादित्य-II के पुत्र कीर्तिवर्मन-II (744/45-55 ईस्वी) बादामी चालुक्य वंश के अंतिम शासक थे। कीर्तिवर्मन-II और उनके गंग सामंत श्रीपुरुष का संघर्ष पाण्ड्य शासक मारवर्मन राजसिंह-I के साथ हुआ, जब मारवर्मन ने पाण्ड्य शासन कोंगु क्षेत्र और उससे आगे बढ़ाने की कोशिश की। वेण्बै के युद्ध में मारवर्मन ने कीर्तिवर्मन-II और श्रीपुरुष को हराया, पर उनसे सुलह की और अपने पुत्र का विवाह गंग राजकुमारी से करवाया (750 ईस्वी)। इस संघर्ष में कीर्तिवर्मन-II के राज्य के दक्षिणी क्षेत्र पाण्ड्यों के कब्जे में चले गए। उनकी शक्ति को और भी तेजी से क्षीण कर रहे थे बादामी चालुक्यों के भूतपूर्व सामंत राष्ट्रकूट दंतिदुर्ग (752-56 ईस्वी) जिन्होंने मालवा के गुर्जरो, कोसल और कलिंग के शासकों तथा रायलसीमा के तेलंगु-चोलों को पराजित कर अपनी शक्ति का विस्तार किया। चालुक्यों के बाहरी प्रांतों पर कब्जा करने के बाद दंतिदुर्ग ने 752/53 ईस्वी में कीर्तिवर्मन-II पर आखरी चोट की और स्वयं को दक्कन का संप्रभू शासक घोषित किया। दंतिदुर्ग ने कांची भी आक्रमण किया, पर नंदिवर्मन-II के साथ संधि कर ली, जिसके तहत उन्होंने अपनी पुत्री रेवा का विवाह नंदिवर्मन-II के साथ करवाया।

नंदिवर्मन-II पल्लवमल्ल ने चालुक्यों के 760 ईस्वी में गंग सामंत श्रीपुरुष को हराकर काफ़ी सम्पत्ति देने पर मजबूर किया। कुछ गंग क्षेत्रों को छीन कर उन्होंने अपने बान सामंत जयनंदिवर्मन को दे दिया। पर वह 767 ईस्वी में कावेरी के दक्षिणी तट पर पेण्णागडम के युद्ध में पाण्ड्य मारवर्मन राजसिंह-I के पुत्र परांतक नेडुंजडैयन या वरगुणमहाराज-I (765-815 ईस्वी) से हार गए। नंदिवर्मन-II ने पाण्ड्यों की बढ़ती शक्ति को रोकने के लिए उनके विरुद्ध कोंगु, केरल और तगडूर (वर्तमान धर्मपुरी, तमिल नाडु) के शासकों के साथ गठबंधन किया। पर वरगुणमहाराज-I ने नंदिवर्मन-II के मित्र-शासकों को हराकर कोंगु क्षेत्र पर कब्जा किया और पल्लव राज्य के काफ़ी अंदर प्रवेश कर तंजोर ज़िले में इडवई में अपनी छावनी स्थापित की। अतः पाण्ड्यों के विरुद्ध नंदिवर्मन-II का गठबंधन विफल हो गया और वह पाण्ड्यों को रोकने में असफल हुए। इसके बाद वरगुणमहाराज-I ने दक्षिणी केरल यानी वेणाड पर अधिकार किया। वरगुणमहाराज-I के पुत्र श्रीमार श्रीवल्लभ (815-62 ईस्वी) ने सेन-I (821-51 ईस्वी) के शासन-काल में श्रीलंका आक्रमण किया और राजधानी अनुराधपुर को ध्वस्त कर दिया, पर अंत में सेन-I से शांति समझौता कर सेना समेत श्रीलंका छोड़ दिया।

पल्लव नंदिवर्मन-II के पुत्र दंतिवर्मन (796-847 ईस्वी) को न केवल राज्य के दक्षिणी इलाक़े विस्तारवादी पाण्ड्य शासक वरगुणमहाराज-I और श्रीमार के हाथों खोना पड़ा बल्कि उत्तर में राष्ट्रकूटों की बढ़ती शक्ति का सामना

करना पड़ा। राष्ट्रकूट राज्य में निःसंतान दंतिदुर्ग के मौत के बाद उनके चाचा कृष्ण-I (756-75 ईस्वी) ने बादामी चालुक्यों को खत्म करने का कार्य पुरा किया और नए राज्य का विस्तार सारी दिशाओं में किया। उन्होंने दक्षिणी कोंकन जीतकर शिलार वंश को सामंत-शासक के रूप में स्थापित किया और गंग शासक श्रीपुरुष को हराकर अपने अधीन किया। उन्होंने वेंगी के पूर्वी चालुक्य शासक विजयादित्य-I के विरुद्ध एक सैन्य अभियान भेजा, और विजयादित्य-I ने बिना युद्ध के समर्पण कर दिया। एलोरा में उन्होंने प्रसिद्ध कैलाश मंदिर भी बनवाया। उनके पुत्र गोविन्द-II (775-80 ईस्वी) ने श्रीपुरुष के पुत्र शिवमार-II को उनके भाई दुग्गमार एरेयप्प के विरुद्ध गंग सिंहासन दिलाने में नंदिवर्मन-II की मदद की। अपने भाई ध्रुव के विरुद्ध गोविन्द-II ने पल्लव व गंग शासकों तथा वेंगी व मालवा के शासकों की मदद ली, पर ध्रुव (780-92 ईस्वी) सबको हराकर राजा बन गए। उन्होंने गंग शिवमार-II को बन्दी बना लिया, पल्लव शासक नंदिवर्मन-II से हाथियों का भेंट वसुल किया, मालवा के गुर्जर शासक वत्सराज को मरुस्थल में खदेड़ दिया, और वेंगी के पूर्वी चालुक्य शासक विष्णुवर्धन-IV को शांति-सम्झौता मानने पर मजबूर किया, जिसके तहत उन्हें अपने कुछ क्षेत्र और अपनी बेटी शीलमहादेवी देनी पड़ी। उन्होंने बंगाल के पाल शासक धर्मपाल को भी गंगा-यमुना दोअब में परास्त किया। उनके पुत्र गोविन्द-III (792-814 ईस्वी) ने अपने सत्ता के दावेदार भाईओं और उनके मित्र-शासकों का विद्रोह दमन कर उत्तर में मालवा के गुर्जर शासक नागभट-I, कनौज के शासक चक्रायुध तथा उनके संरक्षक पाल शासक धर्मपाल को भी हराया। दक्षिण में पल्लव राजधानी कांची पर आक्रमण कर दंतिवर्मन को हराया, पर वापस लौटकर तुंगभद्रा नदी के तट पर रामेश्वर-तीर्थ में अपना शिविर स्थापित किया।

दंतिवर्मन के लम्बे शासन-काल में पल्लवों का क्षेत्र उत्तर से राष्ट्रकूटों और दक्षिण से पाण्ड्यों के आक्रमणों से सिकुड़ गया। पाण्ड्यों के मित्र तेलुगु-चोल शासक श्रीकण्ठ ने भी पल्लवों का मूल क्षेत्र तोण्डईमण्डलम् तक अपना क्षेत्रिय विस्तार किया। दंतिवर्मन के पुत्र नंदिवर्मन-III (846-69 ईस्वी) ने गंगों, राष्ट्रकूटों और कावेरी-नदीमुख क्षेत्र में नई राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरते तमिल-चोलों की सहायता से पाण्ड्य श्रीमार श्रीवल्लभ और तेलुगु-चोल श्रीकण्ठ को तेल्लरु के युद्ध में हराया। लेकिन श्रीमार ने अपनी खोई शक्ति वापस पा ली और 859 ईस्वी में नंदिवर्मन-III और उनके मित्र-शासकों को कुम्बकोनम के युद्ध में पराजित किया। नंदिवर्मन-III के पुत्र नृपतुंगवर्मन (859-99 ईस्वी) ने अरिशिल नदी के तट पर पाण्ड्यों को हराकर पिता की हार का बदला लिया। इसी युद्ध के दौरान श्रीलंका के शासक सेन-II (851-55 ईस्वी) ने, जो पल्लवों के साथ मिले हुए थे, पाण्ड्यों के विरुद्ध एक सफल सैन्य अभियान भेजकर मदुरई ध्वस्त कर दिया। युद्ध में श्रीमार की मौत हो गई और उनके पुत्र वरगुणवर्मन-II (862-85 ईस्वी) को श्रीलंका के सेनानायक ने सिंहासन पर बिठाया। वरगुणवर्मन-II ने पल्लव नृपतुंगवर्मन का आधिपत्य स्वीकार किया। जब पल्लव, पाण्ड्य, और राष्ट्रकूट वर्जस्व के लिए युद्ध-रत थे, निचली कावेरी प्रदेश में विजयालय चोल () ने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। उनके उत्तराधिकारी आदित्य-I (871-907 ईस्वी) ने श्रीपेरुम्बियम के युद्ध (885 ईस्वी) में पल्लव नृपतुंगवर्मन और उनके पाण्ड्य मित्र-शासक वरगुणवर्मन-II को हराने में नृपतुंगवर्मन के सौतेले भाई अपराजित की मदद की और तंजौर का कुछ हिस्सा हासिल कर लिया। आदित्य-I ने 893 ईस्वी में तोण्डईमण्डलम् पर आक्रमण कर अपराजित की हत्या कर दी। इसी के साथ पल्लव शासन का अंत हो गया और पूरा पल्लव क्षेत्र (तोण्डईमण्डलम्) चोल राज्य में सम्मिलित हो गया। उसके बाद उन्होंने कोंगु-प्रदेश पाण्ड्यों से छीन लिया और गंग राजधानी तालकड पर कब्जा कर लिया। आदित्य-I के उत्तराधिकारी परांतक-I (907-953 ईस्वी) ने गंग शासक, कोदुम्बलुर सरदारों और

केरल के शासक की मदद से कई सैन्य सफलताएं पाईं। मदुरई कब्जा कर उन्होंने मदुरईकोण्डा और मदुरांतक की उपाधियां लीं। वेल्लुर के युद्ध में उन्होंने पाण्ड्यों और श्रीलंका की संयुक्त सेनाओं को हराया और पाण्ड्यों के एक बड़े क्षेत्र पर कब्जा किया। पर इन सफलताओं के बावजूद 949 ईस्वी में वह तक्कोलम के युद्ध में राष्ट्रकूट कृष्ण-III से बुरी तरह हार गए। सुंदर चोल परांतक-II (957-73 ईस्वी) जैसे शासकों के काल में चोल-शक्ति पुनरुज्जीवित हुई। सुंदर चोल ने पाण्ड्य-श्रीलंका की संयुक्त सेना को हराया और श्रीलंका पर आक्रमण किया। उत्तम चोल (973-85 ईस्वी) के सिंहासन पर बैठने के समय तक राष्ट्रकूटों से तोण्डईमण्डलम् मुक्त करा लिया गया था। चोल शक्ति का चरम-बिंदु था राजराज-I (985-1014 ईस्वी) का शासन काल। उनके शासन काल से लेकर 13वीं शताब्दी तक चोल दक्षिण भारत का सबसे शक्तिशाली राज्य बना रहा। उनकी सफल सैन्य अभियानों की लम्बी श्रृंखला ने पाण्ड्य और केरल तथा श्रीलंका के शासकों के मजबूत संघ को नष्ट कर दिया। उनके एक सफल नौसैनिक अभियान ने श्रीलंका के उत्तरी प्रांत को चोल राज्य का हिस्सा बना लिया। उन्होंने पश्चिमी चालुक्यों और राष्ट्रकूटों को भी पराजित किया और अपने शासन के अंतिम दौर में मालदीव पर कब्जा किया। चोलों के क्षेत्रिय विस्तार का सिलसिला उनके उत्तराधिकारी राजेंद्र-I (1012-44 ईस्वी) के नेतृत्व में चलता रहा। उन्होंने श्रीलंका और केरल के शासकों तथा पश्चिमी चालुक्यों को पराजित किया और गंगईकोण्डचोलपुरम् नामक एक नई राजधानी बनाई। 1025 ईस्वी में उन्होंने मलाय प्रायद्वीप के श्रीविजय शासकों के विरुद्ध एक सफल नौसैनिक बेढ़ा भेजा। परवर्ती चोल शासकों ने भी छिट-पुट सैन्य अभियान चलाए पर चोलों का वर्जस्व कुलोत्तुंग-I (1070-1122 ईस्वी) के शासन काल के बाद खत्म हो गया। उनके शासन काल में व्यापारियों का एक प्रतिनिधि-मण्डल चीन भेजा गया, श्रीविजय राज्य के साथ समृद्धशाली वाणिज्यिक संबंध बना रहा, लेकिन शासन काल के उत्तरार्ध में उन्हें चालुक्यों और होयसलों का सामना करना पड़ा। विक्रमचोल (1118-35 ईस्वी) के काल में चोल शक्ति का पुनरुत्थान देख गया; उन्होंने वेंगी पर चोलों का नियंत्रण पुनर्स्थापित किया। कुलोत्तुंग-II, राजराज-II और कुलोत्तुंग-III प्रायः अंतिम शासक गिने जाते हैं। 13वीं शताब्दी में चोल वंश का पतन हो गया।

3.5 राज्य और प्रशासन

3.5.1 राजसत्ता और राज्य का स्वरूप

संगम काल के छोटे राज्यों की तुलना में छठी शताब्दी में दक्षिण भारत पर वर्जस्व के लिए संघर्ष करने वाले बड़े राज्यों में राजत्व और शासन-कला का स्वरूप बहुत अलग था। उत्तर भारत की ब्राह्मणवादी राजनीतिक संस्कृति का प्रभाव दक्कन व दक्षिण भारत के शासकों द्वारा अपनी सत्ता को वैधानिकता प्रदान करने के तरीकों में देख जा सकता है, जैसे आडम्बरपूर्ण संस्कृत उपाधियां धारण करना; महाकाव्यों-पुराणों के सूर्य-वंश और चंद्र-वंश से अपनी उत्पत्ति का दावा करना; ब्राह्मण, क्षत्रिय या ब्रह्मक्षत्र (संयुक्त ब्राह्मण-क्षत्रिय) वंशपरम्परा से जुड़ा होने का दावा करना; *अश्वमेध*, *राजसूय*, *तुलापुरुष*, *हिरण्यगर्भ* जैसे वैदिक यज्ञों का आयोजन करना; ब्राह्मणों और मंदिरों को प्रचुर भूमिदान एवं अन्य अनुदान देना आदि। यह प्रवृत्ति आरम्भिक रूप में सातवाहन-काल से ही दक्कन में विद्यमान थी (सातवाहन अभिलेखों में शासकों द्वारा *अश्वमेध* आदि यज्ञों के अनुष्ठान का उल्लेख है) और बाद में दक्कन और दक्षिण भारत में पल्लव, चालुक्य, पाण्ड्य, राष्ट्रकूट और चोल वंशों में सुदृढ़ हुई।

आरम्भिक पल्लव शासक शिवस्कंदवर्मन के एक प्राकृत ताम्र-पत्र अभिलेख में जिक्र है उनकी भव्य उपाधी *धर्म-महाराजाधिराज* ('महान राजाओं के धार्मिक अधिपति') का, उनके द्वारा कुछ ब्राह्मणों को दिए गए एक पूर्व अनुदान की पुष्टि का, तथा उनके द्वारा *अश्वमेध* और अन्य वैदिक यज्ञों के आयोजन का। पल्लव स्वयं को भारद्वाज गोत्र का ब्राह्मण मानते थे, अपना उद्भव ब्रह्मा से होने का दावा करते थे और अपनी वंशावली में अंगिरस्, बृहस्पति, शम्यू, भरद्वाज, द्रोण, अश्वत्थामा आदि को पूर्वजों के रूप में सूचीबद्ध किया था। पल्लव नंदिवर्मन-II ने उत्तर से कई वेदज्ञ ब्राह्मणों को आमंत्रित किया तमिल क्षेत्र में *ब्रह्मदेयों* की स्थापना के लिए। पल्लव शासक *धर्म-महाराज*, *धर्म-महाराजाधिराज*, *महाराजाधिराज* और *महाराज* आदि उपाधियों के साथ-साथ राज्याभिषेक के समय *अभिषेकनाम* भी लेते थे।

छठी शताब्दी में दक्कन में चालुक्य वंश के संस्थापक पुलकेशिन-I को बाद के अभिलेखों में *धर्म-महाराज* ('महान धार्मिक राजा') और *रणविक्रम* ('युद्ध में परक्रमी') जैसी उपाधियां दी गई हैं और *अश्वमेध*, *हिरण्यगर्भ* आदि वैदिक यज्ञों का आयोजक बताया गया है। चालुक्य अपने अभिलेखों में स्वयं को मानव्य गोत्र के हरितिपुत्र के रूप में ब्राह्मण मूल का बताते हैं। चालुक्य शासक शुरुआत में *श्री-पृथिवीवल्लभ-महाराज* की उपाधी लेते थे; पुलकेशिन-II द्वारा हर्षवर्धन पर विजय के बाद *परमेश्वर* तथा *विक्रमादित्य-I* के शासन-काल में *महाराजाधिराज* और *भट्टारक* जैसी उपाधियां भी जुड़ गईं।

पाण्ड्य स्वयं को चंद्रवंशी मानते थे। पाण्ड्य शासक अरिकेसरि मारवर्मन ने वैदिक *हिरण्यगर्भ* यज्ञ का आयोजन किया। राष्ट्रकूटों ने अपने कुछ ताम्र-पत्र अभिलेखों में स्वयं को यदु का वंशज बताया है (महाकाव्यों और पुराणों में यदु ययाति के पुत्र और कृष्ण के पूर्वज के रूप में जाने जाते हैं)। कई अन्य उपाधियों में शासकों का क्षत्रिय मूल प्रतिबिम्बित होता है, जैसे राजराज चोल की *क्षत्रिय-शिखामणि* की उपाधी। कई शासकों के नाम के साथ '*वर्मन*' जुड़ा था, जिसे *मनुस्मृति* जैसे ब्राह्मणवादी शास्त्रों में क्षत्रियों के लिए प्रस्तावित किया है।

चोल अभिलेखों में राजा के लिए *को* (राजन्), *पेरुमाल/पेरुमन्* (महान) के साथ साथ अतिशयोक्ति-पूर्ण उपाधियां प्रयुक्त हुई हैं, जैसे *राज-राजाधिराज* और *को-कोन्मई* (राजाओं के राजा)। उनको महान योद्धा और विजेता, वर्णाश्रमधर्म का संस्थापक, कलियुग के कलुष-हर्ता, अति-उदार दानकर्ता और कला के महान संरक्षक के रूप में चित्रित किया गया है। इसके अलावा उनकी तुलना अक्सर देवताओं से की गई है। चोल स्वयं को सूर्यवंशी मानते थे। हालांकि चेर अभिलेखों में प्रशस्ति और वंशावली की कमी नजर आती है, परवर्ती साहित्यिक परम्पराओं में ब्राह्मणों और मंदिरों के महत्व का वर्णन उनके वंश की उत्पत्ति के संदर्भ में किया गया है। उदाहरण के लिए, *पेरियपुराणम्* के अनुसार एक मंदिर में बैठे चेरामन पेरुमाल को लोगों ने नगर में लाकर उनका राज्याभिषेक किया; 16वीं शताब्दी की *केरलोल्पत्ती* में ब्राह्मणों के राजा को राजगद्दी संभालने के लिए आमंत्रित करने की प्रथा का उल्लेख है।

हालांकि मध्यकालीन राजकीय अभिलेखों के माध्यम से उत्तर भारत की ब्राह्मणवादी परम्पराएं अखिल भारतीय स्तर पर सर्वमान्य से प्रचलित थीं, किंतु पाण्ड्य अभिलेखों में स्थानीय तमिल परम्पराओं भी स्थान मिला। उदाहरण के लिए, इनके अभिलेखों में दावा किया गया है कि इनके शासकों ने राजकीय प्रतीक चिह्न, जुड़वा मछलियों को मेरु या हिमालय पर्वत की चोटी पर उत्कीर्ण करवाया था, कि अगस्त्य ऋषि ने इनके शासकों का राज्याभिषेक किया था और तमिल भाषा का ज्ञान दिया था, तथा इन्होंने मदुरई की स्थापना की और संगम का आयोजन करवाया।

इसके अलावा यह भी उल्लेखनीय है कि पाण्ड्य ताम्रपत्रों में संस्कृत में लिखित अंश के बाद तमिल का प्रयोग हुआ है और कई बार तमिल में लिखित अंश ज्यादा विस्तृत है।

राजनीतिक सत्ता को वैधानिकता प्रदान करने के लिए उत्तर भारतीय ब्राह्मणवादी परम्पराओं से उद्धृत तरीकों का दक्कन और दक्षिण भारत के राजवंशों में छठी शताब्दी से ज्यादा प्रचलन होने का कारण हिंदुधर्म और भक्ति आंदोलन का द्रुत विस्तार है। हालांकि छठी शताब्दी से पूर्व संगम/सातवाहन/आदि पल्लव कालीन शासक ब्राह्मणवादी राजनीतिक आचारों का पालन करते थे, बौद्ध-धर्म, जैन-धर्म और अन्य स्थानीय गैर-ब्राह्मणवादी धार्मिक परम्पराओं का भी उन पर काफ़ी प्रभाव था। पर 5वीं-6ठीं शताब्दी में उत्तर भारत से वैदिक-ब्राह्मणवादी-पौराणिक परम्पराओं और मंदिर-केंद्रित अनुष्ठानों से सम्मनित हिंदुधर्म के आगमन और इसके साथ विभिन्न स्थानीय धार्मिक परम्पराओं का समावेश के कारण दक्षिण भारत में धार्मिक तथा राजनीतिक परिवेश में काफ़ी परिवर्तन हुए। शिव, स्कंद/कातिकेय और विष्णु जैसे नए हिंदु देवताओं को मुरुगन, मैयोन, कोरवई जैसे पारम्पारिक स्थानीय देवी-देवताओं से जोड़ा गया। हिंदु देवताओं से संयुक्त इन स्थानीय देवताओं से जुड़े पारम्पारिक पवित्र स्थलों में मंदिरों का निर्माण या जीर्णोद्धार हुआ। अन्य स्थलों में भी, जिनका कोई ऐसा पारम्पारिक धार्मिक महत्व नहीं था, शिव और विष्णु के कई मंदिर बनवाए गए। उत्तरी और दक्षिणी सांस्कृतिक परम्पराओं के समन्वय का एक और द्योतक है इस काल के अभिलेखों में संस्कृत और तमिल दोनों भाषाओं का प्रयोग। तमिल क्षेत्र में लोगों ने भी स्थानीय धार्मिक परम्पराओं से सम्मिश्रित इस हिंदुधर्म को उत्साह से अपनाया। परिणाम-स्वरूप इस क्षेत्र में शैव-वैष्णव भक्ति पर केंद्रित एक धार्मिक आंदोलन का विकास और विस्तार हुआ। इसका प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र में भी दिखा, जिसका उदाहरण हैं कुछ शासकों का धर्मान्तरण। भक्ति-साहित्य में पल्लव शासक महेंद्रवर्मन-II और पाण्ड्य शासक नेदुमरन या अरिकेसरि मारवर्मन द्वारा भक्ति संत अप्पर और सम्बंदर के प्रभाव में आकर जैन-धर्म त्यागकर शैव-धर्म अपनाने की कथाएं वर्णित हैं। इसी संदर्भ में दक्षिण भारत के राजत्व तथा राजनीतिक संस्कृति में उत्तर भारतीय संस्कृति के प्रभाव से हुए द्रुत परिवर्तनों को समझा जा सकता है।

इस बदलती राजनीतिक संस्कृति में राज-सत्ता की वैधानिकता और राज-शक्ति की सीमा से जुड़े कुछ मुद्दे विचारनीय हैं, जैसे राजा और ब्राह्मणों का आपसी संबंध, तथा राजा का प्रांतीय/स्थानीय प्रशासन व शासकों से संबंध। राजसूय यज्ञ में प्रतिबिम्बित राजा और ब्राह्मण के संबंध का सही स्वरूप काफ़ी विवाद का विषय रहा है। सैद्धांतिक स्तर पर राजा उच्चतर है या ब्राह्मण—इस पर विद्वानों में मतभेद है। जे. सी. हीस्टमैन के अनुसार राजा की राजनीतिक सत्ता और ब्राह्मण की धार्मिक/आध्यात्मिक सत्ता एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न और परस्पर-विरोधी है, और सैद्धांतिक रूप से वर्जस्व या श्रेष्ठता के लिए उनके आपसी संघर्ष का कोई हल न होने के कारण भारत में राजत्व का एक अविरोधी सुसंगत सिद्धांत नहीं बना। पर डेवीड शुल्मन के अनुसार ब्राह्मण की आध्यात्मिक शक्ति और राजा का सामरिक व प्राशासनिक कौशल स्थायी रूप से भिन्न या परस्पर-विरोधी नहीं बल्कि परस्पर-निर्भर, परस्पर-भेदी और परस्पर-प्रभावी है। राजा और ब्राह्मण के वैचारिक संबंध चाहे कुछ भी हो, इतिहास दर्शाता है कि उनके वास्तविक संबंध परस्पर-निर्भर थे। राजा को अपने प्रभूत्व को वैधता देने के लिए ब्राह्मणों की जरूरत थी, और ब्राह्मणों को अपनी आजीविका के लिए राजा के संरक्षण पर निर्भर रहना पड़ता था। यही विशिष्ट संबंध इस काल के राजकीय अभिलेखों में राजाओं की दैवीय उत्पत्ति-मिथकों से सम्मनित वंशावलीयों, उनके द्वारा आयोजित यज्ञानुष्ठानों,

और ब्राह्मणों को दिए गए प्रचुर विशेषाधिकार समेत भूमिदानों के उल्लेख से, और काफ़ी संख्या में *ब्रह्मदेयों* की स्थापना से स्पष्ट होता है।

राजा और ब्राह्मणों के संबंध के अलावा राजत्व का अन्य ऐतिहासिक आयाम है शासक की राजनीतिक सत्ता का विस्तार-क्षेत्र, विशेषतः राज्य के केंद्र में सतारुढ़ शासक का प्रांतीय/स्थानीय प्रशासन व शासक वर्गों के साथ संबंध, जिसे केंद्र और परिधि का संबंध भी कहा जाता है। एक तरफ़ बर्टन स्टार्न चोल राज्य के संदर्भ में यह तर्क देते हैं कि राजा के पास धार्मिक सत्ता तो थी, पर राजनीतिक शक्ति नहीं थी। दूसरी तरफ़ निकोलस डेक्स दोनो के सह-संबंध पर जोर देते हैं। चेर, पल्लव व चोल राज्यों की परिधि में अनेक स्थानीय शासक भी सम्मिलित थे (हालांकि पाण्ड्य राज्य में इनकी भूमिका नगण्य प्रतीत होती है; सिर्फ़ *अय* नामक प्रमुखों का ही उल्लेख है)। एक दृष्टिकोण के अनुसार, ऐसे स्थानीय प्रमुख शासकों द्वारा राज्य के विभिन्न प्रमण्डलों में गवर्नरों/राज्यपालों के रूप में नियुक्त किए जाते थे, पर वास्तव में ये अधीनस्थ सामंत प्रतीत होते हैं, जो प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल से ज्ञात स्थानीय मुखिया या सरदारों की ही तरह थे, या कुछ स्थितियों में उनके ही वंशज रहे होंगे। अवसर आने पर अपने अधिपतियों को सैन्य-बल मुहैया करते थे। ये अधिपतियों को नज़राना भी पेश करते थे और उनके दरबारों में मौजूद रहते थे। ये आपस में तथा अपने अधिपतियों से साथ वैवाहिक संधियों से जुड़े थे। उदाहरण के रूप में, चोल साम्राज्य में शासकों का प्रत्यक्ष अधिकार-क्षेत्र था चोलमण्डलम् जिसमें वर्तमान तमिल नाडु के तंजौर और तिरुचिरापल्ली ज़िले के कुछ हिस्से पड़ते थे। चोल राज्य के इस मूल क्षेत्र के बाहर पल्लुवेत्तैयर, कोदुलम्बलुर के वेल, मिलाडु, बाण तथा गंग जैसे प्रमुखों का नियंत्रण था। चोल शासक की शक्ति और सामंतों के अभिलेखीय उल्लेखों में एक विपरीत संबंध प्रतीत होता है। 11वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, विशेषतः कुलोत्तुंग-I (1070-1122 ईस्वी) के शासन-काल के बाद, इनके अभिलेखीय उल्लेखों में वृद्धि इनकी बढ़ती हुई शक्ति और चोल शासक की घटती हुई शक्ति का द्योतक है।

3.5.2 प्रशासन

3.5.2.1 राजकुल और अधिकारी-वर्ग

पूर्वमध्यकाल में राजतंत्र ही एकमात्र वैध व स्वीकृत राजनीतिक व्यवस्था थी। सामान्यतः उत्तराधिकार वंशागत था, पर ज्येष्ठाधिकार हमेशा निश्चित नहीं था। ज्येष्ठ पुत्र के अलावा अन्य पुत्रों का सिंहासन का उत्तराधिकारी के रूप में चयन तथा उत्तराधिकार के लिए गृह-युद्ध के कई उदाहरण मिलते हैं दक्कन और दक्षिण के राजवंशों में। कभी कभी मंत्रियों तथा जनता की भी उत्तराधिकारी के चयन में भूमिका रहती थी, जैसे परमेश्वरवर्मन-II की मृत्यु पर पल्लव राज्य के अधिकारियों (*मात्र*), विद्वान ब्राह्मणों की मण्डली (*घटिका*) व प्रजा (*मूलप्रकृति*) ने संपार्श्विक वंश के राजकुमार नंदिवर्मन-II को राजा चुना।

राजवंशों के अपने ध्वज तथा मुहर (*लाञ्छन*) होते थे, जो उनके धार्मिक विश्वास का द्योतक थे। जैसे पल्लवों का मुहर ऋषभ (*ऋषभ-लाञ्छन*) था, जो उनके शैव-धर्म के अनुयायी होने का संकेत देता है। इन राजवंशों की कई रानीयों की राजनीतिक व धार्मिक जीवन में भूमिका थी। उदाहरण के लिए, राष्ट्रकूट शासक ध्रुव की पत्नी शिलभट्टारिका ने *परमेश्वरी* तथा *परमभट्टारिका* जैसे आड़म्बरपूर्ण उपाधियां ग्रहण की, भूमिदान किए तथा राज्य के अधिकारियों को आदेश जारी किए।

राजसभा के साथ जुड़े महत्वपूर्ण अधिकारियों में पुरोहित व राजा के सलाहकार होते थे। अभिलेखों तथा साहित्यिक स्रोतों में कई अधिकारियों का उल्लेख मिलता है, पर इन सभी के कार्यभार स्पष्ट नहीं है। तमिल भक्ति-साहित्य के अंतर्गत *तिरुनावुक्करसु-नायनूर-पुराणम्* नामक ग्रंथ और पल्लव शासक शिवस्कंदवर्मन के हिरहडगल्लि ताम्र-पत्र अभिलेख में *अमच्च/अमात्य* नामक उच्च-पदस्थ अधिकारियों का जिक्र है। पल्लव व चेर राज्य में मंत्रिमण्डल/मंत्रि-परिषद् के होने का पता चलता है, और पाण्ड्य अभिलेखों में मंत्रियों (*मन्त्रिण्*) की चर्चा की गई है जो सम्भवतः एक परिषद् के रूप में संगठित थे। कुछ अभिलेख उल्लेख करते हैं *वायिल केट्टपार* या *रहस्याधिकृत* का, जो शायद राजा के व्यक्तिगत सचिव/सेक्रेटरी थे, उनके मौखिक राजादेश (*राजश्रावितम्*) सुनकर लिपिबद्ध करते थे और इनकी जानकारी उपयुक्त अधिकारियों तक कार्यान्वयन के लिए पहुँचाते थे। अभिलेखों में इसके अलावा उल्लेख मिलता है *कोशाध्यक्ष* या राजकोश के अधीक्षक का, तथा कृषि-भूमि का सर्वेक्षण और मूल्यांकन करने वाले *मिलक्कलत्तार* और *अधिकारी* का। राज्य में राजा तथा न्यायपालिकाओं के आदेश कार्यान्वित करते थे *शासन-संचारिन्*, जिनका सहयोग करते थे *भट* या अधीनस्थ सिपाही। नीलकण्ठ शास्त्री जैसे विद्वानों के अनुसार विवादों के हल के लिए गाँवों, जातियों तथा शिल्पकार-वणिज संघों की अपनी-अपनी पंचायतों के अलावा *अधिकरण* या *धर्मासन* नाम के शाही या केंद्रीय न्यायालय थे जिनकी अध्यक्षता राजकीय अधिकारी न्यायज्ञ सलाहकारों के सहयोग से करते थे। पर यह सिद्धांत इस अवधारणा से प्रेरित हो सकता है कि सैद्धांतिक रूप से राजा ही सर्वोपरि न्यायिक अपीलीय अधिकारी था। ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तव में दैनिक न्याय-प्रशासन उर्, *सभा* जैसी स्थानीय के अधीन था।

ताम्र-पत्र दान-अभिलेखों का प्रारूप रचने वाले व्यक्तियों के नाम अभिलेखों के अंत में मिलते हैं, जिनमें से कुछ *महासंधिविग्रहक*, *करणिक*, *उत्तर-करणिक* और *परमोत्तर-करणिक* जैसे पदाधिकारी थे। अभिलेखों, विशेषतः प्रशस्ति-अभिलेखों, के रचयिता कुछ कवि भी थे, जैसे पल्लव शासक सिंहवर्मन के विलवेत्ति अभिलेख के रचयिता *अच्चुतन्* और नंदिवर्मन-II के तण्डंतोड्डम् अभिलेख के रचयिता परमेश्वर।

नोबोरु काराशिमा, वाई. सुब्बरयलु व तोरु मात्सुई द्वारा 1982 में तैयार की गई तमिल चोल अभिलेखों में व्यक्तिगत नामों, पदवियों और उपाधियों की समानुक्रमणिका यह दर्शाती है कि पल्लव-पाण्ड्य-चेर अभिलेखों की तुलना में चोल अभिलेखों में उल्लिखित पदों तथा पदाधिकारियों की काफ़ी संख्या ज़्यादा है, जो चोल-काल में, विशेषतः राजराज-I के शासन-काल (985-1016 ईस्वी) से, प्राशासनिक ढांचों और अधिकारी वर्ग में विस्तार का द्योतक है। पर कुलोत्तुंग-I के शासन-काल के बाद ऐसे उल्लेखों में कमी देखी जा सकती है, जो प्रशासन के संकुचन या पतन का सूचक है। प्राशासनिक अधिकारियों के लिए प्रयुक्त *आराईन्* उपाधि सम्मानित व्यक्तियों को दी जाती थी। दरबारी अधिकारियों के लिए प्रयुक्त *उडईयन्*, *वेलन्*, और *मूर्वेदवेलान्* जैसी उपाधियां संकेत करती हैं कि इन उपाधियों के धारक भूस्वामी थे। इसके अलावा ब्राह्मण *पुरोहित* तथा *राजगुरु* का भी उल्लेख मिलता है। चोल शासक के सचिव तथा अन्य अधिकारी थे: *तिरुमंदिर-ओलई* या *ओलई*, जो राज-लिपिक या राजा के व्यक्तिगत सचिव थे; *नडुविरुक्कड*, जो न्यायतंत्र-संबंधित विषयों के माहिर विद्वान ब्राह्मण थे; *उडन्कूड्डम्* यानी दरबारी अधिकारी; और *विडइयिल*, जो राज्य के दौरे पर रहते हुए राजादेश कार्यान्वित करते थे। अक्सर *अदिकारि* कहे जाने वाले इन उच्च-अधिकारियों की उपाधियों में तत्कालीन सत्तारूढ़ राजाओं के नाम उपसर्ग के रूप में लगते थे, जैसे *राजराज-मूर्वेदवेलान्*, *राजेंद्रचोल-*

ब्रह्मरायन्, कुलोत्तुंगचोल-पल्लवरायन् । सेनापति और दण्डनायकम् पद-धारी सैन्य अधिकारी भी ऐसी उपाधियां धारण करते थे। एक और महत्वपूर्ण अधिकारी थे श्रीकारियम् जो राज्य के लिए मंदिर-संबंधित विषयों का पर्यवेक्षण करते थे। उपरोक्त पदों में अधिकतर राजराज-I के काल तक बन चुके थे और चोल-काल के अंत तक बने रहे।

3.5.2.2 राजस्व प्रशासन

चालुक्य-पल्लव काल में राजस्व के स्रोत अर्थात् करों की जानकारी ब्राह्मणों, मंदिरों तथा बौद्ध-जैन संस्थाओं को दिए अनुदानों से संबंधित अभिलेखों में मिलती है। अभिलेखों में कृषि-उत्पाद में राज्य का भाग तो स्पष्ट रूप से उल्लिखित नहीं है, पर इरइ शब्द भूमि-कर (उत्पाद पर कर) और इरइयिलि शब्द कर-मुक्ति (विशेषतः धार्मिक अनुदानों के दृष्टान्तों में) के द्योतक है। अभिलेखों के परिहार-संबंधित अंश में कई करों का परोक्ष उल्लेख मिलता है। परिहार राजकीय अनुदान पाने वालों को दिए गए विभिन्न करों से छुट और अन्य विशेषाधिकार है। पल्लवों के आरम्भिक प्राकृत अभिलेखों में अ-लोणगुलछोभम् और बाद के तमिल अभिलेखों में उप्पुक्कोच्चेयगइ शब्द का अर्थ है 'नमक (लवण) की समस्याओं से मुक्त', जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि नमक उत्पादन पर राज्य का अधिकार था और इसके इस्तमाल पर कर देय था। इसी तरह अपरम्पराबलिवदम् शब्द का अर्थ है 'बैल (मुहैया कराने की बाध्यता/जिम्मेदारी) से मुक्त', जिससे यह पता चलता है कि दौरे पर अधिकारियों को बोझ ढोने वाले मवेशी मुहैया करवाना की सेवा एक तरह का कर था। राजस्व के अन्य स्रोत थे: ईलम्पूट्टि (पेशेवर ताड़ी बनाने वालों पर कर), ईडइपूट्टि (पशु-पालकों पर कर), ब्राह्मणराशक्काणम् (धार्मिक अनुष्ठानों में पौरहित्य करने वाले ब्राह्मणों पर कर), कल्लाणक्काणम् (विवाह के अवसर पर कर), कुशक्काणम् (कुम्हारों पर कर), तडुक्कायम् (सुनारों पर कर), विशक्काणम् (गाँव के मुखिया के दायित्वों के निर्वाह के लिए गाँव के निवासियों द्वारा देय कर), पारइक्काणम् (धोबियों पर लगाया गया कर, या धोबियों द्वारा कपड़े धोने के लिए सार्वजनिक तालाबों का या सार्वजनिक भूमि के पत्थरों का इस्तमाल करने पर देय कर), पुत्तगविलइ (कपड़े बेचने वालों पर कर या शिविर लगा कर रहने के लिए देय कर), पट्टिगइ-काणम् (नौका-यात्रा पर शुल्क या मल्लाहों पर कर), तरगु (दलाली से मुनाफे पर दलालों द्वारा देय कर), तरि (जुलाहों पर कर), पडाम्कलि (सूत काटने वालों पर कर), पट्टिनशोरि (मछुआरों पर कर), नाडुवगइ (गाँव द्वारा नाडु को देय कर), नेय-विलइ (घी बेचने वालों पर कर), कत्तक्काणम् (शस्त्र इस्तमाल करने वालों या बनाने वालों, यानी लोहारों पर कर), तथा एच्चोरु (इरइ वसूल करने वाले अधिकारियों के रखरखाव के लिए ग्रामवासियों द्वारा देय कर)। चोलों का राजस्व-विभाग काफ़ी बड़ा और सुसंगठित था, जो विशेष रूप से राजस्व का लेखा-जोखा रखता था। राजस्व-विभाग को पुरवुवरी कहा जाता था और इसके अंतर्गत कई कार्यालय, पद, दायित्व और विशेषताएं थी, जैसे पुरवुवरी-तिणइक्कल-कंकाणि या पुरवुवरी-तिणइक्कल-नायगम् (राजस्व-विभाग का लेखपाल-अध्यक्ष, वरिपोत्तगम् (कर-पंजिका), मुगवेट्टि (राजकीय मुहर), वरिपोत्तग-कणक्कु (कर-पंजिका का लेखा-जोखा), वरियिलिडु (कर-पंजिका में प्रविष्टि) और पट्टोलई (ताड़-पत्र लेखक)। राजेंद्र-I का करंदई ताम्र-पत्र अभिलेख जिसमें, 1080 ब्राह्मणों को 50 से भी ज्यादा गांवों के अनुदान का विवरण है, उल्लेख करता है इस दान के प्रबंधक के रूप में 40 से ज्यादा राजस्व-अधिकारियों तथा उनकी उपाधियों का। यह अकेला ही साक्ष्य है चोलों के सुविकसित अधिकारी-वर्ग का, विशेषतः राजस्व-प्रशासन में। राजस्व का निर्धारण और उसकी वसूली का कार्य उर, नाडु, सभा तथा नगरम् जैसी निगम या संस्थाएं और कई बार केंद्र के प्रतिनिधि के रूप में स्थानीय प्रमुख/सरदार भी करते थे। 11वीं शताब्दी की शुरुआत में,

राजराज-I ने भूमि-सर्वेक्षण और कर-निर्धारण की एक व्यापक परियोजना चलाई। उनके पुत्र राजेंद्र-I के अभिलेखों में उल्लिखित *मलिगइ-कोल* नामक एक नया मापदंड राजराज के शासन-काल में हुए भूमि-सर्वेक्षण में ज़रूर इस्तमाल हुआ था। कुलोत्तुंग-I के शासन-काल में भी दो सर्वेक्षण हुए।

चोल अभिलेखों में उल्लिखित कर-संबंधित शब्दों से राज्य द्वारा वसूले जाने वाले करों की जानकारी मिलती है। काराशिमा के शोध ने दर्शाया है कि चोल राज्य के दो मुख्य/मूल *मण्डलमों* (*चोल-मण्डलम्* और *जयनोण्डचोल-मण्डलम्*) में जारी किए गए अभिलेखों में पूरे चोल-काल (846-1279 ईस्वी) के दौरान बारम्बार उल्लिखित सात शब्द सात मुख्य कर माने जा सकते हैं। ये हैं: *अंतरायम्*, *एच्चोरु*, *कडमइ*, *कुडिमइ*, *मुडुइ-अल्*, *तट्टार्-पाट्टम्*, और *वेड्डि*। *कडमइ* व *कुडिमइ* भू-लगान थे, पहला भूस्वामियों पर और दूसरा किसानों पर लगाया जाता था। चूंकि चोल राज्य और अर्थ-व्यवस्था मुख्यतः कृषि-निर्भर थी, धान और अन्य फसलों के उत्पादन को प्रोत्साहित किया जाता था। सिंचाई *चोल-मण्डलम्* में तालाबों तथा *जयनोण्डचोल-मण्डलम्* में नदी के पानी से होती थी। सिंचाई व्यवस्था के रख-रखाव के लिए, यानी समय-समय पर तालाबों और नदियों का तालों को रेगमुक्त करने के लिए, बल-श्रम सेवाकर के रूप में वसूल किया जाता था, जिसका द्योतक है *मुडुइ-अल्* और *वेड्डि*। *अंतरायम्* और *तट्टार्-पाट्टम्* व्यापारियों और शिल्पकारों से वसूला जाता था, और इस कर की आवृत्ति 11वीं शताब्दी के अंत से हुई बढ़त व्यापार और दस्तकारी में विकास का सूचक है। *एच्चोरु* ग्रामवासियों द्वारा राज कर्मचारियों को देय खाद्यान्न के रूप में कर था। अभिलेखों में कर-संबंधित शब्दों के संख्या में उतारोत्तर वृद्धि हुई, जो अपने चरम पर राजेंद्र-II (1052-63 ईस्वी) पहुँच गया, पर इसमें कुलोत्तुंग-I के काल से हास शुरु हो गया।

3.5.2.3 प्रांतीय/स्थानीय प्रशासन

पल्लव और चालुक्य राज्य प्रांतीय तथा स्थानीय स्तर पर कई प्रमण्डलों/इकाईयों में विभाजित थे। इनकों अलग-अलग काल तथा भिन्न-भिन्ने क्षेत्रों में *आहार*, *विषय*, *राष्ट्र*, *कोट्टम्*, *मण्डलम्* और *नाडु* कहा जाता था और इनके आकार और पदानुक्रम में भी काफ़ी अंतर था। ऐसा प्रतीत होता है कि विजित क्षेत्रों के शासकों को राजा का आधिपत्य स्वीकार करने, यदाकदा अधिपतियों को नज़राना पेश करने तथा युद्ध या सैन्य अभियान के समय सैन्य-बल मुहैया करने के एवज़ में स्थानीय प्रशासन का संचालन करने दिया जाता था, अर्थात् ये सामंत के रूप में स्थानीय प्रशासन के जुड़े थे। जैसे बनराज *विषय* एक स्वतंत्र राज्य था, पर बाद में चालुक्यों के अधीन एक प्रांतीय प्रमण्डल बन गया। दक्कन में *विषय* और *राष्ट्र* तथा तमिल क्षेत्र में *मण्डलम्* बड़ी इकाईयां थी।

अपने शक्ति के चरम पर चोल साम्राज्य 9 *मण्डलमों* या *पडियों* में विभाजित था, जिनमें श्रीलंका के विजित क्षेत्र समेत अन्य विजित क्षेत्र भी शामिल थे। प्रशासन को केंद्रिकृत करने के लिए राजराज-I ने सबसे छोटी इकाई *नाडु* और सबसे बड़ी इकाई *मण्डलम्* के बीच *वलनाडु* नामक एक इकाई का गठन किया, और इस इकाई के राजस्व की वसूली का भार इसके अधिकारियों पर डाल दिया। उनका उद्देश्य कृषि-उत्पादन की पारम्परिक इकाई *नाडु* में नातेदारी और क्षेत्रिय संबंधों के आधार पर सशक्त और प्रभावशाली स्थानीय शासक-वर्ग को कमज़ोर करना था। राजराज-I के काल में 10 *वलनाडु* थे, जो 12वीं शताब्दी की शुरुआत में विभाजन तथा पुनर्विन्यास के कारण बढ़कर 15 हो गए।

साधारणतः प्रांतीय प्रशासन के प्रमुख थे राजकुमार (*युव-महाराज*)। अभिलेखों में *देशटिक*, *भोजक*, *वल्लभ*, *गोवल्लभ*, *सञ्चरंत*, *आयुक्त*, *अध्यक्ष* आदि ज़िला-स्तरीय अधिकारियों का उल्लेख है। पल्लव राज्य के गैर-तमिल-

भाषी क्षेत्रों में भूमि के लेन-देन तथा दान की प्रक्रिया में कई अधिकारियों को सूचित करना होता था। इनमें शामिल थे सेनापति, राष्ट्रिक (राष्ट्र के प्रमुख), मदविक (सीमा-शुल्क अधिकारी), देशाधिकृत (ज़िला-अधिकारी), वल्लभ और गोवल्लभ (घोड़े और अन्य मवेशियों के अधीक्षक), नायक (सैनिक दस्तों के अध्यक्ष/कप्तान), और सञ्चरंत (गुप्तचर)। चालुक्य विक्रादित्य के लक्ष्मेश्वर अभिलेख में राज-प्रशासन और ग्रामीण संस्थाओं के संबंध का संकेत मिलता है। इसमें यह बताया गया है कि स्थानीय मुद्दों का आखरी हल राजादेशों से होता था, जिन्हें राजकीय अधिकारी (राजपुरुषर) कार्यान्वित करते थे। चोल काल में नाडु के स्तर पर अधिकारियों में नाडु-वगइ, नाडु-काकनी-नायकम्, नाडु-कुरु तथा कोट्टुम्-वगइ शामिल थे, पर इनमें से सभी का दायित्व स्पष्ट नहीं है और ऐसा प्रतीत होता है कि इनके कार्य में एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक नहीं थे।

पल्लव-चोल काल में तमिल क्षेत्र का ग्रामीण प्रशासन उर्, और सभा के अधीन था। सबसे छोटी प्राशासनिक इकाई नाडु के अंतर्गत कई गाँव थे, कुछ नाडुओं में एक-दो शहर (नगरम्) भी थे। गाँव दो तरह के थे: उर् और ब्रह्मदेया संख्या में अधिक उर् किसानों के पारम्परिक गाँव थे। इनमें उर् (बाद के पल्लव अभिलेखों में उरार्) नाम की ही ग्रामीण सभा थी, जिसके सदस्य ज़्यादातर वेल्लल नामक भूस्वामी थे। संख्या में काफ़ी कम ब्रह्मदेय ब्राह्मणों को राजाओं द्वारा उपजाऊ क्षेत्रों में दिए गए भूमि-दानों के परिणाम-स्वरूप बने गाँव थे। इन ब्रह्मदेयों की ग्रामीण सभा को सभा या महासभा कहा जाता था और इनके सदस्य ब्राह्मण भूस्वामी पेरुमक्कल् (अर्थात् 'महान व्यक्ति') कहलाते थे। ये सभाएं मंदिरों के लिए अनुदानों का अनुमोदन; मंदिरों, सड़कों, नहरों, तालाबों तथा कृषि-भूमि का रखरखाव; कर- तथा कर-मुक्ति निर्धारण, न्याय-प्रशासन आदि दायित्वों का पालन करती थी। इन सभाओं का प्राशासनिक कार्य वरियम् नामक कमेटीयां/समितियां करती थी। पल्लव शासक दंतिवर्मन (796-846 ईस्वी) के 9वें राज्य-वर्ष के प्रसिद्ध उत्तिरमेरूर अभिलेख में उत्तिरमेरूर गाँव की सभा के वरियमों की गतिविधियों की सबसे पहला ज्ञात विवरण मिलता है। 8वीं शताब्दी से ही ये वरियम् ग्रामीण प्रशासन में काफ़ी सक्रिय थे। 10वीं शताब्दी की शुरुआत में ये वरियम् अपने भिन्न तथा विशिष्ट कार्यों से जाने गए, जैसे एरि वारिय पेरुमक्कल् (तालाबों या सिंचाई व्यवस्था के रखरखाव के लिए वरियम्), तोट्टा वारिय पेरुमक्कल् (जन-उद्यानों के रखरखाव के लिए वरियम्)। पल्लव कम्पवर्मन के उक्कल अभिलेख में एक वार्षिक समिति, सम्वत्सरस्य वरिय पेरुमक्कल्, का भी उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने दैनिक प्राशासनिक गतिविधियों ये सभाएं केंद्रीय प्रशासन से काफ़ी हद तक स्वतंत्र थीं। यहाँ तक कि राजकुल के सदस्यों को भी इनके अधिकार-क्षेत्र में स्थित किसी मंदिर को भूमि-दान देने के लिए भूमि अधिग्रहण की प्रक्रिया में इनकी अनुमति तथा सहयोग लेना पड़ता था। शहरों के प्रशासन का भार नगरम् या वणिकों की सभा पर था।

दक्कन के चालुक्य अभिलेखों में ग्राम-प्रशासन गाँव के प्रधान (गामुण्ड) तथा वृद्ध और वरिष्ठ लोगों (महा-जन) के हाथों में था। प्राशासनिक कार्यों में सहायक थे करण (लेखपाल)। गामुण्ड केंद्रीय/राजकीय और ग्रामीण प्रशासन के बीच सम्पर्क-सूत्र था, और शायद उसकी नियुक्ति केंद्र द्वारा की जाती थी। मंदिरों को दान देने की अनुमति गामुण्ड और महाजनों से लेनी होती थी। पर दक्षिण की तुलना दक्कन में राज-अधिकारी ग्रामीण सभाओं के साथ ज़्यादा करीबी संबंध रखते थे।

3.5.2.4 सैन्य संगठन

पूर्व मध्यकाल में दक्कन और दक्षिण भारत के शासकों के सैन्य अभियानों और परस्पर-युद्धों से एक प्रभावशाली सैन्य संगठन का अंदाजा लगाया जा सकता है, पर इस संबंध में विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है। अभिलेखों में कुछ पल्लव शासकों को युद्ध में हाथियों के इस्तमाल की विद्या (*गज-शास्त्र*) में निपुण बताया गया है। अभिलेखों तथा वैकुण्ठपेरुमाल मंदिर की अलंकृत दिवारों से युद्ध में हाथियों के व्यापक उपयोग के बारे में पता चलता है। परमेश्वरवर्मन-I के एक अभिलेख पल्लव सेना के संगठन और शस्त्रों की जानकारी देता है। नंदिवर्मन-II के सेनानायक उदयचन्द्र जैसे कुछ युद्ध-निपुण सैन्य अधिकारियों के भी उल्लेख मिलते हैं। चीनी-बौद्ध तीर्थयात्री श्वेन जंग के वृतांत में चालुक्य सेना के बारे में जानकारी उपलब्ध है, जैसे विजयी सेना द्वारा हारे हुए सैनिकों को स्त्रियों के कपड़े पहनने पर मजबूर करने और इस अपमान से बचने के लिए कई सैनिकों द्वारा आत्महत्या करने की प्रथा।

चोल राज्य की सैन्य-व्यवस्था के बारे में ज्यादा जानकारी उपलब्ध नहीं है, हालांकि चोल सेना (*नियायम्*) की कुछ पलटनों के नाम मिलते हैं तंजौर के शिव-मंदिर में उत्कीर्ण अभिलेखों से, जो उल्लेख करते हैं मंदिर में राजकुल द्वारा स्थापित देव-प्रतिमों के उद्देश्य में सैनिकों द्वारा किए गए धन-दान का। इन पलटनों या सैन्य-दलों में शामिल हैं *विल्लिगल्* (धनुर्धारी सेना), *कुदिरिच्चेवइच्चेवगर्* (अश्वारोही सेना), *आनइयाल्गल्* (हस्ति सेना), *परिवारत्तार्* (राजभवन-रक्षक-दल), और *वेलइक्कारर्* (राजा के अंगरक्षक-दल)। इन पलटनों के नामों में अधिकतम के साथ उपसर्ग के रूप में जुड़े हैं राजा अथवा राजकुमार के नाम तथा *तेरिंद* शब्द, जिसका अर्थ है 'चुनिंदा' या 'चयनित'। उदाहरण के रूप में 'केरलांतक-तेरिंद-परिवारत्तार्', अर्थात् 'केरलांतक नामक चुनिंदा राजभवन-रक्षक'। इनके अलावा अन्य अभिलेखों में उल्लिखित हैं *वालिलार्* (तलवार-धारी) और *कॉंदवर्* (भाला-धारी) नामक सैन्य-दल, तथा *सेनापति* व *दण्डनायकम्* नामक महत्वपूर्ण सैन्य-अधिकारी। कोनेरिराजपुरम के एक अभिलेख से पता चलता है कि *कैक्कोलर्*, जो चोलोत्तर काल की एक जुलाहा जाति थी, चोल काल में एक महत्वपूर्ण सामरिक जाति थी।

सैनिकों की भर्ती कैसे होती थी इसका कोई साक्ष्य नहीं है, पर राज्य द्वारा नियुक्त व पोषित स्थायी सेना अवश्य होता होगी, हालांकि आवश्यकता पड़ने पर स्थानीय मुखियाओं/सरदारों सैन्य सहायता ली जाती थी। शासकों और सरदारों के अंगरक्षकों की बहाली व्यक्तिगत निष्ठा के आधार पर होती थी, उनके चयन में वंशानुगत निष्ठा के तत्व मौजूद थे और उन्हें सेवा के बदले में भू-राजस्व वसूलने के अधिकार दिए जाते थे।

राजराज-I का श्रीलंका पर और राजेंद्र-I का श्री विजय पर सैन्य-अभियानों का उल्लेख चोल नौसेना के प्रमाण के रूप में कई बार किया गया है, पर यह स्पष्ट नहीं है कि क्या चोलों की अलग से नियुक्त व संघटित नौसेना थी या इन अभियानों में सिर्फ स्थलसेना को समुद्र-मार्ग से ले जाया गया था।

3.6 सार संक्षेप

इस इकाई में 6ठीं से 12वीं शताब्दी तक दक्कन व दक्षिण भारत में निरंतर राज्य-निर्माण, राज्य-विस्तार तथा राजनीतिक संघर्षों की प्रक्रियाओं का विवरण दिया गया है। 6ठीं से 9वीं शताब्दी में बादामी चालुक्य, पल्लव व पाण्ड्य अपने सहयोगी सामंत-राज्यों के साथ प्रायद्वीपिय भारत पर वर्जस्व पाने के लिए निरंतर युद्ध-रत थे। 9वीं शताब्दी से ही शक्ति का संतुलन बदलने लगा, और चोल, राष्ट्रकूट तथा काल्याणी चालुक्य जैसे नए राज्यों के विकास, विस्तार और संघर्ष की प्रक्रिया चली। इन प्रक्रियाओं के चलते राजत्व की अवधारणा, राज-सत्ता के

वैधिकरण के तरीके, केंद्र-परिधि के संबंध तथा प्राशासनिक ढांचों में कई निरन्तरताएं और अनिरन्तरताएं देखी जा सकती हैं। अनुष्ठानों, वंशावलियों, धार्मिक अनुदानों, अतिरंजित प्रशस्तियों के माध्यम से राज-सत्ता को वैधानिकता प्रदान करने तथा सशक्त करने की निरन्तर कोशिशें चल रही थीं। पर स्थानीय स्तर पर उर और सभा जैसी परम्परागत संस्थाएं केंद्रीय या राजकीय प्रशासन से काफ़ी हद तक स्वतंत्र होकर काम कर रही थीं। राज-शक्ति के बढ़ने से स्थानीय शासक-वर्गों की शक्ति या उनके प्रभाव में कोई दीर्घ-कालीन ह्रास नहीं हुआ, बल्कि केंद्र में राजा तथा इन स्थानिय शासक-वर्गों के बीच का घटता-बढ़ता तनाव इस क्षेत्र की राज्य-व्यवस्थाओं की स्थायी विशेषता बनी रहीं।

3.7 संदर्भ ग्रंथ

काराशिमा, नोबोरु, सम्पादित, *अ कॅन्साइस् हिस्ट्री ऑफ़ साउथ इंडिया*, 2014.

मीनाक्षी, सी, ऐड्मिंस्त्रेश्च एंड शोशल लाईफ़ अण्डर द पल्लवस्, 1938.

शास्त्री, नीलकण्ठ, *अ हिस्ट्री ऑफ़ साउथ इंडिया*, 1975.

सिंह, उपेंद्र, *प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास*, 2017.

3.8 निबंधात्मक प्रश्न

-
1. दक्षिण भारत के प्रारंभिक इतिहास पर चर्चा कीजिए।
 2. प्रारंभिक दक्षिण भारतीय शासकों के आपसी संघर्ष पर चर्चा कीजिए।

इकाई एक: तुर्क आक्रमण-परिस्थितियां, कारण एवं परिणाम

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 सामाजिक परिस्थिति
- 1.4 राजनीतिक परिस्थिति
- 1.5 धार्मिक परिस्थिति
- 1.6 तुर्क आक्रमण के आर्थिक कारण
- 1.7 तुर्क आक्रमण के राजनीतिक कारण
- 1.8 तुर्क आक्रमण के धार्मिक कारण
- 1.9 तुर्कों के सफलता के कारण
- 1.10 तुर्कों के सफलता के राजनीतिक कारण
 - 1.10.1 राजनीतिक विश्रृंखलता
 - 1.10.2 राष्ट्रियता का अभाव
 - 1.10.3 राजपूतशासकों में कूटनीति का अभाव
 - 1.10.4 प्रशासन में सामन्तवाद का उत्कर्ष
 - 1.10.5 भारतीय शासक और जनता में उदासीनता
 - 1.10.6 सुदृढ़ सीमांत नीति का अभाव
 - 1.10.7 युद्ध का भार केवल राजपूतों पर
 - 1.10.8 शासकों के आपसी द्वेष और राजनीतिक एवं प्रशासनिक भेद-भाव
- 1.11 सैनिक कारण
 - 1.11.1 स्थाई सेना का अभाव
 - 1.11.2 भारतीय सेना में पदातियों बाहुल्य
 - 1.11.3 कोतल सेना का अभाव
 - 1.11.4 हस्ति सेना की दुर्बलता
 - 1.11.5 राजपूतों के प्राचीन युद्ध प्रणाली
 - 1.11.6 सैनिकों की दोषपूर्ण नियुक्ति
 - 1.11.7 राजपूत शासकों द्वारा आक्रामक नीति का पालन नहीं करना
 - 1.11.8 तुर्कों की सैन्य श्रेष्ठता
- 1.12 तुर्कों के सफलता के सामाजिक कारण
- 1.13 तुर्कों के सफलता के आर्थिक कारण

- 1.14 तुर्कों के सफलता के धार्मिक कारण
- 1.15 तुर्क आक्रमण के परिणाम
- 1.16 भारतीय सैन्य शक्ति और राजनीतिक दुर्बलता का प्रदर्शन
- 1.17 भारत के अपार धन की क्षति
- 1.18 भारतीय संस्कृति का विनाश
- 1.19 इस्लाम का प्रसार
- 1.20 दास प्रथा का विकास
- 1.21 मध्य एशिया साम्राज्य की सुरक्षा एवं विस्तार
- 1.22 कला एवं साहित्य का संरक्षण
- 1.23 भारत पर आक्रमण के नवीन मार्ग की खोज
- 1.24 सारांश
- 1.25 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 1.26 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.1 प्रस्तावना

तुर्क आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति चिन्ताजनक थी। यहां का सामाजिक ढांचा अत्यन्त दोषपूर्ण था। वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त ने भारत के लोगों की सम्यक चेतना और देश भक्ति की भावना का नाश कर दिया था। देश के प्रति लोगों में निष्ठा की कोई भावना नहीं थी। व्यक्तिगत तथा सामुदायिक दृष्टि से इसके कारण लोगों का नैतिक पतन हुआ जिसके परिणाम अत्यन्त घातक सिद्ध हुए। वस्तुतः जाति का सिद्धान्त मानवोचित सम्मान का निषेध है। भारतीय सामाजिक वर्ण व्यवस्था काल एवं राजनीतिक विखण्डता ने भारत को अन्दर से खोखला कर दिया था। भारतीय राजाओं के मध्य व्याप्त कलह एवं द्वेष ने तुर्कों के कार्य को और आसान कर दिया। तुर्कों के भारत आगमन ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन लाया और विभिन्न क्षेत्रों में इनके आगमन के परिणाम दृष्टिगोचर हुआ।

1.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप तुर्कों के भारत पर आक्रमण के कारण और इसके परिणामों से अवगत हो सकेंगे साथ ही यह भी जान सकेंगे कि;

- 5 भारतीयों के पराजय और तुर्कों के सफलता के क्या कारण थे।
- 5 भारत के तत्कालीन, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक व्यवस्था।
- 5 राजपूतों के सैनिक क्षमता एवं युद्ध निति।

- 5 भारत की आर्थिक सम्पन्नता विदेशियों के लिए आकर्षण।
- 5 तुर्कों के आक्रमण के परिणाम
- 5 तुर्कों के आगमन से भारतीय समाज एवं संस्कृति पर प्रभाव।

1.3 सामाजिक परिस्थिति

भारतीय समाज परम्परागत चार-प्रधान वर्णों, ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में बँटा हुआ था। प्रख्यात विद्वान अलबरूनी ने लिखा है, “हिन्दू अपनी जाति को वर्ण कहते हैं जिसका अर्थ है रंग और वंश के दृष्टिकोण से व उन्हें जातक अर्थात् जन्मित कहते हैं। आरम्भ से ही ये जातियां चार थीं अर्थात् ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राहमण समाज की चोटी पर थे और उन्हें मनुष्यों में सर्वोत्तम समझा जाता था।” अलबरूनी के अनुसार वेदों का अध्ययन करने तथा मोक्ष प्राप्ति का अधिकार केवल ब्राहमण तथा क्षत्रियों को ही था। क्षत्रिय शासन और सैनिक कार्य करते थे। वैश्यों और शूद्रों के सामाजिक अनुक्रम में नीचे का दर्जा प्रदान किया गया था। वैश्यों का मुख्य पेशा खेती, व्यापार एवं पशुपालन था। अलबरूनी के शब्दों में, “शूद्र, ब्राहमण के नौकर के समान थे वेदों का पाठ करते तो इनकी जीभ काट ली जाती थी।” इस पर टिप्पणी करते हुए पोहो हबीब ने ठीक ही लिखा, “ऋग्वैदिक काल में ऐसी नीति की आवश्यकता हो भी सकती थी और नहीं भी किन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में अर्थात्, अलबरूनी, अबूसेना तथा सुलतान महमूद के काल में यह मूर्खतापूर्ण पागलपन से भरी तथा आत्मघाती नीति थी और ब्राहमणों को जो स्वयं बड़े तर्कवादी तथा अत्यन्त प्रबुद्ध वर्ग के लोग थे, इस महान अक्षम्य सामाजिक अपराध के लिए बहुत भयंकर मूल्य चुकाना था।”

उल्लेखित चार वर्णों के अतिरिक्त समाज में एक ऐसा भी वर्ग था जिसकी गणना किसी जाति में नहीं थी और जिसे अंत्यज कहते थे। इनमें उल्लेखनीय थे, धोबी, चर्मकार, नाविक, मछुआरा, बहेलिया, जुलाहे, जादूगर, एवं ढोलक बनाने वाले। ये द्विज के गाँवों अथवा नगरों के पास किन्तु बाहर रहा करते थे। अलबरूनी ने लिखा है, “यदि कोई अपनी जाति का व्यवसाय या कर्तव्य ग्रहण करना चाहता है चाहे वह दूसरी जाति के लिए सम्मान का विषय ही क्यों न हो, तो वह पाप समझा जाता है।”

डोम, चंडाल, बधातु इत्यादि का भी एक अलग वर्ग था और वे सबसे निम्नकोटि के लोग होते थे। उन्हें गन्दा काम करना पड़ता था। अलबरूनी लिखता है कि “वास्तव में वे लोग अवैध बच्चों की भांति समझे जाते थे और उनके साथ समाज से बहिष्कृत व्यक्ति की तरह व्यवहार किया जाता है समाज छुआ-छूत भी भयंकर बीमारी से बुरी तरह ग्रसित था। जो भारतीय समाज के लिए अत्यन्त विनाशकारी सिद्ध हुआ। उल्लेखित तत्व भारतीय समाज को अन्दर से खोखला कर दिया था।”

1.4 राजनीतिक परिस्थिति

उस समय राजनीतिक शक्ति के रूप में केवल राजपूत राज्यों का महत्व था। राजपूतों की नीति ने भारत में सामंतशाही संस्थाओं को जन्म दिया। जाति की प्रथा ने समाज को संकीर्ण वर्गों में विभाजित कर दिया था। इस कारण ही भारत में सामूहिक नागरिकता की भावना लुप्त हो गई जो तुर्क आक्रमणकारी के लिए बड़ा ही लाभदायक सिद्ध हुआ। भारतीय

राजनीतिक जीवन की एक विशेषता बहुशासकीय प्रणाली थी। भारत ऐसे राष्ट्रों का समूह मात्र था जो प्रत्येक दृष्टि से स्वतंत्र थे। इन शासकों के बीच पारस्परिक द्वेष एवं कलह की भावना बलवती होती गई। एकता एवं अखण्डता का प्रश्न ही नहीं था। राजपूत सरकारों का स्वरूप पूर्णतः सामंती था।

प्रत्येक राज्य जागीरों में विभाजित था। खेद की बात यह थी कि सामन्त अपने कर्तव्यों की अवहेलना करने लगे थे। उनके द्वारा निजी सेना का रखा जाना कर लगाना तथा करों की वसूली करना आदि बातों के कारण राजनीतिक सत्ता पूर्णरूप से नष्ट हो गई थी और विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को काफी बल मिला। शासन और सेना पर सामन्तों का प्रभाव व्यापक रूप से बढ़ गया जो राजा की सत्ता के लिए घातक सिद्ध हुआ। इन सिद्धान्तों के कारण आंतरिक अराजकता एवं अशक्ति की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। ये सारे राजनीतिक एवं सामाजिक तत्व भारत की बहुत बड़ी कमजोरी थी जिसका लाभ तुर्कों को मिला।

तुर्कों के आक्रमण के समय भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था इन राज्यों में एकता, सहयोग, देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना के स्थान पर ईर्ष्या, द्वेष एवं संघर्ष की प्रधानता थी। शासन का स्वरूप प्रायः सामन्तशाही राजतंत्र था। युद्ध में अधिक व्यस्त रहने के कारण इन सभी राज्यों की नीति पर सैनिक आवश्यकताओं का भारी प्रभाव रहता था। साधारण जनता राज्य के कार्यों एवं नीतियों की ओर से उदासीन हो गई थी। उन्हें शासन एवं राजवंशों के उत्थान अथवा पतन से कोई मतलब नहीं रह गया था। ऐसे राजनीतिक वातावरण में महत्वकांक्षी आक्रमणकारियों को निश्चित ही लाभ मिलता है और तुर्कों ने इसका भरपूर फायदा उठाया।

1.5 धार्मिक स्थिति

सामाजिक क्षेत्र की तरह धार्मिक क्षेत्र में भी भारत में उच्च आदर्शों का अभाव देखने को मिलता है धर्म में भी अधःपतन होने लगा था। यद्यपि शंकराचार्य के प्रयत्नों के कारण इस काल में पौराणिक हिन्दू धर्म का उत्थान हुआ था, किन्तु इस धर्म में भी अनेक बुराइयां थीं। अन्धविश्वास, प्रबल-मूर्ति-पूजा, मन्दिर-निर्माण, कर्मकाण्ड, व्रत, उपवास, उत्सव आदि पर काफी जोर दिया जाता था। हिन्दू धर्म में अनेक शक्तिशाली सम्प्रदायों का विकास हुआ था। इनके बीच पारस्परिक संघर्ष था। शैव एवं वैष्णव परस्पर संघर्षरत थे। इस काल में बाममार्गी सम्प्रदाय अधिक प्रभावशाली हो गया था। इसके अनुयायी, सूरापान, मांसाहार, व्याभिचार आदि बुराइयों में लिप्त थे, लोग “खाओ-पिओ और मौज करो” वाले सिद्धान्त के समर्थक थे। नालन्दा जैसे शैक्षिक संस्थाओं में भी इन दूषित भावनाओं का प्रदर्शन देखने को मिला है। मन्दिर एवं मठों में धन का बाहुल्य था। यहां देवदासियां तथा अन्य स्त्रियां भी रहती थीं। स्त्री और धन के संगम से विलासिता और भ्रष्टाचार का आगमन होता है। इस प्रकार इस काल में मठ एवं मन्दिर व्याभिचार एवं भ्रष्टाचार्य के अड्डे बन गये। धर्म में नैतिकता एवं अध्यात्मिकता का आभाव रहा। साधु-सन्त और संन्यासी श्रद्धा की अपेक्षा उपहास के पात्र बन गये। इस काल में बौद्ध धर्म का पतन हुआ। धर्म की यह स्थिति भारत में इस्लाम धर्म के प्रचार में सहायक सिद्ध हुई। संक्षेप में किसी योग्य एवं महत्वकांक्षी आक्रमणकारी के लिए भारत में परिस्थितियां बिल्कुल अनुकूल थीं। देश की पतन्मुखी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति आक्रमणकारियों को निमंत्रण दे रही थी। तुर्कों ने इसी स्वर्णिम अवसर से लाभ उठाया और भविष्य में भारत में एक विस्तृत मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना कर ली।

1.6 तुर्क आक्रमण के आर्थिक कारण

भारत पर तुर्क आक्रमण के अनेक कारण थे। अनेक इतिहासकारों ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि तुर्की आक्रमणकारियों (महमूद गजनवी तथा मुहम्मद गोरी) के भारत-आक्रमण का मुख्य कारण भारत में इस्लाम धर्म का प्रचार करना तथा मूर्ति-पूजा को समाप्त करना था। कुछ अन्य इतिहासकार विशेषकर प्रो० हबीब एवं निजामी इत्यादि यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि तुर्क आक्रमणकारियों ने धार्मिक भावना से प्रेरित होकर भारत पर आक्रमण नहीं किया, बल्कि उनका उद्देश्य भारत के विख्यात मन्दिरों को लूटकर उनके धन प्राप्त करना था, जिसके आधार पर मध्य एशिया में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की जा सके। अतः, धन, प्राप्ति की लिप्सा ही आक्रमण का मुख्य कारण था। इसके साथ-साथ यह बात भी याद रखने योग्य है कि भले ही तुर्कों का उद्देश्य भारत की धन-सम्पदा हासिल कर, उससे सुदृढ़ सेना तैयार कर मध्य-एशिया में अपनी स्थिति मजबूत करना था। लेकिन इसके साथ साथ उनका ध्येय काफिरों के देश में, इस्लाम धर्म का प्रभाव स्थापित करना भी था। अगर सिर्फ धन कमाने का ही उद्देश्य रहता, तो मन्दिरों एवं मूर्तियां को तोड़ा नहीं जाता। यह कहना कि “केवल लड़ाई के समय अपने मुस्लिम भाइयों की सहानुभूति और सहायता प्राप्त करने के लिए महमूद ने मन्दिरों को तहस-नहस किया और धन लूटकर ले गया” वास्तविकता को नकारना जैसा है।

प्रो० हबीब, एवं निजामी के इलावा एस०एम०जाफर ने भी महमूद के आक्रमण का प्रधान उद्देश्य लूट का लोभ ही बताते हैं। इस उद्देश्य को छिपाने के लिए उसने धर्म की तो केवल आड़ ली थी। प्रमुख विद्वान हैवल का कथन है कि, “यदि बगदाद में उतना ही धन मिलने की सम्भावना होती, जितना कि सोमनाथ में थी तो महमूद उसे भी उतनी ही निर्दयता से लूटता”। आर०एस० शर्मा वी०ए० स्मीथ एवं डा० ईश्वरी प्रसाद का भी मत है कि भारत में सदियों से संचित धन का लूटना ही उसका प्रधान उद्देश्य था।

1.7 राजनीतिक कारण

तुर्की आक्रमण के कुछ राजनीतिक कारण भी थे। भारत की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति किसी भी महत्वाकांक्षी आक्रमणकारी को आकृष्ट किए बिना नहीं रह सकती थी। 11वीं -12वीं शताब्दी में सम्पूर्ण भारत आपसी संघर्ष में लिप्त अनेक राज्यों में विभक्त था। आपसी प्रतिस्पर्धा एवं द्वेष ने इन्हें दुर्बल बना दिया था। ये किसी भी महत्वाकांक्षी तथा दृढ़ निश्चयी शक्ति को रोकने में अक्षम थे। भारत पर आक्रमण कर यहां से धन तथा हस्ती दल प्राप्त कर महमूद मध्य एशिया में अपनी स्थिति सुदृढ़ करना चाहता था। इसके अतिरिक्त, पंजाब के हिन्दूशाही शासक जयपाल ने समानी शासन के अन्तर्गत भूत पूर्व गर्वनर के पुत्र के साथ मिलकर गजनी पर चढ़ाई की थी। इस युद्धों में युवराज के रूप में महमूद न सक्रिय रूप से भाग लिया अतः गजनी का शासक बनते ही उसने अपने दुशमनों से बदला लेनी की योजना बनाई। मुलतान के विरुद्ध संघर्ष का मुख्य कारण यह था कि मुलतान के शासक, इस्लाम के उस सम्प्रदाय को माननेवाले थे, जिनका महमूद कट्टर विरोधी था।

महमूद की ही तरह मुहम्मद गोरी भी एक महत्वाकांक्षी शासक था। पंजाब से गजनी-वंश का शासक समाप्त कर वह अपनी श्रेष्ठता कायम करना चाहता था। इसी प्रकार वह सिन्ध और मुलतान के इस्मालिया शिया-राजवंशों, जो उसके

कट्टर विरोधी थे, पर नियन्त्रण स्थापित करना चाहता था। गोरी के आक्रमण का एक अन्य कारण यह था कि मध्य एशिया में ख्वारिज्मी शासकों के प्रभाव के कारण उसे अपना विस्तार भारत की तरफ, करने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं था। इस प्रकार अनेक आर्थिक, धार्मिक, व्यक्तिगत और राजनीतिक कारणों से प्रेरित होकर तुर्कों ने भारत-विजय की योजना बनाई तथा इसमें वे सफल भी रहे।

1.8 धार्मिक कारण

अनेक इतिहासकारों का मत है कि महमूद के आक्रमणों का उद्देश्य भारत में इस्लाम धर्म का प्रचार करना भी था। उसका दरबारी लेखक उतबी ने लिखा है कि भारत पर उसके आक्रमण 'जिहाद' के रूप में थे और उनका उद्देश्य भारत में प्रचलित मूर्ति-पूजा को समाप्त कर इस्लाम का प्रचार-प्रसार करना था। इसलिए महमूद ने मूर्तियों को तोड़ा और मन्दिरों को लूटा। उसने खलीफा को ऐसा करने का आश्वासन भी दिया था। कुछ मुस्लिम लेखकों के मतानुसार महमूद ने केवल इस्लाम धर्म का प्रचार ही नहीं किया बल्कि इसके गौरव को भी बढ़ाया। उन्होंने उसे "अल्लाह के रास्ते पर चलने वाले एक ऐसे मुजाहिद के रूप में प्रस्तुत किया है कि उसके पद चिन्हों को अनुकरण कर सभी मुसलमान बादशाह गर्व का अनुभव करेंगे"। डा० ताजिम ने भी महमूद को एक धर्म प्रचारक के रूप स्वीकार किया है। इनका मत है कि सोमनाथ के मन्दिर की मूर्ति-पूजा पर इस्लाम की चमत्कार पूर्ण विजय थी और धर्म-रक्षक के रूप में समस्त मुस्लिम संसार में महमूद की प्रशंसा की गई। अलबरूनी ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि महमूद कट्टर सुन्नी मुसलमान था। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस्लाम का प्रचार करना उसके भारतीय आक्रमणों का उद्देश्य रहा हो।

1.9 तुर्कों के सफलता के कारण

बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुहम्मद गोरी को अपने भारतीय आक्रमणों में अदभुत सफलता मिली। तुर्कों के सफलता एवं भारतीयों के पराजय के अनेक कारण उत्तरदायी थे। सर जादुनाथ सरकार ने तुर्कों की सफलता के तीन कारणों का उल्लेख किया है :-

- (1) जहां तक वैधानिक स्थिति और धार्मिक विशेषाधिकार का प्रश्न है तुर्कों में पूर्ण समानता और सामाजिक संगठन था।
- (2) ईश्वर पर पूर्ण निर्भरता से उत्पन्न भाग्यवाद और विश्वास कि अल्लाह की इच्छा समस्त मानवीय प्रयत्नों से सर्वोपरि है। इस भावना ने युद्ध करते समय उनकी मृत्यु का भय नष्ट कर दिया।
- (3) मधपान से मुक्ति। तुर्क इससे दूर थे जबकि मधपान ने राजपूतों, मराठों तथा अन्य हिन्दू सैनिकों का सर्वनाश कर दिया और उनकी अकस्मात् छापामार युद्धों का नेतृत्व यहां तक कि अपने ही सैनिक शिविरों की आवश्यक सावधानी से रक्षा करने की क्षमता नष्ट कर दी। यद्यपि उल्लेखित कारण युक्ति संगत है, परन्तु इन्हें पूर्ण नहीं माना जा सकता है। इसके कुछ महत्वपूर्ण राजनीतिक सैनिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक कारणों की चर्चा की जा सकती है।

1.10 राजनीतिक कारण

तुर्कों की विजय और भारतीयों के पराजय के निम्नलिखित राजनीतिक कारण थे।

1.10.1 राजनीतिक विश्रृंखलता

तुर्कों के आक्रमण के पूर्व, भारत की राजनीतिक स्थिति अच्छी नहीं थी। हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभाक्त हो गया था। इन राज्यों में राजपूत शासकों का शासन था। इनमें आपसी एकता और संगठन

की नितांत कमी थी। वे एक दूसरे के साथ संघर्षरत रहते थे। अनेक बार राजपूत राजाओं ने अपने प्रतिद्वंद्वी का विनाश करने के लिए विदेशियों को आमंत्रित किया, उन्हें अपने प्रतिद्वंद्वी के विरुद्ध सहायता एवं सहयोग दिया। तुर्कों ने इस राजनीतिक स्थिति का लाभ उठाकर आक्रमण किया और एक-एक करके राजपूत शासकों को परास्त कर दिया।

1.10.2 राष्ट्रीयता का अभाव

राजपूत शासकों के बीच राजनीतिक एकता और राष्ट्रीयता की भावना का सर्वथा अभाव था। राजपूत अत्यंत स्वाभिमानी थे और वे अपने वंश के लिए अधिक स्वामिभक्त थे। यद्यपि अपने राज्य पर हुए आक्रमणों का उन्होंने जमकर सामना किया, किन्तु भारत के अन्य भागों पर होने वाले विदेशी आक्रमणों के प्रति वे उदासीन और तटस्थ रहे। कभी भी संगठित होकर उन्होंने अपने शत्रु का सामना नहीं किया। राजपूत शासक और सामान्य जनता के बीच भी राष्ट्रीयता की भावना नहीं के बराबर थी। देश में राजनीतिक एकता और दृढ़ केन्द्रीय सत्ता का भी अभाव था।

1.10.3 राजपूत शासकों में कूटनीति का अभाव

राजपूत शासक सफल कूटनीतिज्ञ भी नहीं थे। धर्म-युद्ध उनका आदर्श था। युद्ध में वीरगति प्राप्त करना उनका ध्येय होता था। शत्रुओं के विरुद्ध युद्धों में विजयी होना नहीं चाहते थे। वे वचन के पक्के थे। अपनी वचन पूर्ति के लिए वे राष्ट्रीय हितों को बलिदान भी कर देते थे। दूसरी ओर तुर्क आक्रमणकारियों ने युद्धों में छल-कपट का सहारा लिया। इससे राजपूतों को काफी क्षति उठानी पड़ी।

1.10.4 प्रशासन में सामन्तवाद का उत्कर्ष

इस काल में प्रशासन एवं सैन्य व्यवस्था का स्वरूप सामन्तवादी हो गया था। सामन्त ही प्रशासन एवं सेना में उच्च पदों पर प्रतिष्ठित होते थे। इन सामन्तों के बीच राज-भक्ति एवं आपसी एकता की कमी थी। सामन्तवादी व्यवस्था के उत्कर्ष के चलते राजा की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होने लगी थी। राजा के दुर्बल होने पर अथवा उसकी मृत्यु के बाद बड़े-बड़े सामन्त अपने क्षेत्र में स्वतंत्र राज्यों की स्थापना कर लेते थे। इस प्रकार सारा उत्तरी भारत कलह, गृह-युद्ध और विद्रोह का अखाड़ा बन गया था।

1.10.5 भारतीय शासक और जनता में उदासीनता

भारत में अनेक अरब और तुर्क व्यापारी आते-जाते रहते थे और उनमें से कुछ यहां स्थायी रूप से बस गये थे। भारतीय शासकों ने न सिर्फ उनका विरोध किया बल्कि कभी-कभी उनकी सहायता भी की। भारत में बसे हुए इन मुसलमानों ने इस देश में न सिर्फ इस्लाम का प्रचार किया, बल्कि अरब और तुर्क आक्रमणकारियों का सहयोग भी दिया। फिर भी भारतीय शासक और प्रजा दोनों में ही राजनीतिक उदासीनता रही। यह देश के लिए हानिकारक सिद्ध हुई।

1.10.6 सुदृढ़ नीति का अभाव

प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल तक भारत में उत्तरी-पश्चिमी सीमा की ओर से ही आक्रमण हुए। बारहवीं सदी के भारतीय शासकों ने सुदृढ़ सीमांत नीति अवलम्बन न कर इस क्षेत्र को अत्यन्त असुरक्षित बना दिया। अतः गोरी की सेना को भारत में प्रवेश करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई। आक्रमणकारियों को सीमा पर रोकने और खदेड़ने के प्रयत्न नहीं किये गये। इस प्रकार आक्रमणकारी सीमान्त क्षेत्र से सरलता से पंजाब के पास और जल्द ही उन्होंने भारत के अन्य क्षेत्रों पर विजय प्राप्त कर ली।

1.10.7 युद्ध कर भार केवल राजपूतों पर

उस युग में देश की रक्षा और युद्ध का भार केवल राजपूतों पर ही था। राजपूतों को छोड़कर अन्य सभी हिन्दू जातियां युद्ध के प्रति उदासीन रहती थीं। भला कब तक सिर्फ राजपूत विदेशी आक्रमणकारियों से निरन्तर युद्ध कर सकते थे। निरन्तर युद्धों के चलते उनकी शक्ति क्षीण होती गई और उनकी संख्या में भी कमी आने लगी। यह भी हिन्दुओं की पराजय का एक मुख्य कारण था।

1.10.8 शासकों के आपसी द्वेष और राजनीतिक एवं प्रशासनिक भेदभाव

राजपूत शासकों में पारस्परिक वैमनस्य, ईर्ष्या और द्वेष की भावना बलवती थी। उनमें सदभावना और सहयोग की नितांत कमी थी। राजपूत शासक अपनी शक्ति का दुरुप्रयोग आपसी युद्धों में कर रहे थे। विदेशियों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा स्थापित कर उनका सुदृढ़ता से सामना करना, उनके वश की बात नहीं थी। इसी प्रकार इस काल में राजनीतिक और भेद-भाव भी काफी बढ़ गये थे। सिर्फ ब्राह्मण और क्षत्रीय ही ऊँचे-ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित किये जाते थे। इस प्रकार अन्य जाति के लोग राज्य के कार्यों और कर्तव्यों के प्रति उदासीन हो गये थे। अतः जनता असन्तुष्ट थी और विदेशी आक्रमणों के संकट काल में उसने अपने शासकों को उचित सहयोग नहीं दिया।

1.11 सैनिक कारण

मुहम्मद गोरी की विजय एवं राजपूतों की पराजय के कुछ महत्वपूर्ण कारण भी थे। -

1.11.1 स्थाई सेना का अभाव

भारतीय राज्यों में उन दिनों स्थाई सेना का अभाव था। राजा सामंतों द्वारा प्रदत्त सेनाओं पर निर्भर करते थे। आवश्यकता पड़ने पर वे नौसिखियों को भी सेना में भरती कर उन्हें रण क्षेत्र में भेज देते थे। इस प्रकार इन सैनिकों में उचित प्रशिक्षण, अनुशासन और योग्यता की नितांत कमी रहती थी। उनमें अपने शासकों के प्रति स्वामी भक्ति भी नहीं होती थी।

1.11.2 भारतीय सेना में पदातियों का बाहुल्य

राजपूत सेना में पदातियों का बाहुल्य था। पैदल सेना न तो अधिक गतिशील और पैतरेबाज होती थी और न पूर्ण रूप से प्रशिक्षित। दूसरी ओर तुर्क सेना में अश्वारोहियों की प्रधानता थी। वे बड़े गतिशील और प्रशिक्षित थे। भारतीय सैनिक इन अश्वारोहियों का सामना करने में असमर्थ थे। भारतीय पदातियों को परास्त करना तुर्क अश्वारोहियों के लिए आसान था।

1.11.3 कोतल

मुहम्मद गोरी की सेना में कोतल सैनिकों की व्यवस्था थी। राजपूत सेना में इस तरह की कोई व्यवस्था नहीं थी। राजपूत शासक अपनी सम्पूर्ण सेना को लेकर रणक्षेत्र में डटे रहते थे। जब वे युद्ध करते करते थक जाते थे तब गोरी अपनी कोतल सेना का उपयोग करता था। इस प्रकार कोतल सेना को थके हुए राजपूत सेना परास्त करने में काम कठिनाई होती थी।

1.11.4 हस्ति-सेना की दुर्बलता

हिन्दू शासकों की पराजय का एक महत्वपूर्ण कारण उनका हस्ति दल भी था। राजपूत अपने सेना में हाथियों को अग्रिम पंक्ति में रखते थे। उद्देश्य था शत्रु सेना को रौंद कर मार डालना। किन्तु अनेक युद्धों में भीषण अघात के कारण हाथी भड़क कर पीछे की ओर भागते और इस प्रकार अपनी सेना को ही रौंद डालते थे। इसके विपरित तुर्क आक्रमणकारी अश्वारोही सेना का अधिक उपयोग करते थे। उनकी सेना द्रुत गति से शत्रु सेना पर आक्रमण करती थी।

1.11.5 राजपूतों की प्राचीन युद्ध-प्रणाली

राजपूतों के अस्त्र-शस्त्र और युद्ध प्रणाली अत्यन्त पुरानी थी। वे प्रायः तलवार और भालों का प्रयोग करते थे। दूसरी ओर तुर्क सेना में तीरन्दाजों की प्रधानता थी। तुर्क सैनिक आग्नेय अस्त्रों का भी प्रयोग करते थे। राजपूत सैनिक विदेशी तीरन्दाजों के सामने नहीं ठहर सके। राजपूत सेनापति आगे बढ़कर अपनी सेना के साथ युद्ध करते थे। युद्ध में उनकी मृत्यु अथवा घायल हो जाने से राजपूत सैनिकों की हिम्मत टूट जाती थी और वे भाग खड़े होते थे। शत्रु इसका लाभ उठाकर सरलता से विजय प्राप्त कर लेते थे। तुर्क सेनापति रण क्षेत्र में पीछे से अपनी सेना का संचालन करते थे और उनको प्रोत्साहित करते रहते थे। अतः उन्हें राजपूतों के विरुद्ध आशातीत सफलता मिली।

1.11.6 सैनिकों की दोषपूर्ण नियुक्ति

भारतीय सैनिक और सैन्य अधिकारियों की नियुक्ति योग्यता के आधार पर नहीं बल्कि जाति और वंश की श्रेष्ठता के आधार पर की जाती थी। इसके अतिरिक्त सैनिक अशक्त और वृद्ध होने पर भी अपने पदों पर बने रहते थे। सैनिक के भरती-क्षेत्र भी सीमित थे। तुर्क सेना में ये सारी बुराइयां नहीं थी। वे योग्यता के आधार पर न कि जाति अथवा वंश के आधार पर नियुक्त किए जाते थे। उनकी सेना में युवक सैनिकों की भरमार थी। भारतीयों की पराजय का वास्तविक कारण उनकी सामाजिक व्यवस्था और घृणित वर्णात्मक भिन्नता थी जिसने समस्त सैन्य संगठन को जर्जर और कमजोर बना दिया था। वर्ण एवं जाति व्यवस्था के भेदभाव तथा छुआ-छूत की भावना ने सामाजिक एवं राजनीतिक एकता की भावना को नष्ट कर दिया था। देश की सुरक्षा के प्रति जनता की उदासीनता बड़ी घातक सिद्ध हुई। वर्ण व्यवस्था ने राजपूतों की सैनिक क्षमता को भी नष्ट कर दिया था। सैनिक कार्य एक वर्ग विशेष का उत्तरदायित्व मान लिया गया और साधारण जनता को इससे कोई प्रयोजन नहीं रहा।

1.11.7 राजपूत शासकों द्वारा आक्रामक नीति का पालन नहीं करना

राजपूत शासकों ने मुहम्मद गोरी के विरुद्ध आक्रमक नीति का पालन न कर रक्षात्मक युद्ध किये। अगर वे आगे बढ़कर सीमा पर ही शत्रु सेना को रोकने का अथवा परास्त करने का प्रयास करते तो सम्भव था कि उनकी इस ढंग से पराजय नहीं होती। समस्त युद्ध भारतीय क्षेत्र में हुए। विजय चाहे जिस पक्ष की हो, क्षति भारतीयों की होती थी। इन युद्धों के कारण भारतीय कृषि, उद्योग-धन्धे और वाणिज्य-व्यवस्था को अपार क्षति हुई।

1.11.8 तुर्कों की सैन्य श्रेष्ठता

युद्ध सामरिक दृष्टि से भी भारतीय सैनिक तुर्कों की युद्ध कला से अनभिज्ञ थे। भारतीय तथा तुर्की सेनाओं के रण क्षेत्र में संगठन और युद्ध करने के सिद्धान्त में भी अन्तर था। तुर्कों के सैन्य संगठन का मूल सिद्धान्त गतिशीलता था वह युग गतिशील घोड़ों का था। दूसरी ओर भारतीय सामरिक नीति शक्ति को गतिशीलता से अधिक महत्व देती थी। तीव्र और गतिशील अश्वरोही तुर्क सैनिक भारी भरकम तथा विशाल भारतीय सेना, जो हस्तिदल पर अधिक विश्वास करती थी, पर भारी पड़े। तुर्क सेना की दूसरी विशेषता उनकी धनुर्विधा थी। गतिशील अश्वरोही सैनिक ने रकाबों एवं नये लगाम के प्रयोग के कारण भी तुर्क अश्वरोही सैनिक काफी सफल रहे।

1.12 तुर्कों के सफलता के सामाजिक कारण

राजनीतिक एवं सैनिक व्यवस्था की भांति भारत की सामाजिक व्यवस्था भी दोषपूर्ण थी। हिन्दू समाज का पतन हो रहा था और इसमें अनेक दोष आ गये थे। समाज में वर्ग और जाति भेद थे। वर्ण-व्यवस्था में जटिलता आ गई थी अमीर-गरीब, ऊंच-नीच, छुआ-छूत आदि के भेद-भाव के कारण हिन्दू समाज की एकता प्रायः लुप्त हो गयी थी। नीचे जाति के लोगों के साथ उच्च जाति के लोगों का व्यवहार अमानुषिक था। समाज दुर्बल हो गया था और लोगों ने इसकी सुरक्षा और संगठन पर ध्यान देना छोड़ दिया था। वर्ग एवं जाति विभाजन से उत्पन्न संकीर्ण मनोवृत्ति से राजपूतों का वीरत्व, साहस, रण कौशल और सदगुणों का योग नहीं हो सका। राजपूत ही एक मात्र ऐसी जाति थी जो देश की रक्षा कर सकती थी। किन्तु इस समय तक राजपूत समाज में सामन्तवादी प्रवृत्ति काफी बढ़ गई थी और उनका पतन हो रहा था। यह देश के लिए अत्यन्त घातक साबित हुआ।

सामाजिक विषमता के अतिरिक्त हिन्दू समाज में अनेक बुराइयां हार का कारण बन गई थी। बाल-विवाह, बहु-विवाह, सती प्रथा, कन्या-वध, आदि बुराइयां हिन्दू समाज को घुन की तरह खा रही थी। समाज अन्ध विश्वास और भाग्यवादिता का शिकार था। हिन्दू भविष्यवाणी और ज्योतिषियों में अधिक विश्वास करते थे। वे भाग्य के सहारे बैठे रहते थे। उनकी यह धारणा हो गई थी कि “कलियुग में मलेच्छों का शासन होगा”। इससे समाज में अकर्मण्यता और निराशा का संचार हुआ। लोगों में जागरूकता और कार्य-क्षमता लुप्त हो गई। उनमें आत्म विश्वास नष्ट हो गया और उत्साही आक्रमणकारियों के सामने धराशायी हो गये।

1.13 तुर्कों के सफलता के आर्थिक कारण

राजपूत शासक विलास प्रिय थे। अतः वे स्वयं पर बड़ी मात्रा में खर्च करते थे। अनेक बीच परस्पर युद्धों की भरमार एवं परम्परा भी थी। इससे न सिर्फ सैनिकों की संख्या दिन-प्रतिदिन घट रही थी अपितु उनके राजकोष भी रिक्त हो रहे थे।

देश में कृषि, उद्योग-धन्धे और वाणिज्य के क्षेत्रों में भी स्थिरता आ गयी थी। अतः आर्थिक कठिनाई का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इसका असर हानिकारक सिद्ध हुआ। दूसरी ओर देश में धन-वैभव तो थे ही मन्दिरों, धार्मिक स्थानों, तीर्थों आदि में जतना ने अतुल सम्पत्ति संचित कर रखी थी। आक्रमणकारी धन-लोलुप थे। वे भारत को लूटकर अपने वैभव में वृद्धि करना चाहते थे। इस प्रकार राजकोषों की रिक्ता और देश की सम्पन्नता दोनों राजपूत शासकों की पराजय का कारण बनी।

1.14 तुर्कों के सफलता के धार्मिक कारण

तुर्कों की सफलता और भारतीय शासकों की पराजय में इस्लाम एवं हिन्दू धर्मों की व्यवस्थाओं का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस्लाम अपेक्षाकृत एक नया धर्म था। इसके अनुयायियों में धार्मिक जोश थी। इस्लाम का प्रचार, काफिरों का अन्त, मन्दिरों और मूर्तियों को नष्ट-भ्रष्ट करना मुसलमानों का आदर्श था। उन्होंने हिन्दुओं के विरुद्ध युद्धों में जिहाद के नारे लगाये। उनकी दृढ़ धारणा थी कि जिहाद और इस्लाम के प्रचार में पुण्य प्राप्त होता है और इसमें मृत्यु हो जाने पर स्वर्ग प्राप्त होता है। यदि वे भारत में जिहाद और इस्लाम के लिए युद्ध करके विजयी हुए तो उन्हें अतुल सम्पत्ति और राज्य प्राप्त होगा और यदि पराजित हुए या मारे गये तो भी उन्हें जन्नत मिलेगा। अतः वे पूरे जोश-खरोश के साथ लड़ते थे। इसके विपरीत राजपूत शासकों और सैनिकों में धर्म के प्रति उदासीनता थी। ऐसे भी वे हिंसा को निन्दनीय मानते थे। अतः विरोधियों के सामने उनका उत्साह, आत्मविश्वास, साहस और दृढ़ता लुप्त हो गयी और वे युद्धों में पराजित हुए।

1.15 तुर्क आक्रमणों के परिणाम

महमूद गजनवी के आक्रमण के प्रभाव उतना स्थायी सिद्ध नहीं हुआ जितना कि मुहम्मद गोरी के। मूलरूप से महमूद एक लुटेरा था जबकि मुहम्मद गोरी एक साम्राज्य निर्माता। उसने भारत में गोरी राज्य एवं गुलाम वंश की नींव रखी जिसने लगभग एक शताब्दी तक शासन की महमूद गजनवी ने लगभग सत्ताई वर्षों तक भारत पर निरंतर सफल आक्रमण किये। उसके भारतीय आक्रमणों का उद्देश्य मन्दिरों एवं मूर्तियों को विध्वंस करना और भारत की सम्पदा का अपहरण करना था। भारत में उसका मुख्य लक्ष्य धन प्राप्त करना था, राज्य का विस्तार नहीं। उसके आक्रमण उसे झंझावत के समान थे जो तुफानी शील से प्रारम्भ होता है और मार्ग के छोटे-मोटे वृक्षों को धराशायी करता हुआ स्वतः ही शान्त हो जाता है। अतः कुछ विद्वानों का मत है कि महमूद के आक्रमणों का कोई खास स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। भारत ने महमूद द्वारा की गयी सम्पत्ति की क्षति को अल्पकाल में ही पूर्ति कर लिया। कुछ स्थानों पर उसके आक्रमणों का प्रभाव जल्द ही नष्ट हो गया और भविष्य में लगभग दो सौ वर्षों तक राजपूत शासक सम्पूर्ण उत्तरी भारत के राजनीति में महत्वपूर्ण बने रहे। भारतीय आन्तरिक शासन-प्रणाली और युद्ध नीति अक्षुण्य रही। इस प्रकार महमूद का आक्रमण भारतीय इतिहास में केवल एक घटना मात्र था। यद्यपि इस मत में सत्य का अंश है, फिर भी ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि महमूद के भारतीय आक्रमण के प्रभाव शून्य थे। उसके आक्रमण के कुछ परिणाम अवश्य हुए।

1.16 भारतीय सैन्य-शक्ति और राजनीतिक दुर्बलता का प्रदर्शन

महमूद गजनवी एवं मुहम्मद गोरी के आक्रमणों का भारतीय सैन्य शक्ति और राजनीति पर गहरा आघात हुआ। इन आक्रमणों के चलते अनेक भारतीय राजवंशों का अन्त हो गया और कुछ सदा के लिए दुर्बल हो गये। आक्रमणों और युद्धों में लाखों भारतीय सैनिकों की जान चली चई। अनेकों को पकड़ कर तुर्कों ने अपना दास बना लिया। सैनिकों के

स्त्रियों एवं बच्चों को या तो मृत्यु की गोद में डाल दिया गया, अथवा दास बना लिया गया। इस प्रकार भारत की सैन्य शक्ति पर भारी आँच आई। युद्ध में भारतीय शासकों की पराजय ने विदेशियों को भारतीय नरेशों की पारस्परिक फूट, उनके बीच एकता और संगठन का अभाव, उनकी रण-नीति और सैन्य-संगठन सम्बंधित दोषों का ज्ञान दिया। ये समस्त राजनीतिक, सैनिक, सामाजिक तथा अन्य दुर्बलताएं भारत की भावी मुस्लिम आक्रमणकारियों के लिए प्रेरणादायक साबित हुईं और अन्त में भारत में मुस्लिम सत्ता की स्थापना हुई।

1.17 भारत के अपार धन की क्षति

महमूद का मुख्य उद्देश्य भारत की अपार सम्पत्ति का अपहरण करना था। इन आक्रमणों के पूर्व भारत धन-धान्य से पूर्ण देश था। वह सोने की चिड़िया के नाम से विख्यात थी। राजकोष और मठ-मन्दिरों में सदियों से अपार धन-सम्पत्ति, रत्न-राशि और सोने-चांदी संग्रहित हो रहे थे। महमूद ने इस विपुल सम्पदा का अपहरण कर भारत को धनहीन कर दिया। इससे भारत की आर्थिक व्यवस्था को गहरा आघात लगा।

1.18 कला और संस्कृति का विनाश

अपने आक्रमणों के क्रम में महमूद ने अनेक मनोरम नगरों, मन्दिरों, मूर्तियों तथा अन्य स्मारकों को तोड़ दिया। मथुरा, कन्नौज, थानेश्वर नगरकोट, सोमनाथ आदि नगरों के कलात्मक भवनों को नष्ट कर दिया गया। इस प्रकार महमूद के आक्रमणों से स्थापत्य एवं मूर्ति निर्माण की कला को काफी क्षति हुई और भारतीय संस्कृति की प्रगति में अवरोध उत्पन्न हो गया। इतना ही नहीं, भारतीय शिल्पियों और कलाकारों को वह बलपूर्वक पकड़ कर गजनी ले गया। स्पष्ट है कि भारतीय कला और संस्कृति पर उसके आक्रमणों के प्रभाव घातक थे।

1.19 इस्लाम का प्रचार

महमूद ने उत्तर भारत में कन्नौज और दो-आब तक धावे बोलें। इस प्रकार राज्य-सीमा के विस्तार के साथ-साथ भारत में इस्लाम का क्षेत्र भी विस्वत हुआ। अनेक व्यक्ति बल प्रयोग के द्वारा मुसलमान बना दिये गये। भारत में सैनिकों के साथ-साथ मुस्लिम सन्त और धर्म प्रचारक भी आये। इन्होंने इस देश में इस्लाम का प्रचार किया और बहुत से लोगों को इस धर्म में दीक्षित किया। इन नये मुसलमानों ने भविष्य में मुम्मद गोरी तथा अन्य मुस्लिम आक्रमणकारियों को भारत के विरुद्ध काफी सहायता प्रदान की। एक तरफ इस्लाम का प्रचार हुआ तो दूसरी ओर हिन्दुओं में इस्लाम के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी हुई। महमूद की हिंसात्मक एवं लूट-पाट की नीति ने हिन्दुओं के दिलों में इस्लाम के प्रति धृणा उत्पन्न कर दी।

1.20 दास प्रथा का विकास

आक्रमण एवं विजय के क्रम में बहुत से हिन्दु दास बना लिये गये और उन्हें गजनी भेज दिया गया। दास और धन की वृद्धि से सैनिकों में अनैतिकता एवं भोग विलास को प्रोत्साहन मिला। सैनिकों में लड़ने की क्षमता जाती रही। यह तत्व गजनवी साम्राज्य के पतन में सहायक सिद्ध हुआ।

1.21 मध्य एशियाई साम्राज्य की सुरक्षा एवं विस्तार

महमूद ने भारतीय आक्रमणों में अपार धन-राशि और हाथी प्राप्त किये। ये साधन उसके मध्य एशियाई साम्राज्य की सुरक्षा एवं विस्तार में काफी सहायक सिद्ध हुए। धन और हस्ति सेना का अभाव में ऐसा सम्भव नहीं होता महमूद ने

उनका प्रयोग अपने मध्य एशियाई युद्धों में किया और उनमें सफलता प्राप्त की। इससे इस क्षेत्र में उसके साम्राज्य का काफी विस्तार हुआ।

1.22 कला और साहित्य का संरक्षण

महमूद ने भारत से धन-राशि का उपयोग विद्वानों, कवियों, लेखकों, तथा कलाकारों को राज्याश्रम देने में किया इससे साहित्य और कला का गजनी में काफी विकास हुआ। वह भारत में अनेक शिल्पियों, कलाकारों और कारीगरों को अपने साथ गजनी ले गया। इन भारतीय कारीगरों और शिल्पकारों ने गजनी में कला के अनेक उत्कृष्ट कृतियों का निर्माण किया। इनकी कलाकृतियों ने गजनी की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा दिया और महमूद के सम्मान में वृद्धि की। भारत से प्राप्त धन की प्रचुरता से महमूद ने गजनी में अनेकानेक साहित्यकारों और विद्वानों को राजकीय संरक्षण दिया। उसके शासनकाल में गजनी मुस्लिम संस्कृति का महत्वपूर्ण केन्द्र हो गया।

1.23 भारत पर भावी आक्रमण के नवीन मार्ग की खोज

भारत पर आक्रमण के सन्दर्भ में महमूद ने अरब आक्रमणकारियों की गलती को नहीं दोहराया था। उसने सिन्ध के दुष्कर सीमान्त मार्ग के स्थान पर पश्चिमोत्तर क्षेत्रीय भाग से भारत में प्रवेश किया। यह मार्ग भारत में प्रवेश का अपेक्षाकृत सुगम मार्ग था। वास्तव में इसी मार्ग द्वारा भारत की विजय संभव थी। भविष्य में भारत में इसी मार्ग से मुसलमानों के आक्रमण हुए और उन्होंने भारत में मुस्लिम सत्ता की स्थापना की।

1.24 सारांश

भारत में तुर्कों की सफलता और राजपूत राजाओं के पराजय के कारण यहां कि राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक व्यवस्थाओं में नीहित थी। राजनीतिक विश्रंखलता, सामाजिक विषमता और आर्थिक सम्पन्नता ही भारतीयों के पराजय के मुख्य कारण बनी। तुर्क कूटनीति एवं सैनिक क्षमता में राजपूतों से काफी आगे थे। वे नये धर्म, इस्लाम एवं “जिहाद” के भावना से ओत परोत होकर लड़ रहे थे। उन्हें विश्वास था कि विजय होने पर अकूत धन एवं वैभव की तथा मारे जाने पर स्वर्ग की प्राप्ति होगी। धार्मिक भावना एवं नवीन धर्म इस्लाम की प्रचार-प्रसार की विचारधारा ने उन्हे भारत विजय के लिए प्रेरित किया और अन्तः सफल भी हुए। तुर्कों के आगमन के परिणाम बहुत व्यापक और दूरगामी सिद्ध हुए। सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में इसका अत्याधिक व्यापक प्रभाव पड़ा। नये धर्म इस्लाम की शिक्षा से प्रभावित होकर लोगों ने इसको अंगीकार करना प्रारम्भ कर दिया। दूसरी ओर भारतीय कला और संस्कृति को मध्य एशिया में फलने फूलते का भी अवसर प्राप्त हुआ।

1.25 अभ्यासार्थ प्रश्न

- 1 तुर्कों के सफलता के कारणों की चर्चा कीजिये।
- 2 राजपूत राजाओं के सैनिक क्षमता एवं युद्ध नीति की व्याख्या कीजिये।
- 3 तुर्कों के आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का वर्णन कीजिये।
- 4 क्या सामाजिक विषमता एवं राजनीतिक विखण्डता भारतीयों के पराजय का प्रमुख कारण था ?
- 5 तुर्कों के आगमन से भारतीय समाज एवं सांस्कृति कहां तक प्रभावित हुई, विवेचना।
- 6 तुर्क आक्रमण के कारण एवं परिणामों की विश्लेषण कीजिये।

1.26 सन्दर्भ ग्रन्थ

- 1 बिपिन बिहारी सिन्हा: मध्यकालीन भारत
- 2 हरीश चन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत खण्ड -1
- 3 जे0एल0 मेहता : मध्यकालीन भारत का वृहत इतिहास खण्ड - 1
- 4 ऐ0एल0 श्रीवास्तव : मध्यकालीन भारत - (1000-1707)
- 5 कामेश्वर प्रसाद : दिल्ली सलतनत का इतिहास
- 6 एल0पी0शर्मा : मध्यकालीन भारत
- 7 सतीश चन्द्र : मध्यकालीन भारत का इतिहास।

ब्लॉक दो

इकाई दो :मामलुक सुलतान

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 कुतुबुद्दीन ऐबक
 - 2.3.1 ऐबक का राज्यारोहण
 - 2.3.2 ऐबक की समस्याएँ एवं उनका निराकरण
 - 2.3.3 ऐबक का शासन प्रबन्ध
 - 2.3.4 ऐबक का योगदान
- 2.4 इल्तुतमिश
 - 2.4.1 इल्तुतमिश की समस्याएँ
 - 2.4.2 सल्तनत की शक्ति एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि
 - 2.4.3 इक्तदारी व्यवस्था की स्थापना
 - 2.4.4 मुद्रा में सुधार
 - 2.4.5 न्याय प्रशासन की व्यवस्था
 - 2.4.6 शिक्षासाहित्य तथा विभिन्न कलाओं का संरक्षण-
 - 2.4.7 इल्तुतमिश के कार्यों का मूल्यांकन
 - 2.4.8 रूकुनुद्दीन फिरोज
 - 2.4.9 रजिया सुलतान
 - 2.4.10 रजिया की समस्याएँ
 - 2.4.11 विद्रोहियों का दमन
 - 2.4.12 सुलतान की प्रतिष्ठा में वृद्धि
 - 2.4.13 प्रशासनिक संगठन
 - 2.4.14 प्रतिक्रिया एवं विद्रोह
 - 2.4.15 रजिया के पतन के कारण
 - 2.4.16 रजिया के कार्यों का मूल्यांकन
- 2.5 मुईजुद्दीन बहरामशाह
- 2.6 अलाउद्दीन मसूदशाह
- 2.7 नासिरुद्दीन महमूद
 - 2.7.1 नासिरुद्दीन महमूद का मूल्यांकन
- 2.8 ग्यासुद्दीन बलबन
 - 2.8.1 बलबन का प्रारम्भिक जीवन
 - 2.8.2 नायब के रूप में बलबन
 - 2.8.3 बलबन की समस्याएँ

- 2.8.4 बलबल की कार्य
- 2.9 प्रथम वर्ग
 - 2.9.1 तुर्क सरदारों पर नियंत्रण
 - 2.9.2 आंतरिक विद्रोहों का दमन
 - 2.9.3 बंगाल में तुगरिल खां का विद्रोह
 - 2.9.4 मंगोल आक्रमण
- 2.10 द्वितीय वर्ग
 - 2.10.1 बलबन के राजत्व सम्बंधी सिद्धान्त
 - 2.10.2 सैनिक व्यवस्था
 - 2.10.3 गुप्तचर विभाग का गठन
 - 2.10.4 प्रशासनिक सुधार
- 2.11 कैकुबाद
- 2.12 खिलजी क्रान्ति
- 2.13 सारांश
- 2.14 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 2.15 सन्दर्भ ग्रंथ

2.1 प्रस्तावना

शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के निधन के पश्चात उसके द्वारा विजित भारतीय क्षेत्र पर उसके गुलाम एवं प्रतिनिधि कुतुबुद्दीन ऐबक का अधिकार हो गया। कुतुबुद्दीन ने भारत में प्रथम संप्रभुता सम्पन्न मुस्लिम राजवंश की स्थापना की दिल्ली इस राज्य की राजधानी थी। अतः इसे दिल्ली सल्तनत कहा गया। चूंकि इस वंश की स्थापना ऐबक के द्वारा की गई थी जो स्वयं मुहम्मद गोरी का गुलाम था अतः इस वंश को गुलाम वंश का नाम से जाना जाता है। परन्तु इस वंश को ममलुक वंश के नाम से सम्बोधित करना उचित एवं न्यायसंगत है। क्योंकि इस वंश के सभी शासक गुलाम नहीं थे और 1206 से 1290 तक तीन अलगअलग वंशों- कुतुबी, शमसी एवं इलबरी वंश के शासकों ने शासन किया। कुछ शासक प्रारम्भ में गुलाम अवश्य थे। परन्तु बाद में अपने स्वामियों द्वारा दासता से मुक्तकर दिए गए थे। ऐसे लोग जो प्रारम्भ में गुलाम थे, परन्तु बाद में आजाद कर दिये जाते हैं वह ममलुक कहलाते हैं। इसीलिए ऐबक द्वारा स्थापित गुलाम वंश को ममलुक वंश कहना अधिक न्यायसंगत है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप जान सकेंगे कि -:

- किस प्रकार एवं किस परिस्थिति में भारत में ममलुक वंश की स्थापना हुई।

- ऐबक की प्रमुख समस्याएँ क्या थी और कैसे उसपर नियंत्रण स्थापित की।
- इल्तुतमिश ने किस प्रकार नवस्थापित सल्तनत को स्थायित्व एवं दृढ़ता प्रदान की।
- एम मात्र महिला शासिका रजिया के सामने क्या चुनौतियां थी।
- बलबन ने किस प्रकार सुलतान की खोई हुई प्रतिष्ठा एवं गरिमा को पुनः स्थापित की।
- बलबन के राजत्व सिद्धान्त क्या थे ?

2.4 कुतुबुद्दीन ऐबक (1206-1210)

कुतुबुद्दीन का जन्म तुर्किस्तान के एक उच्च कुल में हुआ था। बाल्यकाल में ही उसे गुलाम बनाकर निशापुर के काजी फखरुद्दीन के हाथों बेच दिया गया। काजी ने उसकी उचित ढंग से देखभाल की तथा उसे धनुर्विद्या और घुड़ सवारी की शिक्षा दी। ऐबक ने कुरान पढना भी सीख लिया और इसीलिए उसे कुरानख्वां के नाम से (कुरान का पाठ करने वाला) भी प्रसिद्ध हुआ। बाद में वह निशापुर से गजनी ले जाकर बेच दिया गया। उसे वहां मुहम्मद गोरी ने खरीद लिया। मुहम्मद गोरी की सेवा में आने के बाद कुतुबुद्दीन के जीवन में महान परिवर्तन आया।

अपनी प्रतिभा, लगन, ईमानदारी और स्वामिभक्ति के बल पर कुतुबुद्दीन ने गोरी का विश्वास प्राप्त कर लिया। गोरी ने उसे अमीर ए आखूर-के पर प्रोन्नत कर दिया। इस पद पर रहते हुए ऐबक ने गोर, बामियान और गजनी के युद्धों में सुलतान की सेवा की। बाद में तराइन के युद्ध में उसने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उसके कार्यों से प्रसन्न होकर गोरी ने उसे क्रमशः कुहराम और समाना का प्रशासक नियुक्त किया। वस्तुतः 1192-1206 ई० तक उसने गोरी के प्रतिनिधि के रूप में उत्तरी भारत के विजित भागों का प्रशासन संभाला। इसी अवधि में ऐबक ने उत्तरी भारत में तुर्की शक्ति का विस्तार भी किया। उसने अनेक राज्यों से संघर्ष किया। गहड़वालों को पाराजित किया, गुजरात, बयाना, ग्वालियर के युद्धों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा 1205 ई० में रवोखरों के विरुद्ध मुहम्मद गोरी का हाथ बटाया। वस्तुतः गोरी की सैनिक योजनाओं को मूर्तरूप ऐबक ने ही दिया। इसीलिए भारतीय तुर्क अधिकारी उसे ही अपना प्रधान मानने लगे थे।

2.3.1 ऐबक का राज्यारोहण

1206 ई० में गोरी ने नियमित रूप से भारत में ऐबक को अपना प्रतिनिधि नियु (सुबेदार) कर उसे मलिक की उपाधि से विभूषित किया था। गोरी के मृत्यु के समय भारतीय क्षेत्रों का प्रबंध कुतुबुद्दीन ऐबक के हाथों में था। गोरी की मृत्यु के पश्चात उसके उत्तराधिकार का प्रश्न हल नहीं हुआ। गोरी का भतीजा, ग्यासुद्दीन मुहम्मद, गोर एवं गजनी का शासक बना। उसकी स्थिति अत्यन्त नाजुक थी। गोर साम्राज्य के अवशेषों पर कब्जा जमाने के लिए तीन व्यक्ति लालायित थे, ताजुद्दीन यल्दूज, नासिरुद्दीन कुबाचा तथा कुतुबुद्दीन ऐबक का अब भी भारतीय प्रदेशों पर अधिकार था। राज्य की अव्यवस्थित अवस्था को देखकर उसने भारत में स्वतंत्र राज्य की स्थापना की चेस्टा की। उसने ग्यासुद्दीन के पास यह खबर भेजी कि अगर वह ऐबक को भारत का शासक स्वीकार कर ले, तो ऐबक उसे ख्वारिज्म शाह के विरुद्ध सहायता देगा। सुलतान ने उसकी बात मानकर उसे भारत का शासक स्वीकार कर लिया। सुलतान की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात ऐबक का राज्यभिषेक 25 जून 1206 ई० को लाहौर में हुआ।

2.3.2 ऐबक की समस्याएँ एवं उनका निराकरण

जिस समय ऐबक सुलतान बना, उस समय उसके अधीन भारत के अनेक इलाके थे। उत्तरीपश्चिम सीमा में मध्य- भारत तक उसका राज्य विस्तृत था। पूर्वी भारत में बिहार और बंगाल भी तुर्की राज्य में शामिल था। ऐबक के प्रतिद्वंदी यल्दूज, कुबाचा और बंगालबिहार में बाख्तियार खिलजी अपनी शक्ति और प्रभाव बढ़ाने में लगे हुए थे। गोरी के - राज्य पर अधिकार कर लेने से मुइज्जी एवं कुतुबी अमीर भी उससे नाखुश थे। राजपूत राज्य स्वतंत्रता प्राप्ति का प्रयास कर रहे थे। कालिंजर और ग्वालियर स्वतंत्र हो चुके थे। प्रशासनिक व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में ऐबक ने अपना सारा ध्यान अपनी स्थिति सुदृढ़ करने की ओर लगाया। उसने साम्राज्य विस्तार के बदले विजित क्षेत्रों की सुरक्षा और प्रशासनिक गठन को अपना लक्ष्य बनाया।

2.3.3 ऐबक का शासन प्रबन्ध

ऐबक ने मात्र चार वर्षों तक भारत पर शासन किया। इस अल्प काल में वह अधिकतर युद्धों में एवं अपने प्रतिद्वंद्वियों से लोहा लेने में व्यस्त रहा। समयाभाव तथा संघर्षरत रहने के कारण वह प्रशासन की ओर उचित एवं पर्याप्त ध्यान नहीं दे सका। फिर भी उसने विद्रोहों का दमन कर देश में शांति व सुव्यवस्था की स्थापना की। चोरडाकुओं का उसके राज्य में - भय नहीं था। कुछ इतिहासकार उसे उत्साही, उदार और न्यायप्रिय शासक मानते हैं, उसकी दानशीलता की प्रशंसा करते हुए मिनहाज सिराज ने उसे-उस-‘हातिम द्वितीय’ एवं ‘लाख बख्श’ कहा है। परन्तु कुछ इतिहासकार यह भी मानते हैं कि उसके अन्दर रचनात्मक प्रतिभा की कमी थी। स्थानीय प्रशासन एवं राजस्व सम्बंधी नियम पुराने ही रहे। यद्यपि राजधानी और प्रान्तों में एक एक-काजी क नियुक्ति की गई।

2.3.4 ऐबक का योगदान

दिल्ली सल्तनत के संस्थापक ऐबक ने कला और साहित्य के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। वह कला और साहित्य का संरक्षक था। हसन निजामी और फरूखमुदब्बीर उसके दरबार के प्रसिद्ध विद्वान थे। उसने दो प्रसिद्ध मस्जिदों का निर्माण भी करवाया दिल्ली स्थित का ‘कुवत-उल इस्लाम और अजमेर का-‘ढाई दिन का झोपडा’। उसने कुतुबुमीनार बनाने का कार्य भी आरम्भ किया, परन्तु इसे पूरा नहीं कर सका। उसने रायपिथौडा नामक किला का भी नीव रखी। ऐबक द्वारा स्थापित नीव पर ही आगे इल्तुतमिश और बलबन ने सल्तनत की भव्य इमारत खड़ी की। यही ऐबक की सबसे बड़ी उपलब्धि कही जा सकती है।

2.4 इल्तुतमिश (12010-1226)

ऐबक की मृत्यु के पश्चात तुर्क सरदारों ने आरामशाह को सुलतान घोषित कर दिया। आरामशाह एक अक्षम एवं आरामतलब व्यक्ति था। अनेक तुर्क सरदारों ने उसका विरोध किया। सामाज्य में अव्यवस्था फैल गई और वह स्थिति पर नियंत्रण करने में असमर्थ सिद्ध हो रहा था। अतः दिल्ली के तुर्क सरदारों ने बदायूँ के गवर्नर इल्तुतमिश, जो ऐबक का विश्वासपात्र गुलाम एवं उसका दामाद भी था, को दिल्ली आने का निमंत्रण भेजा। आरामशाह को दिल्ली के निकट युद्ध में पराजित करके मार डाला और स्वयं 1210 ई० में सुलतान बन बैठा।

2.4.1 इल्तुतमिश की समस्याएँ

इल्तुतमिश शासक बनने के बाद बाह्य एवं आंतरिक कठिनाइयों से घिरा हुआ पाया। इल्तुतमिश के तीन प्रमुख प्रतिद्वंद्वी थेगजनी में ताजुद्दीन यल्दौज -, सिंध में नासरुद्दीन कुबाचा तथा बंगाल में अलीमर्दानखा। राजपूत शासक पुनः दिल्ली सल्तनत को चुनौती दे रहे थे। कालिंजर और ग्वालियर पहले ही तुर्कों के हाथ से निकल चुके थे। नवस्थापित - राज्य को मंगोल आक्रमण का भी खतरा था। इल्तुतमिश की आंतरिक स्थिति भी चिन्ताजनक थी। तुर्की अमीरों का एक वर्ग भी इल्तुतमिश का विरोधी था। प्रशासनिकव्यवस्था पूरी तरह नष्ट हो चुकी थी। संक्षेप में नवस्थापित तुर्की - सल्तनत विनाश के कगार पर खड़ा था। इसकी सुरक्षा एक दृढनिश्चयी एवं साहसी व्यक्ति ही कर सकता था। इल्तुतमिश ने इस कार्य को पूरा किया। इसी कारण अनेक विद्वान भारत में तुर्की सल्तनत का वास्तविक संस्थापक इल्तुतमिश को ही मानते हैं।

2.4.2 सल्तनत की शक्ति एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि

सर्वप्रथम इल्तुतमिश ने सुलतान की शक्ति एवं प्रतिष्ठा स्थापित करने का प्रयास किया। इसलिए, विरोधी अमीरों को महत्वपूर्ण पदों से हटाकर अपने विश्वास पात्र व्यक्तियों को बहाल करने की योजना बनाई। उसने अपने विश्वासपात्र व्यक्तियों को लेकर 'चरगान', चहलगान अथवा चालीसा की स्थापना की। राज्य के समस्त महत्वपूर्ण पद उन्हें ही सौंपे गये। चरगान के अतिरिक्त अन्य योग्य एवं प्रशानिक दक्षतावाले व्यक्तियों को भी, योग्यतानुसार राज्य के अच्च पद सौंपे गये। इस कार्य में भारतीय और विदेशी मुसलमानों में विभेद नहीं किया गया उसने वंशानुगत राजतंत्र के सिद्धान्त के भी अपनाया और अपने जीवन काल में ही अपने उत्तराधिकारी रजिया का मनोनयन किया।

2.4.3 इक्तदारी व्यवस्था की स्थापना

इल्तुतमिश का एक महत्वपूर्ण योगदान इक्तदारी व्यवस्था की स्थापना करना था। उसने पूरे राज्य को छोटीछोटी - इकाइयों में विभक्त कर दिया। इन इकाइयों को इक्ता की संज्ञा दी गई। इनके अधिकारी इक्तदार कहलाए। इक्तदारों की विभिन्न श्रेणियां थीं। बड़े इक्तदार प्रांतीय गवर्नर के रूप में काम करते थे। उन्हें सैनिक, पुलिस और न्यायिक अधिकार प्राप्त थे। लगान वसूली का कार्य भी वे करते थे। छोटे इक्तदार केवल सैनिक कार्य करते थे। इक्तदारों को उनकी सेवा के बदले में अपने अपने क्षेत्र से लगान-वसूलने का अधिकार दिया गया जिसका कुछ भाग वे अपने खर्च के लिए रख सकते थे। इक्तदारी व्यवस्था ने पहले से प्रचलित सामंती व्यवस्था को समाप्त कर दिया।

2.4.4 मुद्रा में सुधार

इल्तुतमिश का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य था प्रचलित मुद्रा व्यवस्था में परिवर्तन कर (टकसाल)ना। उसने प्रचलित सिक्कों की जगह पर अरबी ढंग के 'टंक' चलवाए। ये सोना और चांदी के बनते थे, जिनका वजन 175 ग्रेन था। टंक पर खलीफा का नाम भी खुदवाया गया। ये सिक्के केवल राजकीय टकसाल में ही ढाले जा सकते थे। टंकों पर टकसाल का नाम खुदवाने की प्रथा भी इल्तुतमिश ने प्रारम्भ की। टंक के अतिरिक्त पीतल के जीतल भी जारी लिए गये। इन सिक्कों को जारी कर इल्तुतमिश ने अपनी सत्ता के सुदृढीकरण का प्रमाण दिया।

2.4.5 न्याय शासन की व्यवस्था

न्याय प्रिय-व्यवस्था के क्षेत्र में इल्तुतमिश की देन महत्वपूर्ण मानी जाती है। वह एक न्याय-शासक था। जनता को समुचित न्याय प्राप्त हो सके इसके लिए उसने राजधानी के अतिरिक्त सलतनत के सभी बड़े शहरों में काजी और अमीरदाद नियुक्त किये। इनके फैसले के विरुद्ध लोग प्रधान काजी की अदालत में अपने मुकदमें पेश करते थे। अन्तिम फैसला स्वयं सुलतान करता था। इस प्रकार की न्यायशासन में सुलतान की सर्वोच्चता थी।-

2.4.6 शिक्षा साहित्य तथा विभिन्न कलाओं का संरक्षण-

यद्यपि इल्तुतमिश का जीवन अधिकतर युद्धों में ही व्यतीत हुआ, फिर भी शिक्षा साहित्य और विभिन्न कलाओं में उसने अपनी गहरी अभिरूचि का प्रदर्शन किया। सुलतान स्वयं प्रकाण्ड विद्वान नहीं था, पर वह विद्वानों के गुणों की सराहना करता था और उन्हें राज्याश्रय प्रदान करता था। उसके शासनकाल में मध्य एशिया में अशान्त वातावरण से क्षुब्ध होकर अनेक लेखक तथा विद्वान भागकर दिल्ली के दरबार में आ गये थे। सुलतान ने उन्हें संरक्षण प्रदान किया था। इस प्रकार उसके शासनकाल में दिल्ली का दरबार इस्लामी शिक्षा, साहित्य एवं ज्ञानविज्ञान का महत्वपूर्ण केन्द्र हो गया।

इल्तुतमिश विभिन्न कलाओं में और विशेष रूप से स्थापत्य कला में गहरी अभिरूचि रखता था। कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा प्रारम्भ किया गया कुतुबुमीनार के अधूरे कार्य को पूर्ण करने का श्रेय उसी को है। इसके अलावा सुलतान ने अनेक मीनारों, मस्जिदों, मदरसे, खानकाह, तालाब, मकबरे इत्यादि बनवाए। इनमें प्रमुख है। सुलतान गढ़ी, शमसी मदरसा तथा हौजशमसी इत्यादि।-ए-

2.4.7 इल्तुतमिश के कार्यों का मूल्यांकन

प्रारम्भिक तुर्क सुलतानों में इल्तुतमिश का महत्वपूर्ण स्थान है। उसने कुतुबुद्दीन ऐबक के अधूरे कार्यों को पूरा किया। तथा नवस्थापित दिल्ली सलतनत को स्थायित्व प्रदान किया। प्रो० ईश्वरी प्रसाद इल्तुतमिश को ही गुलाम वंश का 'वास्तविक संस्थापक' मानते हैं। इसके अलावा अनेक इतिहासकारों ने इल्तुतमिश के सैनिक, प्रशासनिक एवं व्यक्तिगत गुणों की प्रशंसा की है। प्रो० निजामी के शब्दों में "ऐबक ने दिल्ली सलतनत की रूपरेखा के बारे में सिर्फ दिमागी आकृति बनाई थी, इल्तुतमिश ने उसे एक व्यक्तित्व, एक पद, एक प्रेरणाशक्ति, एक दिशा, एक शासन व्यवस्था और एक शासक वर्ग प्रदान किया" विषय परिस्थितियों से जूझते हुए उसने तुर्की राज्य को स्थायित्व प्रदान किया। वह एक कुशल सेनापति, वीर विजेता, दूरदर्शी एवं न्याय प्रिय शासक तथा कला एवं साहित्य का संरक्षक था। वास्तव में भारत में तुर्की शासन का वास्तविक संस्थापक इल्तुतमिश ही था। भारत में 'मुस्लिम प्रभुसत्ता का वास्तविक श्री गणेश' इल्तुतमिश से ही होता है। उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि थी। नवस्थापित तुर्की सलतनत को विघटन से बचाकर उसकी सुरक्षा एवं स्थायित्व प्रदान करना।

2.6 रूकुनुद्दीन फिरोज)1236)

इल्तुतमिश ने अपनी मृत्यु के पूर्व अपना राज्य अपनी पुत्री रजिया को सौंपने की इच्छा व्यक्त की थी। इसका कारण यह था कि उसके योग्य और बड़े पुत्र, लखनौती के शासक, नासरुद्दीन महमूद की मृत्यु हो चुकी थी तथा छोटे पुत्र रूकुनुद्दीन फिरोजशाह एक दुर्बल और अक्षम व्यक्ति था। दुर्भाग्यवश इल्तुतमिश की यह इच्छा पूरी नहीं हो सकी। तुर्क अमीर एक स्त्री को राज्य करते हुए देखना अपना अपमान समझते थे। अतः अनेक तुर्क अमीरों, फिरोजशाह की माता शाहतुर्कन और अनेक इक्तादारों ने पड़यंत्र कर रूकुनुद्दीन फिरोजशाह को 1236 ई0 में सुलतान घोषित कर दिया।

फिरोजशाह सुलतान तो बन गया, परन्तु वह राज्य पर नियंत्रण नहीं रख सका। वास्तविक सत्ता शाहतुर्कन के हाथों में चली गई। वह एक क्रूर महिला थी। उसने तुर्क अमीरों एवं राजपरिवार के सदस्यों को अपमानित एवं आतंकित करना आरम्भ कर दिया। इल्तुतमिश के छोटे पुत्र रूकुनुद्दीन को अंधा करवा कर उसकी हत्या करवा दी गई। प्रशासन पर नियंत्रण ढीला पड़ गया। जनता पर भी अत्याचार होने लगा। फलतः पूरे राज्य में असंतोष एवं विद्रोह छा गया। फिरोजशाह को अपने भोगवि-लास से ही छुट्टी नहीं थी, परन्तु जब लगातार लाहौर, मुलतान हाँसी और बदायूँ का विद्रोह आरम्भ हुआ, तब फिरोजशाह को बाध्य होकर अपनी निद्रा तोडनी पड़ी। इस बीच सारे विद्रोही अपनी सेना के साथ दिल्ली की तरफ बढ़े। वजीर जुनैदी भी अनेक अधिकारियों के साथ विद्रोहियों से मिल गया। हताश सुलतान दिल्ली छोड़कर विद्रोहियों का सामना करने के लिए आगे बढ़ा।

दिल्ली में सुलतान की अनुपस्थित का लाभ उठाकर रजिया लाल वस्त्र पहनकर जुमा की नमाज के अवसर पर जनता के सम्मुख उपस्थित हुई। उसने शाहतुर्कन के अत्याचारों एवं, राज्य में फैली अव्यवस्था का बखान किया तथा आश्वासन दिया कि शासक बनकर वह शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित करेगी। रजिया से तुर्क अमीर और अन्य व्यक्ति प्रभावित हो उठे। क्रुद्ध जनता ने राजमहल पर आक्रमण कर शाहतुर्कन को गिरफ्तार कर लिया एवं रजिया को सुलतान घोषित कर दिया। फिरोजशाह जब विद्रोहियों से भयभीत होकर दिल्ली पहुँचा तब उसे भी कैद कर लिया गया और उसकी हत्या कर दी गई। इस प्रकार नवम्बर, 1236 ई0 में रजिया सुलतान के पद पर प्रतिष्ठित हुई।

2.7 रजिया सुलतान)1236-1240)

रजिया दिल्ली की प्रथम और अंतिम महिला सुलतान थी। फिरोजशाह को पदच्युत कर रजिया दिल्ली का सुलतान बनी। उसने केवल चार वर्षों के लिए ही शासन किया, तथापि उसके राज्यारोहण का सल्तनत के इतिहास में विशेष महत्व है। रजिया को राजगद्दी दिल्ली की जनता के समर्थन से प्राप्त हुई। जनता सदैव उसके प्रति वफादार बनी रही। इसका कारण यह था कि रजिया ने जनता को आश्वासन दिया था कि वह जनता की आकांक्षाओं की अगर पूर्ति नहीं कर पाएगी तो सत्ता त्याग देगी। रजिया को सुलतान बनाते समय जनता ने धर्माधिकारियों और प्रभावशाली तुर्क अधिकारियों के वर्ग की उपेक्षा की थी, अतः आरम्भ से ही रजिया अनेक समस्याओं से धिरी रही।

2.6.1 रजिया की समस्याएँ

यद्यपि जनसमर्थन और कुछ तुर्की अमीरों की सहायता से रजिया ने गद्दी प्राप्त कर ली थी, तथापि उसकी स्थिति सुदृढ़ नहीं थी। उसके समक्ष अनेक कठिनाइयाँ एवं चुनौतियाँ थीं। सबसे बड़ी समस्या वैद्य उत्तराधिकार की थी। इल्तुतमिश के बचे हुए पुत्र स्वयं ही गद्दी हड़पना चाहते थे। इनमें सबसे अधिक महत्वाकांक्षा बहरामशाह था, जिसे अनेक अमीर अपना समर्थन दे रहे थे। अनेक अमीरों के स्वाभिमान को एक स्त्री के शासक बनने से ठेस पहुँची थी। फलतः, वजीर जुनैदी सहित बहुत से प्रान्तीय सुबेदार और सरदार, जिनमें प्रमुख मलिक जानी, मलिक कूची, मलिक अयाज और मलिक सलारी थे, रजिया को गद्दी से हटाने का षड़यंत्र कर रहे थे। इतना ही नहीं, कई राजपूत राज्यों ने भी विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया था। राज्य में सर्वत्र अराजकता एवं अव्यवस्था व्याप्त थी। अतः रजिया के लिए आवश्यक हो गया कि वह परिस्थिति पर नियंत्रण स्थापित करे।

2.6.2 विद्रोहियों का दमन

रजिया ने सर्वप्रथम विद्रोही सरदारों को नियंत्रित करने का प्रयास किया। इस उद्देश्य से उसने दिल्ली के बाहर यमुना नदी के किनारे एक सैनिक शिविर की स्थापना की। दुश्मनों की सेना दिल्ली के आस पास घेरा डाले हुए थी।-उसने कूटनीतिक चाल चलकर मलिक सलारी और अयाज को अपने पक्ष में मिला लिया। मलिक कूची और उसके भाई को पकड़कर हत्या करवा दी गई। मलिक जानी की भी हत्या कर दी गई। इन घटनाओं से भयभीत होकर वजीर जुनैदी सिरमूर की पहाड़ियों में भाग गया। वहीं उसकी मृत्यु हो गई। रजिया के इन कार्यों से अन्य सुबेदार और अमीर आतंकित हो गए। उन लोगों ने रजिया की सत्ता स्वीकार कर ली। मिनहाजसिराज के अनुसार अब-उस-, “लखनौती से देवल ने उसकी सत्ता स्वीकार कर ली तक समस्त मलिकों और अमीरों (बंगाल से गुजरात)“।

2.6.3 सुलतान की प्रतिष्ठा में वृद्धि

अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए रजिया ने सुलतान के पद एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि का भी प्रयास किया। उसने परदा छोड़कर पुरुष का वेश धारण किया। कुबा पहनकर वह दरबार लगाने लगी। सुलतान की (टोपी) और कुलाह (कोट) गद्दी पर बैठकर वह दरबार में फरियाद सुनती थी। उसने पुरुषों की तरह शिकार खेलना और घुड़सवारी करना भी आरम्भ कर दिया इसके इन कार्यों से जनताप्रभावित हुई और उसे अपना सच्चा और हितैषी सुलतान समझने लगी।-

2.6.4 प्रशासनिक संगठन

रजिया ने प्रशासन पर अपनी पकड़ मजबूत कर ली। महत्वाकांक्षी तुर्क सरदारों पर नियंत्रण रखने के लिए तथा उनकी बढ़ती शक्ति पर अंकुश रखने के लिए यह आवश्यक था। अतः उसने वफादार गैरतुर्कों को भी राज्य के महत्वपूर्ण पदों -
-ए-तथा जमालुद्दीन याकूत नाम का हब्शी अमीर पर बहाल किया। नायब वजीर मुहज्जबउद्दीन वजीर बनाया गया आखूर बहाल हुआ। मलिक हसन गोरी सेनापति बना। कबीर खाँ अयाज कोलाहौर का इत्तदार नियुक्त किया गया, परन्तु उसके विद्रोह करने के कारण उसे हटा दिया गया।

2.6.5 प्रतिक्रिया एवं विद्रोह

अपने कार्यों द्वारा रजिया ने राज्य में व्यवस्था स्थापित की तथा अपनी शक्ति सुदृढ़ की, परन्तु इसके साथ ही रजिया के विरुद्ध प्रतिक्रिया और असंतोष भी आरम्भ हुआ। रजिया की बढ़ती शक्ति से तुर्क अमीर आंशकित हो उठे। धर्मभीरू लोगों को रजिया का पुरूष वेश में शासन करना पसन्द नहीं था। रजिया पर यह भी आरोप लगाया गया कि उसका याकूत से अनैतिक सम्बंध था। ग्वालियर के हाकिम जियाउद्दीन जुनैदी के 1238 ई0 में दिल्ली में विस्मयकारी ढंग से गायब हो जाने का दोष भी रजिया पर ही मढ़ा गया।

अब तुर्क सरदारों ने विद्रोह करने की ठान ली। सबसे पहले लाहौर के सुबेदार कबीर खां आयाज ने विद्रोह किया, परन्तु यह विद्रोह दबा दिया गया। अब तुर्क सरदारों ने संगठित रूप से विद्रोह की योजना बनाई। बदायूँ और तबरहिन्द के इक्तादारों (भटिंडा), एतगीन और अल्लतूनिया ने इस पड़यंत्र में मुख्य भूमिका निभाई; एतगीन के इशारे पर अल्लतूनिया ने 1240 ई0 में विद्रोह कर दिया। विद्रोह का दमन करने के लिए रजिया भटिंडा की तरफ बढ़ी। इसी बीच एतगीन ने रजिया के प्रेमी याकूत की हत्या करवा दी तथा अल्लतूनिया के सहयोग से रजिया को बन्दी बना लिया। तुर्की अमीरों ने इल्तुतमिश के पुत्र बहरामशाह को दिल्ली की गद्दी पर आसीन कर दिया। शासक बनने के पश्चात बहरामशाह ने अपने हाथों में शक्ति संचित करने का प्रयास किया। सबसे पहले उसने एतगीन की हत्या करवा दी। अल्लतूनिया इससे आशंकित हो उठा। उसने रजिया को कैद से मुक्त कर उसके साथ विवाह कर लिया। रजिया के साथ वह अब दिल्ली पर अधिकार करने को निकला, परन्तु बहराम से पराजित होकर दोनों भाग गये। 13 अक्टूबर 1240 की कैथल के निकट अल्लतूनिया एवं रजिया की हत्या कर दी गई।

2.6.6 रजिया के पतन के कारण

अनेक गुणों एवं व्यक्तिगत योग्यताओं के बावजूद रजिया एक सुलतान के रूप में असफल रही। उसे आरम्भ से ही प्रतिकूल परिस्थितियां का सामना करना पड़ा जिसने अंततः उसे अपना राज्य और जीवन दोनों खोने पर बाध्य कर दिया।

रजिया की असफलता के लिए अनेक कारण उत्तरदायी थे। अनेक इतिहासकारों की मान्यता है कि रजिया की असफलता का मुख्य कारण उसका स्त्री होना था। यह मत पूर्णरूपेण सही नहीं है। स्त्री होते हुए भी वह पुरूषोचित गुणों से परिपूर्ण थी। उसमें स्त्री सुलभ दुर्बलता का नामोनिशान नहीं था। वह पुरूषों के समान वस्त्र धारण कर दरबार लगाती थी। वह विषम परिस्थितियों में भी घबराती नहीं थी। एक बार सत्ता खोने के बावजूद उसने पुनः सत्ता प्राप्त करने का प्रयास किया, परन्तु अपनी अकालमृत्यु के कारण वह ऐसा कर नहीं पाई।

रजिया की असफलता का मुख्य कारण शासक वर्ग और उलेमा वर्ग का सतत विरोध था। प्रथम वर्ग के हाथों में सैनिक एवं प्रशासनिक नियंत्रण था तो दूसरे के हाथ में लोकमत को प्रभावित करने की शक्ति। किसी भी सुलतान के लिए इन दोनों प्रभावशाली वर्गों को अपने पक्ष में मिलाए बिना शासन करना असम्भव था। तुर्की सामन्तवर्ग अत्यन्त महत्वकांक्षी था। प्रत्येक तुर्क अमीर और सरदार अधिक से अधिक सत्ता अपने हाथों में केन्द्रित रखना चाहता था। इस प्रक्रिया में वे इल्तुतमिश के प्रति वफादारी भी भूल गए। रजिया ने उनकी महत्वकांक्षाओं एवं षड़यन्त्रों पर नियंत्रण

स्थापित कर उनकी आशाओं पर अघात किया। तुर्क अमीर रजिया को अपने हाथों की कठपुतली बनाए रखना चाहते थे, लेकिन जब उनका यह प्रयास विफल हो गया तो उन लोगों ने आपसी कटुता भुलाकर संगठित रूप से रजिया का विरोध किया और इसमें वे सफल भी हुए। रजिया अकेले इन विद्रोहियों की सम्मिलित शक्ति का सामना नहीं कर सकी। उलेमा वर्ग भी एक स्त्री को शासक के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं था। उसके विरुद्ध मनगढ़ंत आरोप लगाए गए, चरित्रहीनता का लांछन लगाया गया जिससे प्रजा के बीच भी रजिया की प्रतिष्ठा गिर गई। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि रजिया की असफलता का मुख्य कारण सामंत और उलेमा वर्ग का विरोध और प्रतिकूल परिस्थितियां थीं।

2.6.7 रजिया के कार्यों का मूल्यांकन

रजिया के कार्यों की प्रशंसा अनेक इतिहासकारों ने की है। मिनहाजसिराज का कथन है कि-उस-, “सुलतान रजिया एक महान शासक थी बुद्धिमान -, न्यायप्रिय, उदारचित, और प्रजा की शुभचिन्तक, समद्रष्टा, प्रजापालक और अपनी सेना की नेत्री। उसमें सभी बादशाही गुण विद्यमान थे सिवाय नारीत्व के -, और इसी कारण मर्दों की दृष्टि में उसके सब गुण बेकार थे”। इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों में वह सबसे योग्य मानी जाती है। उसमें कूटनीतिक, राजनीतिक, एवं प्रशासनिक क्षमताएँ कूटबूझ का अंदाजा उसकी मंगोल नीति से -कूट कर भरी हुई थी। रजिया की राजनीतिक सूझ-लगाया जा सकता है। 1238 ई० में मंगोलों ने ख्वारिज्म के राज्यपाल मलिक हसन कार्लिंग के कुछ क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। कार्लिंग ने मंगोलों के विरुद्ध रजिया से सहायता मांगी और अपने पुत्र को दिल्ली भेजा। रजिया ने यद्यपि उसका उचित सम्मान किया तथा उसके खर्च के लिए बरन का लगान निश्चित कर दिया, तथापि रजिया ने मंगोलों के विरुद्ध किसी गठबंधन में सम्मिलित होने से इनकार कर दिया। इस निर्णय से रजिया ने सलतनत को मंगोलों के क्रोध से बचा लिया।

रजिया जब तक गद्दी पर बनी रही, उसने राज्य की वास्तविक शक्ति अपने हाथों में रखी उसके पतन के साथ ही सुलतान कठपुतली मात्र बनकर रह गया। वास्तविक शक्ति चारगान के हाथों में चली गई। रजिया की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि उसने सुलतान के वास्तविक सत्ता का उपयोग किया। मध्यकालीन भारतीय इतिहास में रजिया द्वारा पहली बार किसी महिला को सत्ता में आने का उदाहरण मिलता है। सबसे बड़ी बात यह है कि वह जन समर्थन से शासक बनी। रजिया की एक बड़ी उपलब्धि भी तुर्क अमीरों की शक्ति पर कुठारघात करना एवं गैरतुर्क शासक वर्ग - की शक्ति को संगठित करना। दुर्भाग्यवश राजनीतिक दूरदर्शिता एवं योग्यता रखते हुए भी एक शासक के रूप में रजिया परिस्थितिवांश विफल रही।

2.8 मुईजुद्दीन बहरामशाह (1240-1242)

रजिया के बाद 1240 ई० में बहरामशाह सुलतान बना, परन्तु वह कुछ वर्षों तक ही गद्दी पर रह सका। वह नाम मात्र का शासक था। राज्य की वास्तविक शक्ति का संचालन चालीस गुलामों का दल ही करता था। शासन पर अपनी पकड़ बनाए रखने के लिए तुर्की अमीरों ने नायबका पद बनाया और उसपर (संरक्षक) मुमलकत-ए-एतगीन को बहाल किया गया, परन्तु उसकी बढ़ती शक्ति से अशंकित होकर बहरामशाह ने उसकी हत्या करवा डाली। एतगीन की हत्या

के पश्चात बदरूद्दीन सुन्कर ने नायब के अधिकार प्राप्त कर लिए। उसने बहराम की हत्या का षडयंत्र रचा; परन्तु स्वयं ही मार डाला गया। इन हत्याओं से तुर्की अमीर भयभीत हो उठे। उन लोगों ने सुलतान को पदच्युत करने का षडयंत्र रचा। 1241ई0 में लाहौर पर मंगोलों ने आक्रमण कर दिया। इसी समय तुर्क अमीरों ने भी बगावत कर दी और दिल्ली पर अधिकार कर अमीरों ने 13 मई 1242 ई0 को बहरामशाह की हत्या कर दी।

2.9 अलाउद्दीन मसूदशाह) 1242-1246)

यह भी एक दुर्बल और अयोग्य व्यक्ति था। वह नाम मात्र का शासक था। अब मलिक कुतुबुद्दीन हसन नायब और अबूबक्र वजीर बना। बलबन को हाँसी का इत्ता प्राप्त हुआ। धीरेधीरे बलबन ही सबसे प्रमुख व्यक्ति बन गया। - मसूदशाह के समय में पुनः मंगोलों का आक्रमण हुआ। 1245 ई0 में मंगोलों ने उच्छ पर अधिकार कर लिया। बलबन ने अपनी सैनिक प्रतिभा के बल पर मंगोलों को मार भगाया एवं उच्छ पर पुनः अधिकार किया। बलबन के इस कार्य से जहां उसकी शक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ी। वहीं अमीरों में सुलतान मसूदशाह की प्रति नफरत की भावना भी पैदा हुई। बलबन ने षडयंत्र कर मसूदशाह को गद्दी से हटाकर कैद कर लिया तथा कैद खाना में ही उसकी मृत्यु हो गई।

2.10 नासिरूद्दीन महमूद)1246-1266)

जून 1240ई0 में युवा नासिरूद्दीन महमूद को मसूदशाह के पश्चात सुलतान के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। उसने तुर्की अमीरों की शक्ति का अंदाजा लगाकर सारी सत्ता 'चालीसा' के सरगना और नायब बलबन के हाथों में सौंप दी। वह नाम मात्र का शासक बनकर ही संतुष्ट हो गया। फलतः तुर्की अमीरों और सुलतान के बीच चलता आ रहा सत्ता का संघर्ष समाप्त हो गया। महमूद की स्थिति का वर्णन करते हुए इतिहासकार इसामी लिखते हैं कि, "वह बिना उनकी पैर तक नहीं -पूर्व आज्ञा के अपनी कोई राय व्यक्त नहीं करता था। वह बिना उनकी आज्ञा के हाथ (तुर्की अधिकारियों) हिलाता था। वह बिना उनकी जानकारी के न पानी पीता था और न सोता था"। अनेक विद्वानों ने उसे धर्मपरायण शासक माना है, जिसकी सत्ता में दिलचस्पी नहीं थी; परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं थी। नासिरूद्दीन ने बलबन के सहयोग और षडयंत्र से ही गद्दी प्राप्त की थी, अतः वह बलबन के आगे असहाय था।

2.9.1 नासिरूद्दीन महमूद का मूल्यांकन

1266 ई0 में सुलतान नासिरूद्दीन महमूद की मृत्यु। उस समय उसकी आयु मात्र 37 वर्ष थी। सुलतान की मृत्यु कैसे हुई यह अनिश्चित है। इतिहासकार बरनी सुलतान की मृत्यु के प्रश्न पर मौन है। तारीखमुबारकशाही का मानना है कि -ए-सुलतान की मृत्यु अम्बी बीमारी के बाद हुई, लेकिन रेहला से विदित होता है कि बलबन ने महमूद की हत्या कर सत्ता हथिया ली। फुतुहुससलातीन नामक ग्रन्थ से भी इस धारणा की पुष्टि होती है। नासिरूद्दीन के शासनकाल में इल्तुतमिश - का प्रयास किया गया। के पश्चात् व्याप्त राजनीतिक अव्यवस्था को समाप्त करने

सुलतान तथा तुर्की अमीरों के बीच का सत्ता संघर्ष समाप्त हुआ और सुलतान की शक्ति और प्रतिष्ठा पुनः स्थापित हुई। सुलतान प्रशासन पर अपना प्रभाव बनाए रखने में सफल रहा। बलबन की सहायता से उसने आंतरिक एवं बाहरी परिस्थितियों पर नियंत्रण स्थापित किया। यद्यपि बलबन उसके समय में अत्याधिक शक्तिशील बन चुका था,

तथापि सुलतान की प्रतिष्ठा पर कोई आंच नहीं आई। बलबन इसका सेवक ही बना रहा, स्वामी नहीं। महमूद एक दूरदर्शी शासक था। उसने बलबन की योग्यता एवं क्षमता का लाभ उठाकर अपना पद सुरक्षित कर लिया। सुलतान महमूद एक धर्मपरामर्श व्यक्ति भी था। अनेक मध्यकालीन इतिहासकारों ने उसकी प्रशंसा की है। वह सादगीपूर्ण जीवन - व्यतीत करता था। अपने स्वभाव एवं नीतियों के कारण ही वह बीस वर्षों तक शासन कर सका।

2.11 गयासुद्दीन बलबन (1266-1287)

दिल्ली के प्रारम्भिक सुलतानों में बलबन सबसे महान और योग्य शासक था। उसने सुलतान की शक्ति एवं प्रतिष्ठा को नए रूप में धरातल पर स्थापित की। तुर्की राज्य का विस्तार किया तथा सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना की। उसने सुलतान नासिरुद्दीन के नायब के रूप में राज्य की अद्भुत सेवा की और विघटन शक्तियों पर पूरा अंकुश रखा। तुर्की अमीरों एवं सुलतान के बीच टकराव को समाप्त किया और मंगोलों के आक्रमण से राज्य की रक्षा की। उसे उलुग खां की उपाधि से विभूषित किया गया। सुलतान महमूद के समय में सत्ता की बाग डोर बलबन के हाथों में रही। 1266 ई० में सुलतान महमूद की मृत्यु के साथ ही इल्तुतमिश के वंश का शासन समाप्त हो गया। अब परिस्थिति का लाभ उठाकर बलबन स्वयं ही सुलतान बन बैठा।

2.10.1 बलबन का प्रारंभिक जीवन

बलबन का वास्तविक नाम बहाउद्दीन था। वह अपने आप को अफरासियब वंश से सम्बन्ध (ईरान का प्रसिद्ध वंश) मानता था। परन्तु इसकी पुष्टि के लिए कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अधिकांश इतिहासकारों का मानना है कि बलबन इलबरी तुर्क जनजाति का था। उसका जन्म एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। उसके पिता या पितामह इलबरी तुर्क के एक बड़े कबीलों के मुखिया थे। दुर्भाग्यवश बलबन अपनी युवावस्था में ही मंगोलों द्वारा बंदी बना लिया गया। मंगोलों ने उसे बसरा ले जाकर दास के रूप में ख्वाजा जलालुद्दीन के हाथों बेच दिया। 1223 ई० में बलबन की योग्यता से प्रभावित होकर इल्तुतमिश ने उसे खरीद लिया और अपने दासों के दल में साम्मिलित कर लिया। अपनी प्रतिभा के बल पर बलबन निरंतर प्रगति करता गया।

इल्तुतमिश में आरम्भ में उसे अपने नौकर के रूप में रखा, लेकिन शीघ्र ही उसे चालीसा में शामिल कर लिया। इस समय से बलबन का तीव्र गति से उत्थान हुआ। रूकनुद्दीन का विरोध करने एवं रजिया का पक्ष लेने के कारण उसे कुछ समय कारागार में व्यतीत करना पड़ा। रजिया ने सुलतान बनने के पश्चात बलबन को अमीरशिकार के पद पर -ए-नियुक्त किया। रजिया के समय में हुए सत्ता संघर्ष में बलबन ने बहरामशाह का पक्ष लेकर अपने लिए अमीरआखूर -ए-का पद प्राप्त कर लिया। उसे रेवाड़ी और हाँसी की जागरि भी दी गई। सुलतान मसूदशाह के समय में बलबन को अमीर हाजिब का पद सौंपा गया। इसी समय उसने मंगोलों को पराजित कर उन पर अधिकार कर-ए लिया। इससे बलबन की शक्ति और प्रतिष्ठा और अधिक बढ़ गई। उसने मसूदशाह को अपदस्थ कर सुलतान नासिरुद्दीन महमूद को गद्दी पर बिठाया।

2.10.2 नायब के रूप में बलबन

सुलतान नासिरूद्दीन महमूद का शासन बलबन के राजनीतिक उत्कर्ष का काल था। उसके पूरे शासनकाल में अनेक विरोधों के बावजूद, बलबन ही शक्ति का केन्द्र बना रहा। वह नायब मुमलकत बनाया गया और उसे उलुग खां की उपाधि प्रदान की गई। इस अवधि में बलबन ने न केवल अपने विरोधियों पर विजय प्राप्त कर अपनी आंतरिक शक्ति सुदृढ़ की, बल्कि सल्तनत की महत्वपूर्ण सेवा भी की। उसके सैनिक अभियानों से सल्तनत की सुरक्षा हुई। उसने मंगोलों की विस्तारवादी शक्ति पर अंकुश लगा दिया। खोखरों मेवातियों, राजपूतों एवं अन्य विद्रोहियों का दमन किया। अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए बलबन ने अपनी पुत्री का विवाह सुलतान के साथ कर दिया।

2.10.3 बलबन की समस्याएँ

सुलतान बनने के समय बलबन के समक्ष अनेक कठिनाइयाँ थीं। उनपर विजय प्राप्त किए बिना उसकी स्थिति सुदृढ़ नहीं हो सकती थी। इल्तुतमिश के पश्चात राजनीतिक षड़यंत्रों, अधिकारियों की मनमानी एवं निहित स्वार्थी तथा अयोग्य शासकों के शासन के दौरान सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था छिन्नभिन्न हो चुकी थी। चारों तरफ अव्यवस्था एवं - अराजकता व्याप्त थी। राजदरबार षड़यंत्रों एवं गुटबाजी का अड्डा था। चालीसा की शक्ति अत्यन्त बढ़ गई थी। सुलतान की शक्ति और अमीरों ने अपनी शक्ति बढ़ा ली थी जिन पर अंकुश नितांत आवश्यक है। विभिन्न सरदारों एवं गरिमा नष्ट हो चुकी थी। वह नाम मात्र का शासक था। सुलतान तुर्क अमीरों के हाथ का कठपुतली बन चुका था। उलेमा वर्ग भी राजनीति में दखल दे रहा था। राज्य की आंतरिक व्यवस्था का लाभ उठाकर राजपूत शासक पुनः तुर्कों को भारत से बाहर खदेड़ने एवं अपनी राजनीतिक सर्वोच्चता स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे। सिन्ध और पंजाब पर अपना प्रभाव स्थापित कर अब मंगोल दिल्ली विजय का स्वप्न देख रहे थे। संक्षेप में बलबन जैसे शक्तिशाली व्यक्ति के लिए स्थिति भयावह थी; परन्तु बलबन ने दृढ़ता पूर्वक इस स्थिति का सामना किया। उसने सुलतान की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित की, 'चालीसा' का प्रभाव समाप्त किया, आंतरिक विद्रोहों को दबाया, मंगोल से राज्य की सुरक्षा की व्यवस्था की तथा प्रशासन का पुनर्गठन किया। बलबन के इन कार्यों से सल्तनत की स्थिति पहले क अपेक्षा अधिक सुदृढ़ हुई।

2.10.4 बलबन के कार्य

बलबन के समस्त कार्यों को सुविधानुसार दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। पहले वर्ग में ऐसे कार्य आते हैं जिनके आधार पर बलबन ने अमीरों एवं अन्य विद्रोहियों पर नियंत्रण स्थापित किया तथा बाहरी आक्रमणों से तुर्की राज्य की सुरक्षा की व्यवस्था की। दूसरे वर्ग में हम उसके ऐसे कार्यों को रख सकते हैं, जो उसने साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान करने के लिए किए।

2.11 प्रथम वर्ग

2.11.1 तुर्क सरदारों पर नियंत्रण

अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए बलबन ने सर्व प्रथम इल्तुतमिश के परिवार के बचे सदस्यों को जिनसे उसे खतरा था, निर्दयतापूर्वक मरवा डाला। तत्पश्चात महत्वाकांक्षी तुर्क सरदारों पर नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास किया। सुलतान की सत्ता को सबसे अधिक खतरा चरगान या चालीसा के गुट से था। अतः बलबन ने इनकी शक्ति को तोड़ने

का निश्चय किया। राज्य के महत्वपूर्ण पद अब चालीसा को न देकर सुलतान के विश्वासपात्र व्यक्तियों को दिए गये। सिर्फ श्रेष्ठ रक्तवाले तुर्कों को ही ऊँचे पदों पर बहाल किया गया। संदिग्ध चरित्र वाले अमीरों को अपमानित एवं दंडित किया गया। उनकी जागीरें छीन ली गईं तथा उनके विशेषधिकार समाप्त कर दिए गए। यहां तक कि बलबन ने अपने चचेरे भाई शेरखां की हत्या करवा दी, बदायूँ के गवर्नर मलिक बकबक, अवध के सुबेदार हैवात खां एवं शासक अमीर खां को भी अपमानित एवं दंडित किया गया। अनेकों की सम्पत्ति जब्त कर ली गई तथा उनके कार्यों पर कठोर नियंत्रण रखा गया।

2.11.2 आंतरिक विद्रोहों का दमन

अपनी स्थिति सुदृढ़ का बलबन ने आंतरिक विद्रोहों को दबाने का प्रयास आरम्भ कर दिया, जिसमें वह सफल भी हुआ। कानून और व्यवस्था के दृष्टिकोण से चार प्रदेश अत्यन्त समस्याग्रस्त थे। ये क्षेत्र थे, दिल्ली के निकटवर्ती प्रदेश जहां मेवाती उत्पात मचा रहे थे। दूसरा क्षेत्र था गंगाआब-यमुना दो-, जो सुलतान की सत्ता को निरंतर चुनौती देता था। अवध जानेवाला व्यापारी मार्ग भी असुरक्षित था। कटेहर या बुन्देलखण्ड की स्थिति भी चिन्ताजनक थी। इसलिए बलबन ने इन क्षेत्रों में कानून और व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया। सबसे पहले उसने मेवातियों के आतंक को समाप्त किया। मेवातियों को निर्दयतापूर्वक कत्ल किया गया, उनकी स्त्रियों को गुलाम बनाकर बेच दिया गया तथा उनके ठिकानों को नष्ट कर दिया गया। दिल्ली के निकटवर्ती क्षेत्रों को साफ करवा कर पुलिस चौकियां एवं सैनिक शिविर बनाए गए। इससे दिल्ली के निवासियों को मेवातियों के आतंक से निजात मिल गई।

इसी प्रकार बलबन ने दो आब-के डाकुओं का भी सफाया किया। जंगलों को कटवाकर उनके ठिकानों को नष्ट किया गया। बरनी के शब्दों में “विद्रोहियों और लुटेरों को इतने कठोर दंड दिए गए कि सुलतान की मृत्यु के साठ वर्ष बाद तक भी सड़कों पर लूट मार करने का इस क्षेत्र के डाकुओं ने साहस नहीं किया और यह प्रदेश यात्रियों किसानों तथा सरकारी पदाधिकारियों के लिए पूर्णतया सुरक्षित हो गया।” इन क्षेत्रों में दुर्ग बनवाकर सैनिक बहाल किए गए। अवध का व्यापारिक मार्ग भी सुरक्षित कर दिया गया जिससे व्यापारियों को सुविधा हुई। इसी प्रकार, बलबन ने कटेहर और पंजाब में भी शांति की स्थापना की। कटेहर के विद्रोही बदायूँ तथा अमरोहा क्षेत्र में आतंक फैलाए हुए थे। वे इक्तदारों की भी अवहेलना करते थे अतः बलबन ने शाही सेना की सहायता से विद्रोहियों का दमन कर उस क्षेत्र में शांति व्यवस्था स्थापित की। उसने साल्ट रेंज के विद्रोहियों को भी दंडित किया।

2.11.3 बंगाल में तुगरिल खां का विद्रोह

बलबन के समय में सबसे भयंकर विद्रोह बंगाल में तुगरिल खां का हुआ। तुगरिल बंगाल का सुबेदार था। यद्यपि उसे यह पद स्वयं बलबन ने ही सौंपा था, तथापि बलबन की अस्वस्थता का लाभ उठाकर उसने 1279 में विद्रोह कर दिया। वह लखनौती का स्वतंत्र शासक बन बैठा। उसने अपने नाम का खुतबा पढ़वाया और सिक्के ढलवाए। इस विद्रोह की सूचना पाकर बलबन ने अवध के सुबेदार को विद्रोह के दमन के लिए भेजा, परन्तु वह असफल होकर लौट आया। क्रुद्ध होकर बलबन ने उसकी हत्या करवा दी। अन्य दो सेनापति भी निराश होकर बंगाल से (तिरमति और शहाबुद्दीन) वापस आ गए। बलबन ने अब स्वयं ही बंगाल पर आक्रमण कर दिया। तुगरिल भयभीत होकर भाग खड़ा हुआ परन्तु उसे पकड़कर मार डाला गया। लखनौती में आतंक का साम्राज्य कायम कर विरोधियों का मनोबल तोड़ दिया गया।

2.11.4 मंगोल आक्रमण

भारत की उत्तरीपश्चिमी सीमा पर सदैव ही मंगोल आक्रमणकारियों का भय बना रहता था। सुलतान बनते के पूर्व - बलबन ने इस क्षेत्र में मंगोलों से लोहा लिया था। सुलतान बनते ही उसने पश्चिमोत्तर सीमा की सुरक्षा के उपाय किए। पुराने दुर्गों की मरम्मत करवाई गई तथा नए दुर्ग बनवाए गये। सैनिक शिविर स्थापित किए गए। शेरखां के अधीन एक सेना सीमान्त की सुरक्षा के लिए बहाल की गई। शेरखां ने मंगोलों की बाढ़ को आगे बढ़ने से रोके रखा 1270 ई० में उसकी मृत्यु के पश्चात बलबन ने अपने दो पुत्रों मुहम्मद और बुगरा खां को क्रमशः मुलतान, सिन्ध, लाहौर तथा सुमन और समाना के प्रदेशों की सुरक्षा का भार सौंप दिया। इन दोनों ने सीमांत की सुरक्षा की व्यवस्था की। 1285 ई० में तैमूर खां ने आक्रमण कर लाहौर और दीपालपुर को लूट लिया। मुहम्मद मंगोलों से युद्ध करता हुआ मारा गया; परन्तु मंगोल लाहौर पर आधिकार नहीं कर सके। बलबन के एक अन्य पुत्र कैखुसरो ने लाहौर की सुरक्षा की। बलबन के प्रयासों से मंगोल भारत में पंजाब से आगे नहीं बढ़ पाए। यद्यपि बलबन ने सुलतान के रूप में कोई महत्वपूर्ण विजय हासिल नहीं की, तथापि उसके समय तक तुर्की साम्राज्य की सीमा बहुत अधिक विस्तृत हो गई।

2.12 द्वितीय वर्ग

बलबन के दूसरे वर्ग के कार्यों में प्रमुख हैं उसके राजत्व का सिद्धान्त तथा प्रशासनिक संगठन। ये सारे कार्य उसने सुलतान के पद की गरिमा बनाए रखते एवं तुर्की राज्य को स्थायित्व प्रदान करने के लिए किए।

2.12.1 बलबन के राजत्व सम्बंधी सिद्धान्त-

बलबन दिल्ली का पहला सुलतान था, जिसने राजत्वसम्बंधी सिद्धान्त की स्थापना की। वह भारत के प्राचीन शासकों - की ही तरह राजत्व के दैवी सिद्धान्त में विश्वास रखता था। इसके द्वारा वह सुलतान की सर्वोच्चता स्थापित करना चाहता था। उसके राजत्वसम्बंधी सिद्धान्त से प्रभावित था। बलबन सुलतान को -सिद्धान्त का स्वरूप फारस के राजत्व-पृथ्वी पर अल्लाह का प्रतिनिधि'- 'नियाबतेखुदाई-' मानता था।

उसके अनुसार, सुलतान का स्थान पैगम्बर के पश्चात आता है। सुलतान जिल्ले अल्लाह, अर्थात् ईश्वर का प्रतिबिम्ब है। वह अल्लाह के निर्देशानुसार ही शासन करता है। बलबन यह भी मानता था कि 'राजा का हृदय ईश्वरकृपा का विशेष - कोष है और समस्त मनुष्य जाति में उसके समान कोई नहीं है। राजत्व निरंकुशता का शारीरिक रूप है। इस प्रकार की निरंकुशता सुलतान की हत्या का खतरा उत्पन्न करती थी। अतः उसे अपनी सुरक्षा के प्रति सावधान रहना चाहिये और जनता में अपने प्रति भय की भावना जागृत करना चाहिये'। उसने अपने पुत्रों को भी इस बात की शिक्षा दी कि वे राजत्व के उच्च आदर्शों के अनुसार ही शासन करें। अपने व्यक्तिगत चरित्र को आदर्शमय बनाएँ, जिसका अनुकरण अन्य व्यक्ति कर सकें। राजा के उत्तरादायित्वों और कर्तव्यों की भी उसने एक रूप रेखा तैयार की। उसका एक मात्र उद्देश्य सुलतान के पद की गरिमा एवं उसकी शक्ति को सुरक्षित बनाए रखना था।

बलबन के राजत्व सिद्धान्त की पूरी जानकारी इतिहासकार बरनी द्वारा संकलित उसके 'वसय' से मिलती है। इसमें राजत्व के सम्बंधी में बलबन के विचारों को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। 'वसय' में बलबन अपने पुत्रों को निम्नलिखित निर्देश देता है:-

- (1) व्यक्तियों के ऊपर शासन को एक मामूली और महत्वहीन कार्य न समझो, यह एक महत्वपूर्ण कार्य है जिसे पूर्ण गम्भीरता व उत्तरदायित्व की भावना से पूरा किया जाना चाहिये।
- (2) राजा का दिल ईश्वर की कीर्ति को प्रतिबिम्बित करता है। वह यदि निरंतर ईश्वरी ज्योती प्राप्त नहीं करता है तो शासक कभी अपने अनेक और अति महत्वपूर्ण कर्तव्यों को पूर्ण नहीं कर सकता। अतः राजा को अपने दिल और आत्मा की पवित्रता के लिए प्रयत्न करना चाहिये और ईश्वर की दया के लिए अनुग्रही रहना चाहिये।
- (3) एक अनुग्रही राजा सदा ईश्वर के संरक्षण के छत्र से रक्षित रहता है।
- (4) राजा को इस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिये कि मुसलमान उसके प्रत्येक कार्य, शब्द व क्रियाकलाप को माने और प्रशंसा करे।
- (5) उसे इस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिये कि उसके शब्दों, कार्यों, आदर्शों, व्यक्तिगत योग्यताओं व गुणों से लोग शरीरत के नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने के योग्य हो सकें।

अपने इन तर्कों द्वारा बलबन ने सुलतान को ईश्वर एवं निरंकुश सत्ता का प्रतीक बना दिया। दिखावटी मानमर्यादा और - तरीकों को -प्रतिष्ठा राजत्व का आवश्यक अंग माना गया। वंशावली के महत्व पर बल दिया गया। फारसी दरबार के तौर अपनाया गया। बलबन ने न्याय को राजत्व में महत्वपूर्ण स्थान दिया। बलबन ने खलीफा की राजनीतिक सत्ता भी स्वीकार की तथा सिक्कों पर खलीफा का नाम खुदवाया एवं खुतबा में उसका नाम पढ़वाया। अपने राजतंत्रों के अनुरूप ही बलबन ने अपने आपको ढाल लिया।

बलबन कुरान के नियमों का कड़ाई से पालन करता था। न्याय के सम्पादन पर वह विशेष बल देता था। राजदरबार के लिए निश्चित नियम तय किए गए। फारसी परिपाटी के आधार पर उसने भी दरबार में 'सिजदा' (घुटने पर सिर झुकाना (एवं 'पैबोस' (सुलतान का पैर चूमना) की प्रथा प्रारम्भ की। दरबार में उसके अंगरक्षक नंगी तलवारों लिए खड़े रहते थे। (बा (खलीफा के दो वंशजों को छोड़कर) उसके सामने बैठनेत करने (वजीर के अतिरिक्त), मुस्कुराने की आज्ञा किसी को नहीं थी। दरबारियों को एक विशेष प्रकार का वस्त्र पहनकर ही दरबार में उपस्थित होना पड़ता था। अपने इन कार्यों द्वारा बलबन ने सुलतान की विलुप्त प्रतिष्ठा एवं गरिमा को पुनः प्रभावशाली बनाया तथा सब पर भय और आतंक स्थापित कर दिया। बलबन की यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। अपने सिद्धान्तों द्वारा बलबन ने राजत्व के आधार को मजबूत किया। "उसने ईश्वर, (शासक तथा जनता के बीच त्रिपक्षीय सम्बंध के राज्य की आधार बनाने का प्रयत्न किया"। उसने जनहित को शासन का व्यवहारिक आदर्श बनाया। उसका राजत्व का सिद्धान्त शक्ति, प्रतिष्ठा और न्याय पर आधारित था।

2.12.2 सैनिक व्यवस्था

बलबन का निरंकुश राजत्व बिना सैनिक सहायता के स्थापित नहीं हो सकता था, इसलिए उसने सेना के पुनर्गठन पर ध्यान दिया। सेना में योग्य सैनिकों एवं अधिकारियों को नियुक्त किया गया। उनके प्रशिक्षण एवं वेतन की व्यवस्था की गई। सैनिकों के वेतन में वृद्धि कर उन्हें संतुष्ट रखने का प्रयास किया गया है। सेना के देखभाल एवं प्रशिक्षण के लिए एक अलग विभाग दीवानए अर्ज का गठन किया गया।-

सैनिकों के वेतन में वृद्धि कर उन्हें संतुष्ट रखने का प्रयास किया गया प्रचलित सैनिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। जैसे व्यक्ति जो सैनिक सेवा के योग्य नहीं थे, उनकी जागीरें वापस लेकर उन्हें पेंशन दे दी गई।

2.12.3 गुप्तचर विभाग का गठन

पदाधिकारियों, राज्य की जनता एवं विरोधियों पर निगरानी रखने के लिए बलबन ने एक सशक्त गुप्तचर विभाग का संगठन किया। ये 'बरीद' (गुप्तचर) म्पूर्ण साम्राज्य में फैले हुए थे तथा राज्य के प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना की खबर सुलतान तक पहुँचाते थे। उन्हें अनेक सुविधाएं दी गई थीं, परन्तु अपने उत्तरदायित्व का ठीक से पालन नहीं करने पर उन्हें कठोर दण्ड दिया जाता था। बदायूँ के बरीद का वध कर उसकी लाश को सूली पर प्रदर्शित किया गया, क्योंकि उसने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया था। गुप्तचरों की सहायता से ही बलबन समस्त राज्य पर अपनी पकड़ स्थापित कर सका।

2.12.4 प्रशासनिक सुधार

बलबन प्रशासन के प्रत्येक विभाग पर स्वयं कड़ी निगरानी रखता था। समस्त नौकरशाही पर उसका नियंत्रण था। अधिकारियों की नियुक्ति वह स्वयं करता था। सूबेदारों पर कड़ी निगरानी रखी जाती थी। उन्हें सदैव सूबे की स्थिति से सुलतान को अवगत करना पड़ता था। उसने सैनिक एवं आर्थिक अधिकार अलग कर दिए। वजीर से सैनिक एवं आर्थिक अधिकार वापस ले लिए गए। इसका उद्देश्य सरकारी अधिकारियों के हाथों में अधिक शक्ति केन्द्रित नहीं होने देना था। अधिकारियों को प्रजा के साथ उचित व्यवहार करने का निर्देश दिए गए।

बलबन ने अर्धकेन्द्रीय शक्ति के सैनिक प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना की। उसने-नागरिक एवं अर्ध-सुदृढ़ीकरण पर बल दिया एवं फूट उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियों पर नियंत्रण स्थापित किया। इतिहासकार बरनी के अनुसार बलबन प्रशासन को संरक्षात्मक स्वरूप प्रदान करना चाहता था। जनता एवं अधिकारी दोनों से वह संतुलित व्यवहार की अपेक्षा करता था। जनता एवं अधिकारी दोनों से वह संतुलित व्यवहार की अपेक्षा करता था। वह यह भी चाहता था कि शासन अपनी नीतियों से दृढ़ हो, व्यापारियों को समृद्ध और संतुष्ट रखे, राज्य के आर्थिक साधनों का समुचित अपयोग करे और सेना को प्रसन्न तथा संतुष्ट रखे। बलबन ने इन्हीं आदर्शों के अनुकूल कार्य किया तथा शांति एवं न्याय की स्थापना की।

2.13 कैकुबाद

बलबन की इच्छा अपने ज्येष्ठ पुत्र मुहम्मद को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने की थी, परन्तु बलबन के जीवन काल में ही वह मंगोलों से संघर्ष करता हुआ मारा गया। अतः बलबन ने मुहम्मद के पुत्र कैखुसरो को अपना उत्तराधिकार

नियुक्त किया; परन्तु मृत शक्तिशाली सुलतान की यह इच्छा भी पूरी नहीं हो सकी। सुलतान के मरते ही उसके अमीर पुनः सक्रिय हो उठे। उन लोगों ने कैखुसरो को मुलतान भेज दिया एवं उसकी जगह बुगरा खां के पुत्र कैकुबाद को सुलतान मनोनित किया। कैकुबाद को सुलतान बनाने में दिल्ली के कोतवाल मलिक फखरुद्दीन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

बलबन ने बड़ेप्यार और कठोर अनुशासन में कैकुबाद को रखा था। उसे राजोचित शिक्षण भी दिया गया था-, परन्तु सुलतान बनते ही उसपर से पाबंदियां हट गईं। अन्मंत्रित होकर वह सुरालिस हो गया। फलस्वरूप सुंदरी में-, राजकार्य में उसकी रूचि समाप्त हो गई। वह सदैव चाटुकारों, नृतकमियों, भाँडों और विदूषकों से घिरा रहने लगा। दरबार का अनुशासन समाप्त हो गया। अमीर और अधिकारी व्यक्तिगत सुखों और षडयंत्रों में लिप्त हो गए। अनियमित व्यतीत करने से सुलतान के स्वरूप पर भी बुरा प्रभाव पड़ा। तीन वर्षों के अन्दर ही उसका आधा शरीर फालिज से बेकार हो गया। राज्य की सारी सत्ता अब अमीरों और पदाधिकारियों के हाथों में केन्द्रित हो गई।

2.14 खिलजी क्रान्ति

अपने पिता बुगरा खां के सलाह मानकर निजामुद्दीन को जो सुलतान को अपने हाथों का कटपुतली बना रखा था, मुलतान जाने की आज्ञा दी, परन्तु उसने उस पर ध्यान नहीं दिया। फलतः कैकुबाद ने विष दिलवाकर निजामुद्दीन की हत्या करवा डाली। कैकुबाद अब शासन पर अपना प्रभाव स्थापित करने के प्रयास में लग गया उसने तुर्की अमीरों की जगह पर महत्वपूर्ण पद खिलजियों को सौंपी। उसने समाना से जलालुद्दीन फिरोज खिलजी को बुलाकर उसे शाइस्ता खां की उपाधि से विभूषित किया तथा बरन का हाकिम एवं आरिजे मुमालिक नियुक्त किया। कैकुबाद के (युद्ध मंत्री) पक्षाघात से इस कार्य से तुर्की अमीर चिढ़ गए। उन्होंने खिलजियों की हत्या करने का षडयंत्र किया। सुलतान इस समय पीड़ित होकर पड़ा था। तुर्की अमीरों ने कैकुबाद के नाबालिग पुत्र कैमूर्स को गद्दी पर बैठाया। जलालुद्दीन उसका संरक्षक नियुक्त हुआ। इस बीच कैकुबाद की भी हत्या कर दी गई।

तुर्की अधिकारी इल्बरी वंश की सत्ता को सुरक्षित रखकर अब खिलजियों के दमन की योजना बनाने लगे। जलालुद्दीन को जब इसकी भनक मिली, तब वह कैमूर्स के साथ दिल्ली से बहारपुर चला गया। इससे तुर्की अमीर आशंकित हो गए। उन लोगों ने कैमूर्स के साथ जलालुद्दीन को दिल्ली आने का आदेश दिया। दिल्ली की जनता भी नन्हें सुलतान के अपहरण से जलालुद्दीन का विरोधी बन बैठी। यद्यपि जलालुद्दीन ने अनेक विरोधियों को मार डाला, तथापि जनप्रतिरोध का ध्यान रखते हुए उसने कैमूर्स को गद्दी पर सुलतान के रूप में प्रतिष्ठित किया और स्वयं उसका - संरक्षक बना रहा। तीन माह पश्चात कैमूर्स को बन्दी बनाकर और उसकी हत्या कर स्वयं जलालुद्दीन सुलतान बन बैठा। इस प्रकार 1290 ई० में इल्बरी तुर्कों का शासन सदा के लिए समाप्त हो गया और उसके स्थान पर खिलजी वंश की सत्ता स्थापित हुई।

2.15 सारांश

भारत में कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा नव स्थापित, ममलुक वंश सौ वर्षों के अन्दर ही 1290 ई० तक समाप्त हो गया। अब इसके स्थान पर एक नए वंश खिलजी वंश का उदय हुआ। ममलुक वंश में अनेक महत्वपूर्ण शासक हुए जिन्होंने अपने

अदभुत कार्यों के द्वारा इतिहास में विशिष्ट स्थान प्राप्त की। सुलतान इल्तुतमिश ने साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान किया। प्रशासनिक संगठन एवं इक्तदारी व्यवस्था के द्वारा राज्य में शान्ति एवं सम्पन्नता कायम की। एक मात्र मध्यकालीन महिला शासिका रजिया, इसी वंश से सम्बन्धित थी, जो अपनी प्रतिभा और विशिष्ट गुणों के लिए प्रसिद्ध है। इसी प्रकार बलबन का मध्यकालीन समस्त सुलतानों में विशिष्ट स्थान है जिसके कार्यों एवं नीतियों से सुलतान की खोई हुई गरिमा और प्रतिष्ठा पुनः स्थापित हुई। उसने प्रशासन को दृढ़ता एवं अपराध रहित बनाया। उसने प्रशासन के शिथिलता और विघटनकारी शक्तियों पर पूर्ण अंकुश रखा। मंगोल आक्रमण से साम्राज्य की सुरक्षा की। परन्तु उसकी मृत्यु के साथ ही ममलुक वंश पतन की ओर अग्रसर हो गया और अंततः 1290 ई० में जलालुद्दीन खिलजी द्वारा इस वंश का अंत कर दिया गया। अब इसके स्थान पर खिलजी वंश का शासन प्रारम्भ हुआ।

2.16 अभ्यासार्थ प्रश्न

- कुतुबुद्दीन ऐबक के योगदानों की समीक्षा कीजिए।
- क्या इल्तुतमिश ही ममलुक वंश का वास्तविक संस्थापक था ?
- इल्तुतमिश के कार्यों का मूल्यांकन कीजिए।
- रजिया के विफलता के मूल कारणों का उल्लेख कीजिए।
- बलबन के राजत्व सम्बंधी नियमों का वर्णन कीजिए।
- बलबन की कार्यों एवं उपलब्धियों का विश्लेषण कीजिए।
- चहलगानी अथवा चालीसा के कार्यों का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

2.17 सन्दर्भ ग्रन्थ

| | |
|---------------------|--|
| जे०एल० मेहता | - मध्यकालीन भारत का वृहत् इतिहास खण्ड -1 |
| हरिश्चन्द्र वर्मा | - मध्यकालीन भारत खण्ड -1 |
| बिपिन बिहारी सिन्हा | मध्यकालीन भारत - |
| सतीश चन्द्र | - मध्यकालीन भारत |
| अवधेश बिहारी पाण्डे | -मध्यकालीन भारत |
| एल०पी० शर्मा | - मध्यकालीन भारत)1000-1761) |

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 जलालुद्दीन फिरोज खिलजी
 - 3.3.1 जलालुद्दीन फिरोज खिलजी का राजनीतिक उत्कर्ष
 - 3.3.2 फिरोज खिलजी के विरूद्ध विद्रोह
 - 3.3.3 जलालुद्दीन की अन्य समस्याएँ
 - 3.3.4 जलालुद्दीन फिरोज की विदेश नीति
 - 3.3.5 जलालुद्दीन फिरोज का अंत
 - 3.3.6 जलालुद्दीन फिरोज खिलजी का मूल्यांकन
- 3.4 अलाउद्दीन खिलजी
 - 3.4.1 अलाउद्दीन खिलजी का राजनीतिक उत्कर्ष
 - 3.4.2 अलाउद्दीन की गृह नीति
 - 3.4.3 आंतरिक विद्रोहों का दमन
 - 3.4.4 अलाउद्दीन के सैनिक अभियान-विदेश नीति
 - 3.4.5 अलाउद्दीन के पश्चिमोत्तर सीमा नीति
 - 3.4.6 राजपूतों से सम्बन्ध
 - 3.4.7 गुजरात की विजय
 - 3.4.8 रणथंभौर पर अधिकार
 - 3.4.9 मेवाड़ पर आक्रमण
 - 3.4.10 मालवा एवं अन्य राज्यों की विजय
 - 3.4.11 जालौर की विजय
 - 3.4.12 दक्षिण की विजय
 - 3.4.12.1 देवगिरि
 - 3.4.12.2 तेलंगाना
 - 3.4.12.3 होयसल
 - 3.4.12.4 माबर की विजय
 - 3.4.13 अलाउद्दीन का साम्राज्य
 - 3.4.14 अलाउद्दीन का पश्चिमोत्तर सीमांत एवं मंगोल नीति
 - 3.4.15 अलाउद्दीन की दक्षिण विजय का महत्व एवं प्रभाव
 - 3.4.16 अलाउद्दीन का मूल्यांकन

- 3.5 शहाबुद्दीन उमर
- 3.6 कुतुबुद्दीन मुबारक शाह
- 3.7 नासिरुद्दीन खुसरो शाह
- 3.8 सारांश
- 3.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.1 प्रस्तावना

ममलुक वंश के पतन के पश्चात दिल्ली की सत्ता खिलजियों के हाथों में चली गई। खिलजियों ने रक्तंजित क्रान्ति द्वारा इल्बरी तुर्कों की सत्ता समाप्त कर, कैमूर्स को बंदी बनाकर राजसत्ता हथिया ली। इस क्रान्ति का नेता जलालुद्दीन फिरोज खिलजी था। खिलजियों के शासनकाल में दिल्ली सल्तनत का चरम विकास हुआ। अब इस का सीमा क्षेत्र सुदूर दक्षिण तक फैल गया। सीमा विस्तार के साथ-साथ इस काल में प्रशासनिक दृढ़ता एवं आर्थिक सम्पन्नता भी स्थापित हुई।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित बातें जान सकेंगे:-

- किस प्रकार खिलजी के द्वारा ममलुकों का अन्त कर खिलजी वंश की स्थापना हुई।
- खिलजी वंश का संस्थापक जलालुद्दीन फिरोज खिलजी की हत्या कर किस प्रकार अलाउद्दीन खिलजी शासक बना और उसने कौन सी नीतियां अपनाई।
- किस प्रकार अलाउद्दीन खिलजी ने सुदूर दक्षिण तक अपना साम्राज्य स्थापित की।
- अलाउद्दीन के गृह एवं विदेश नीति।
- अलाउद्दीन के बाद शासकों का मूल्यांकन और खिलजी वंश का अन्त।

3.3 जलालुद्दीन फिरोज खिलजी (1290-1296)

भारत में खिलजी वंश का संस्थापक जलालुद्दीन फिरोज था। उसने अपना जीवन एक सैनिक के रूप में आरम्भ किया था, परन्तु अपनी योग्यता के बल पर तरक्की करता हुआ वह क्रमशः सेनानायक एवं सुबेदार बन बैठा। कैकुबाद के समय से उसका राजनीतिक प्रभाव बढ़ने लगा। वह इस काल में आरिजे ममालिक बनाया गया। उसे शाइस्ता खां की उपाधि से भी विभूषित किया गया। तुर्की अमीरों के पड़यंत्रों को नाकाम एवं, कैमूर्स की हत्या कर 1290 ई० में उसने किलखूरी में ही स्वयं को सुलतान घोषित कर दिया।

3.3.1 जलालुद्दीन फिरोज का राजनीतिक उत्कर्ष

जलालुद्दीन फिरोज खिलजी के पूर्वज इल्तुतमिश के शासनकाल में भारत आए। उन लोगों ने सल्तनत में नौकरी आरम्भ कर दी। फिरोज खिलजी ने भी एक सैनिक के रूप में नासिरुद्दीन महमूद तथा बलबन के समय में सल्तनत की सेवा आरम्भ की। उसकी सैनिक प्रतिभा से प्रभावित होकर बलबन ने उसे पश्चिमोत्तर सीमा की सुरक्षा के लिए तैनात किया एवं एक सेनानायक का पद दिया। फिरोज ने कुशलता पूर्वक इस पद पर रहते हुए मंगोल आक्रमणों से सीमा की सुरक्षा की। सुलतान कैकुबाद ने भी फिरोज की योग्यता को पहचाना तथा उसे समाना का सुबेदार बनाया। उसे बाद में आरिजे-ममालिक (युद्ध-मंत्री) भी बहाल किया गया एवं शाइस्ता खां की उपाधि प्रदान की गई। इस पद पर आते ही फिरोज खिलजी का राजनीतिक उत्कर्ष आरम्भ हुआ। युद्ध मंत्री के रूप में उसका प्रशासन एवं तत्कालीन राजनीति पर प्रभाव बढ़ गया। सेना उसके प्रत्यक्ष नियंत्रण में आ गई। अपने पद का लाभ उठाकर फिरोज ने अपना प्रभाव बढ़ाना आरम्भ किया। उसने खिलजी सामन्तों, सरदारों, सेनानायकों एवं अन्य गैर-तुर्की महत्त्वपूर्ण सरदारों और अधिकारियों को संगठित कर अपना समर्थक बना लिया। फलतः दिल्ली दरबार में खिलजियों एवं जलालुद्दीन का व्यापक प्रभाव स्थापित हो गया।

जलालुद्दीन फिरोज खिलजी के राजनीतिक उत्कर्ष से तुर्क अमीर सशंकित हो उठे। अनमें द्वेष और ईर्ष्या की भावना प्रबल हो गई। परिणामस्वरूप दिल्ली दरबार स्पष्टतः दो दलों में विभक्त हो गया। एक का नेता फिरोज खिलजी था तो दूसरे का एतमूर सूर्खा। खिलजी शासन और राजनीति में नए तत्वों को लाना चाहते थे, परन्तु तुर्क बलबन के वंशजों के नियंत्रण में तुर्की प्रभव को ही बनाए रखना चाहते थे। इसी बीच सुलतान नासिरुद्दीन महमूद पर पक्षाघात का आक्रमण हुआ और बीमार होकर वह किलखूरी के महल में निश्चेष्ट हो गया। तुर्की अमीरों ने इस परिस्थिति का लाभ उठाकर मलिक कच्छन और सूर्खा ने नासिरुद्दीन के अल्पवयस्क पुत्र कैमूर्स को शम्सुद्दीन द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठा दिया। तुर्क अमीरों ने खिलजियों के दमन की भी योजना बनाई।

जिस समय यह षडयंत्र हो रहा था, फिरोज खिलजी भूगल पहाड़ी पर शाही सेना का निरीक्षण कर रहा था। उसके विश्वासपात्र नायब-अमीर-ए-हाजिब मलिक चप ने इस षडयंत्र, जिसमें प्रमुख खिलजी सरदारों की हत्या की जानी थी, की सूचना फिरोज को दी। फिरोज ने सुरक्षा की आवश्यक व्यवस्था की एवं षडयंत्रकारियों से निपटने को तैयार हो गया।

3.3.2 फिरोज खिलजी के विरूद्ध विद्रोह

सुलतान की उदार नीति एवं उसकी वृद्धावस्था को देखते हुए अनेक महत्त्वकांक्षी सरदारों ने फिरोज को गद्दी से हटाने के लिए षडयंत्र आरम्भ कर दिया। सुलतान बनते ही फिरोज को विद्रोहों का भी सामना करना पड़ा इन में प्रमुख थे मलिक छज्जु, ताजुद्दीन कूची, और सीदी मौला के विद्रोह।

फिरोज की उदारनीति का लाभ उठाकर 1290 ई० में ही कारा और मानिकपुर के सूबेदार मलिक छज्जु ने विद्रोह कर दिया। उसने अवध के प्रांतपति अमीर अली हातिम खां, तुर्क अमीरों एवं हिन्दू सरदारों इत्यादि का सहयोग लेकर दिल्ली पर अधिकार करने की योजना बनाई। सुलतान की दुर्बल नीति से क्षुब्ध कुछ खिलजी भी मलिक छज्जु

का साथ देने को तैयार हो गए। इससे उत्साहित होकर छज्जु ने सुलतान मुगीसुदीन के रूप में अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी बदायूँ के निकट मलिक छज्जु को पराजित कर उसे बंदी बना लिया गया। मलिक छज्जु को फिरोज के सामने प्रस्तुत किया गया परन्तु सुलतान ने उसे क्षमा कर मुल्तान स्थानान्तरित कर दिया। अब उसके स्थान पर अलाउद्दीन को कारा और मानिकपुर का प्रांतपति नियुक्त किया गया यद्यपि फिरोज की यह नीति एक शासक के रूप में अनुकूल नहीं थी, लेकिन मलिक छज्जु अथवा उसके समर्थकों ने पुनः विद्रोह नहीं किया।

जलालुद्दीन खिलजी के विरुद्ध एक अन्य विद्रोह का प्रयास सीदी मौला नामक एक फारसी दरवेश ने किया। वह एक अमीर दरवेश था जो भारी खानकाह चलाता था। उसके दान-पुण्य के चर्चे कैकूबाद के शासन काल से ही प्रचलित थे। सीदी मौला के प्रभाव से आकर्षित होकर अनेक अमीर और अधिकारी खानकाह में जाने लगे जहां राजनीतिक चर्चाएँ भी होती थीं। इतिहासकार बरनी के अनुसार वहां पर दो हिन्दू अधिकारियों-हथियापायक और निरंजन कोतवाल ने सुलतान की हत्या करने एवं सीदी मौला को सुलतान बनाने का षडयंत्र रचा। सुलतान को इस षडयंत्र का पता चल गया और सारे षडयंत्रकारी पकड़े गये। षडयंत्रकारियों को मौत के घाट उतार दिया गया परन्तु सुलतान की नीतियों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। अतः शीघ्र ही अली गुरशास्य (अलाउद्दीन खिलजी) के षडयंत्रकर फिरोज खिलजी की हत्या कर दी और स्वयं सुलतान बन बैठा।

3.3.3 जलालुद्दीन की अन्य समस्याएँ

70 वर्षीय जलालुद्दीन खिलजी को जन समर्थन प्राप्त नहीं था। दिल्ली की जनता और तुर्क अमीर गुलाम वंश के दो निःसहाय सुलतानों की हत्या की बात नहीं भूले थे। जब आक्रोश के भय से वह तत्काल दिल्ली आने का हिम्मत नहीं जुटा पा रहा था और किलखूरी में ही अपना राज्याभिषेक करवाया था। फिरोज एक साधारण कुल का व्यक्ति था, उसे अपने अधिकारियों एवं जनता का समर्थन व सम्मान भी प्राप्त नहीं था, सबसे बड़ी बात यह भी कि बलबन के बाद सुलतान की प्रतिष्ठा एवं शक्ति नष्ट हो चुकी थी, प्रशासनिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त पड़ी हुई थी। इस स्थिति से निपटने के लिए किसी योग्य एवं दृढ़निश्चयी शासक की आवश्यकता थी। वृद्ध होते हुए भी नए सुलतान ने इन समस्याओं का दृढ़तापूर्वक सामना करने का निश्चय किया।

3.3.4 जलालुद्दीन फिरोज की विदेश नीति

फिरोज युद्ध एवं रक्तपात से घृणा करता था तथा शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहता था। इसलिए, उसकी गृहनीति के समान उसकी विदेशनीति भी शान्तिपूर्ण थी, फिर भी उसे कुछ सैनिक अभियान करने पड़े। उसका सबसे महत्वपूर्ण अभियान रणथंभौर के चौहान राजपूतों के विरुद्ध हुआ। चौहानों ने हम्मीर देव के नेतृत्व में अपनी शक्ति बढ़ा ली थी। वे दिल्ली को सदैव चुनौती देते थे। फिरोज ने रणथंभौर पर आक्रमण कर दिया परन्तु राजपूतों के कठोर विरोध के कारण उसे दुर्ग का घेरा उठाकर वापस लौटना पड़ा मंदौर पर विजय प्राप्त करने में फिरोज सफल रहा।

जलालुद्दीन फिरोज के समय में मंगोल नेता हलाकू के पौत्र अब्दुल्लाह का आक्रमण 1292 ई० में हुआ। फिरोज ने सिंधु नदी के किनारे मंगोलों को पराजित किया। मंगोल नेता अब्दुल्लाह ने फिरोज के साथ संधि कर ली और दिल्ली में रहने की आज्ञा प्राप्त कर ली। दिल्ली में रूके मंगोलों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया और वे नव-मुस्लिम कहलाने

लगो 1292 ई0 में अलाउद्दीन ने फिरोज से आज्ञा प्राप्त कर मालवा (भिलसा) पर आक्रमण कर इसे लूटा। उसने देवगिरि के राजा रामचन्द्र देव पर भी आक्रमण किया एवं बेहिसाब सम्पत्ति लूटी।

3.3.5 जलालुद्दीन का अन्त

देवगिरी अभियान के पश्चात अलाउद्दीन खिलजी फिरोज खिलजी की दुर्बलता का लाभ उठाकर गद्दी हथियाने का प्रयास करने लगा। देवगिरी से प्राप्त धन ने उसके हौसले और महत्वाकांक्षाएँ बढ़ा दीं। उसने लूट के माल का हिस्सा भी सुलतान को नहीं भेजा। अलाउद्दीन सुलतान को धोखे में रखते हुए पत्र लिखा कि वह शत्रुओं के भय से दिल्ली नहीं आ सकता था, परन्तु वह सुलतान को लूट का माल देने को तैयार था। उसकी बातों पर विश्वास कर सुलतान थोड़े से अंगरक्षकों के साथ अलाउद्दीन से मिलने के लिए मानिकपुर चला गया। अलाउद्दीन से गले मिलते समय ही उसके अनुचरों ने फिरोज की हत्या कर डाली। उसकी मृत्यु के साथ अलाउद्दीन खिलजी को सुलतान घोषित कर दिया गया।

3.3.6 जलालुद्दीन फिरोज खिलजी का मूल्यांकन

जलालुद्दीन खिलजी एक निष्ठावान, निष्कपट, दयालू और उदार परन्तु शाही पद हेतु अयोग्य व्यक्ति था। यद्यपि वह शासकों को फरिश्ता माना जाता था, तथापि उसकी दुर्बलता उसके पतन के कारण बनी। फिरोज खिलजी ने 'उदार-निरंकुशवाद' की स्थापना की। वह रक्तपात से आवश्यकता पडने पर भी घृणा करता था। उसकी यह नीति तत्कालीन परिस्थितियों में जान लेना सिद्ध हुई। वह भूल गया था कि वह तलवार के बल पर सुलतान बना था और इस पद की रक्षा तलवार के बल पर ही हो सकती थी। निःसंदेह वह एक सच्चरित्र, उदार, शिक्षा-साहित्य और कला-कौशल का संरक्षक था परन्तु एक योग्य शासक के रूप में वह असफल रहा। प्रो० हबीब और निजामी के शब्दों में, यद्यपि जलालुद्दीन का शासनकाल महत्वपूर्ण नहीं था, किन्तु वह ममलुकों के प्रयोगात्मक युग और अलाउद्दीन की नियोजित साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था के बीच एक पुल था।

3.4 अलाउद्दीन खिलजी (1296-1316)

खिलजी वंश के शासकों में अलाउद्दीन सबसे अधिक शक्तिशाली एवं महत्वपूर्ण शासक था। उसने लगभग बीस वर्षों (1296-1316) तक सफलतापूर्वक शासन किया। उसने दिल्ली का साम्राज्य की सीमा का अत्यधिक विस्तार किया। वह दिल्ली सल्तनत का पहला शासक था जिसने सदूर दक्षिण तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। इतना ही नहीं, उसने सुलतान के पद की गरिमा एवं शक्ति पुनः स्थापित की तथा आर्थिक एवं प्रशासनिक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण सुधार किए। वह अपनी बाजार नीति के लिए भी काफी प्रसिद्ध है।

3.4.1 अलाउद्दीन का राजनीतिक उत्कर्ष

अलाउद्दीन खिलजी अथवा अली गुरशास्य, सुलतान जलालुद्दीन फिरोज खिलजी का भतीजा और दामाद था। उसके पिता शहाबुद्दीन मसूद के आकस्मिक मृत्यु के पश्चात अलाउद्दीन के देखभाल की जिम्मेदारी चाचा फिरोज खिलजी ने अपने ऊपर ले ली। अलाउद्दीन की अभिरूचि शिक्षा प्राप्त करने से अधिक सैनिक कार्यों में थी। अतः उसने घुड़सवारी और तलवारबाजी में निपुणता प्राप्त कर ली। उन्मूलन उसकी सैनिक प्रतिभा से जलालुद्दीन अत्यन्त प्रभावित था। तुर्क

सुलतान कैकूबाद एवं कैमूर के अन्मूलन और फिरोज खिलजी के राज्यारोहण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। मलिक छज्जु के विद्रोह का दमन करने के पारितोषिक स्वरूप फिरोज ने अलाउद्दीन को कड़ा-मानिकपुर का प्रांतपति नियुक्त किया। बाद में उसे अमीर-ए-तुजुक का पद भी सौंपा गया। कड़ा में उसने वैसे खिलजी सरदारों और अन्य वैसे लोगो को अपने पक्ष में संगठित करना आरम्भ किया जो फिरोज की उदार और कमजोर नीतियों से क्षुब्ध थे। अलाउद्दीन खिलजी ने जलालुद्दीन फिरोज खिलजी के समय में दो मुख्य सैनिक अभियान किए।

जिस समय फिरोज खिलजी राजपूताना में व्यस्त था, उसकी अनुमति से अलाउद्दीन ने मालवा प्रदेश स्थित भिलसा पर 1293 ई० में आक्रमण किया। यहां के मंदिरों में अपार संपत्ति जमा थी। अलाउद्दीन ने वह सारा संपत्ति लूट कर अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ कर ली। सुलतान ने अलाउद्दीन को आरिज-ए-ममालिक नियुक्त किया तथा उसे अवध की सूबेदारी भी सौंपी गई। इससे अलाउद्दीन का प्रभाव और अधिक बढ़ गया। अलाउद्दीन का दूसरा सैनिक अभियान 1295 ई० में देवगिरि के राजा रामचन्द्र देव पर हुआ। उसका मुख्य उद्देश्य वहां से भी धन लूट कर अपनी स्थिति सुदृढ़ करना था। इतिहासकार फरिश्ता के अनुसार अलाउद्दीन को देवगिरि से करीब '6000 मन सोना' मन मोती 7, दो मन जवाहरात, लाल, याकूत, हीरे, पन्ने, 1000 मन चाँदी, 4000 रेशमी कपड़ों के थान, तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त हुईं। देवगिरि से प्राप्त धन अलाउद्दीन की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ कर दी। उसने अब फिरोज खिलजी का तख्ता पलटने का मंसूबा बना लिया। अलाउद्दीन ने घोखे से फिरोज की हत्या करवा दी और मानिकपुर में ही 19 जुलाई 1296 को अलाउद्दीन ने अपने आपको सुलतान घोषित कर लिया। उसने मुक्तहस्त से पदों एवं धन का वितरण कर सबको अपना पक्षधर बना लिया अब उसने दिल्ली पर अधिकार करने की योजना बनाई। उसने अपने विश्वासपात्रों को अमीर बनाया और पहले के अमीरों को मलिक के पद पर प्रोन्नत किया। प्रत्येक सैनिक को 300 टंके चाँदी के दिए गये। फलतः अलाउद्दीन की शक्ति काफी बढ़ गई। अब वह मानिकपुर से तेजी से दिल्ली की ओर बढ़ा। रास्ते में भी देवगिरि से लूटे गए धन का प्रदर्शन एवं वितरण करता हुआ एवं लोगों का समर्थन प्राप्त करता हुआ बदायूँ के निकट पहुंचा। जलालुद्दीन खिलजी का छोटा पुत्र रूकनुद्दीन इब्राहीम, जिसने स्वयं को सुलतान घोषित कर दिया था, ने अलालुद्दीन का मार्ग रोकने की चेष्टा की, परन्तु असफल रहा। अधिकांश अमीर और सेनापति अलाउद्दीन से मिल गए। अलाउद्दीन, इस प्रकार बिना किसी के दिल्ली पहुँच गया, जहां 21 अक्टूबर 1296 ई० को विधिवत उसका राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ।

3.4.2 अलाउद्दीन की गृह नीति

शासक बनने के पश्चात अलाउद्दीन ने गृह और विदेश नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। गृह सम्बन्धी उसके प्रमुख कार्य थे, सुलतान के पद की पुनः स्थापना के लिए राजत्व सम्बन्धी सिद्धान्तों का निर्धारण, आंतरिक विद्रोहों का दमन, शक्तिशाली अमीरों पर नियंत्रण प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना, बाजार एवं मूल्यों पर नियंत्रण स्थापित करना। अलाउद्दीन के राज्यारोहण के समय जो विसम परिस्थिति थी। उसे ध्यान में रखते हुए भी सुलतान ने अपनी गृह नीति निश्चित की।

मध्यकालीन सुलतानों की तरह अलाउद्दीन भी सुलतान को सर्वशक्तिशाली, सर्वगुणसम्पन्न और निरंकुश शासक मानता था। वस्तुतः वह राज्य और सरकार में कोई भी विभेद नहीं करता था। राज्य के सारे अधिकार उसी के हाथों में सुरक्षित थे। वह सुलतान के ऊपर किसी का भी अस्तित्व स्वीकार करने को तैयार नहीं था। वह किसी की सलाह या

अनुकम्पा पर निर्भर नहीं रहता था। अमीर खुसरों के अनुसार, “विश्व का सुलतान, पृथ्वी के शासकों का सुलतान; युग का विजेता और जनता का चरवाहा था” उसकी शक्ति पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था, यहां तक कि खलीफा और उलेमा का भी नहीं। उसका यह भी मानना था कि सुलतान का कोई सम्बंधी नहीं होता। उसके राज्य में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति या तो सुलतान का सेवक होता है अथवा उसकी प्रजा। राजत्व का यह नवीन सिद्धान्त समयानुकूल था, इसलिए जनता ने इसे तत्काल स्वीकार कर लिया। अलाउद्दीन बलबन की जातीय उच्चतावादी नीति त्याग दी और योग्यता के आधार पर नियुक्तियां की। उसने धार्मिक उद्देश्य का प्रमुखता नहीं दी बल्कि समयनुसार व्यावहारिक नीति अपनाई। फलस्वरूप, उसकी स्थिति सुदृढ़ हो गई और उसके समर्थकों की संख्या बढ़ गई।

3.4.3 आंतरिक विद्रोहों का दमन

अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए अलाउद्दीन ने अपने विरोधियों और विद्रोहियों का दमन किया। सबसे पहले उसने एक सेना मुल्तान भेजी, जिसने फिरोज खिलजी के पुत्रों-इब्राहीम एवं अर्कली खां और उनके सम्बंधियों की हत्या की एवं उनकी सम्पत्ति लूटी तथा अनेकों को गिरफ्तार कर पुनः दिल्ली का तख्त हथियाने का सपना भंग कर दिया। 1299 ई0 में दिल्ली के नव-मुसलमानों या मंगोलों का विद्रोह हुआ, जिसे कठोरतापूर्वक दबा दिया गया अनेक मंगोलों की हत्या कर दी गई। दूसरे विद्रोह के दौरान, सुलतान के भतीजे आकत खां ने अलाउद्दीन पर आक्रमण कर दिया। सुलतान को मृत समझकर उसने स्वयं अपने आपको नया सुलतान घोषित कर दिया; परन्तु अलाउद्दीन ने आकत खां एवं उसके साथियों का वध करवाकर एवं उनकी संपत्ति जब्त कर विद्रोह पर नियंत्रण किया। बदायूँ एवं अवध के सूबेदारों, मलिक उमर एवं मंगू खां के विद्रोह भी दबा दिए गए। 1301 ई0 में एक अन्य विद्रोह हुआ। इस विद्रोह का नेता हाजी मौला था। उसने इल्तुतमिश के एक वंशज को सुलतान घोषित कर दिया एवं उसका संरक्षक बन बैठा; परन्तु यह विद्रोह भी दबा दिया गया।

अलाउद्दीन ने विद्रोहों के उन्मूलन की स्थायी समाधान हेतु चार अध्यादेश जारी किया। उसके अनुसार धनी व्यक्तियों की सम्पत्ति छीन ली गई। उपहार में दी गई भूमि वापस ले ली गई। अनेक व्यक्तियों का पेंशन बन्द कर दी गई। करमुक्त भूमि पर पुनः कर लगा दी गई। आर्थिक तंगी के कारण अमीरों एवं सरदारों का विद्रोह की ओर से उनका ध्यान हट गया। दूसरे अध्यादेश के अनुसार एक संगठित गुप्तचर विभाग की स्थापना की गई। गुप्तचरों को राज्य के सभी महत्वपूर्ण स्थानों पर नियुक्त किया गया। गुप्तचरों के भय से उदण्ड अमीर भी नियंत्रित हो गये। अलाउद्दीन का तीसरा कार्य था मध-निषेध को लागू करना। सुलतान ने स्वयं शराब पीना बन्द कर दिया और लोगो के पीने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। अलाउद्दीन ने अमीरों के परस्पर मेल-मिलाप, उनकी सामाजिक-गोष्ठियों एवं समारोहों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया अमीरों पर कठोर पाबंदियां लगा दी गई। उनकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी स्वयं सुलतान बना, अमीरों के पुत्रों को सुलतान का दास माना गया तथा अमीर सुलतान की पूर्वानुमति के बिना आपस में वैवाहिक सम्बन्ध कायम नहीं कर सकते थे। इन अध्यादेशों द्वारा सुलतान ने अपनी स्थिति सुदृढ़ की एवं विद्रोही प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाया।

3.4.4 अलाउद्दीन के सैनिक अभियान-विदेश नीति

अलाउद्दीन एक वीर एवं महत्वाकांक्षी शासक था। वह समस्त भारत पर अपनी सत्ता स्थापित करना चाहता था। वस्तुतः, वह सिकन्दर के समान विश्वविजेता बनना चाहता था। उसने सुलतान बनने से पूर्व भी अनेक युद्ध किए थे। उसके राज्यारोहण के समय उत्तरी और दक्षिणी भारत में अनेक स्वतंत्र राज्य थे। इन राज्यों पर विजय प्राप्त करना उसकी बड़ी महत्वाकांक्षा थी, परन्तु उसने इसके लिए केवल सैनिक शक्ति का ही सहारा नहीं लिया। उसने अपने शत्रुओं को मित्र बनाने और उन्हें अपने राज्य में मिलाए बिना उनसे अपनी अधीनता स्वीकार करवाने की नीति का भी पालन किया। दक्षिण भारत में उसने इसी नीति को अपनाया।

3.4.5 अलाउद्दीन की पश्चिमोत्तर सीमानीति

अपना विजय अभियान आरम्भ करने के पूर्व सुलतान ने पश्चिमोत्तर सीमा की सुरक्षा की व्यवस्था की इस सीमा से मंगोलों का निरंतर आक्रमण हो रहा था। साम्राज्य की सुरक्षा के लिए मंगोल आक्रमणकारियों पर नियंत्रण रखना आवश्यक था। इसलिए, सुलतान ने सर्वप्रथम सीमा की सुरक्षा की व्यवस्था की। सीमान्त-प्रदेश में पुराने दुर्गों की सरम्मत करवाई गई तथा अनेक नए दुर्गों का निर्माण करवाया गया। महत्वपूर्ण स्थानों पर सैनिक छावनियां स्थापित की गईं। सेना की संख्या बढ़ा दी गई एवं सैनिकों को उन्नत प्रकार के अस्त्र-शस्त्र दिए गए। मंगोलों की गतिविधियों पर निगरानी रखने के लिए गुप्तचर भी बहाल लिए गए सीमावर्ती क्षेत्रों का प्रशासन योग्य, अनुभवी और विश्वासपात्र सैनिक अधिकारियों को सुपूर्द कर दिया गया। इन कार्यों के परिणाम स्वरूप मंगोलों के आक्रमणों का सामना करने में अलाउद्दीन को सफलता मिली। अलाउद्दीन के राज्यकाल में मंगोलों ने अनेक बार आक्रमण किए, परन्तु उन्हें सदैव पराजित होकर पीछे हटना पड़ा।

3.4.6 राजपूतों से सम्बन्ध

अलाउद्दीन के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती थी राजपूत राज्यों पर विजय प्राप्त करने की। राजपूताना में अनेक स्वतंत्र राज्य थे, जो आपसी प्रतिस्पर्द्धा में संलग्न होने के बावजूद दिल्ली के सुलतान को खुली चुनौती दे रहे थे। वे अब भी तुर्कों को विदेशी मानते थे और उनसे भारत का स्वतंत्र कराने का सपना देख रहे थे। केन्द्रीय शक्ति के कमजोर पड़ते ही वे अपनी गतिविधियां तेज कर देते थे। इसलिए अलाउद्दीन ने इन राज्यों पर नियंत्रण स्थापित करने की योजना बनाई। उन्हें करद राज्य के रूप में सुलतान ने अपनी अधीनता स्वीकार करवाई जिन राजपूत-राज्यों से अलाउद्दीन का संघर्ष हुआ, उनमें गुजरात; रणथंभौर और मेवाड़ प्रमुख हैं।

3.4.7 गुजराज की विजय

सिंध और मुल्तान विजय के पश्चात अलाउद्दीन ने गुजरात-विजय की योजना बनाई। गुजराज बघेला राजपूतों द्वारा शासित एक समृद्ध और शक्तिशाली राज्य था। 1297 ई० में अलाउद्दीन ने अपने योग्य सेनापतियों उलुग खां एवं नुसरत खां की अधीनता में एक सेना भेजी, जिसने राजधानी अणहिलवाड़ा का घेरा डाल दिया। गुजरात के शासक कर्ण सिंह ने सेना का मुकाबला करने के बजाय भागना ही उचित समझा। खिलजी सेना ने राजधानी एवं अन्य प्रांत पर अधिकार कर इसे सल्तनत का एक प्रांत के रूप में सम्मिलित कर लिया।

3.4.8 रणथंभौर पर अधिकार

गुजरात एवं जैसलमेर पर अधिकार करने के पश्चात अलाउद्दीन रणथंभौर की ओर ध्यान केन्द्रित किया। वहां चौहानवंशी राजा हम्मीरदेव का शासन था। रणथंभौर पर पहले तुर्की सुलतानों ने अपना अधिपत्य स्थापित किया था, परन्तु पुनः राजपूतों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली थी। अतः अलाउद्दीन इस पर अधिकार करना चाह रहा था। इसी उद्देश्य से उसने 1301 ई० में गुजरात के विजयी सेनानायक, उलुग खां एवं नुसरत खां को रणथंभौर पर आक्रमण करने को भेजा। राजा हम्मीरदेव ने आक्रमणकारियों का वीरता से सामना किया एवं उन्हें घेरा उठाने को बाध्य किया। इसी मध्य नुसरत खां की मृत्यु हो गई और उलुग खां भी दुर्ग पर अधिकार नहीं कर सका। अब स्वयं अलाउद्दीन वहां जा पहुँचा। जब लम्बे समय तक दुर्ग का घेरा डाले रहने के बावजूद सुलतान इस पर अधिकार नहीं कर सका तब उसने राजा हम्मीरदेव के मंत्री रणमल को अपने पक्ष में मिलाकर दुर्ग पर अधिकार कर लिया। राजा सहित अनेक राजपूतों ने युद्ध में वीरगति प्राप्त की। स्त्रियों ने जौहरव्रत द्वारा अपने सम्मान की रक्षा की। रणथंभौर पर अधिकार कर सुलतान ने उलुग खां को वहां का शासक बहाल किया।

3.4.9 मेवाड़ पर आक्रमण

रणथंभौर के पश्चात मेवाड़ सुलतान की साम्राज्यवादी नीति का शिकार बना। मेवाड़ में गुहिलौत राजपूतों का शासन था। राजपूतों के राज्यों में मेवाड़ की विशिष्ट स्थिति थी अलाउद्दीन द्वारा मेवाड़ पर आक्रमण करने के कई कारण बताए जाते हैं। कहा जाता है कि अलाउद्दीन मेवाड़ के राणा रतन सिंह के अनुपम सुन्दरी पदमिनि को प्राप्त करना चाहता था एवं इसी उद्देश्य से उसने चित्तौड़ (मेवाड़) पर आक्रमण किया। अनेक इतिहासकार इसे कपोल-कल्पनामात्र मानते हैं। संभवतः अलाउद्दीन ने मेवाड़ पर इसलिए आक्रमण किया क्योंकि इस पर अभी तक किसी ने आक्रमण करने का साहस नहीं किया था और अलाउद्दीन इस राज्य पर अपनी सर्वश्रेष्ठता कायम करना चाहता था। 1303 ई० में अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण कर अपना अधिकार स्थापित किया। खिज़्र खां चित्तौड़ का शासक नियुक्त हुआ। चित्तौड़ का नाम बदलकर खिज़्राबार रखा दिया गया; परन्तु अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर स्थाई अधिकार नहीं हो सका। 1311 ई० में खिज़्र खां को राजपूतों के विरोध के कारण चित्तौड़ छोड़ना पड़ा और मालदेव नामक राजपूत सरदार को अलाउद्दीन ने वहां अपना प्रतिनिध शासक बहाल किया।

3.4.10 मालवा एवं अन्य राज्यों की विजय

राजपूताना के पश्चात अलाउद्दीन ने मालवा पर आक्रमण किया। इसी समय मांडू, उज्जैन, धार एवं चंदेरी पर भी सुलतान की सेना ने विजय प्राप्त की। अलाउद्दीन ने 1308 में मारवाड़ के परमार राजा शीतलदेव को भी पराजित कर उससे अपनी अधीनता स्वीकार करवाई। मारवाड़ के कुछ प्रदेशों को दिल्ली के अमीरों को प्रदान किया गया जबकि सिवान के दुर्ग को शीतलदेव के उत्तराधिकार को सौंपा गया।

3.4.11 जालौर की विजय

1305 ई0 में जालौर के शासक कनेरदेव ने अलाउद्दीन की अधीनता स्वीकार कर लिया था। किन्तु धीरे-धीरे वह आन्तरिक प्रशासन में स्वतंत्र हो गया। और सुलतान के प्रति श्रद्धा-भाव व्यक्त करना उसने कम कर दिया। अतः शीघ्र 1311 ई0 में अलाउद्दीन ने उसकी विद्रोही प्रवृत्ति के दमनार्थ जालौर पर आक्रमण किया। यद्यपि प्रारंभिक युद्धों में कनेर देव की सेना ने खिलजी सेना को परास्त किया, किन्तु अंत में कूटनीति का सहारा लेकर अलाउद्दीन ने राजा के भाई मालदेव को अपने पक्ष में मिला लिया तथा कनेर देव को परास्त कद दिया। युद्ध में अपने अन्य सगे-सम्बंधियों तथा सहयोगियों के साथ कनेर देव वीरगति को प्राप्त हुआ। अब जालौर भी दिल्ली सल्तनत का एक अंग बन गया।

इस प्रकार 1311 ई0 तक केवल नेपाल, कश्मीर और असम को छोड़कर लगभग समस्त भारत पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया और सुलतान की साम्राज्यवादी नीति और अधिक सृष्ट एवं प्रसारवादी हो गई। सल्तनत की सीमा इतनी अधिक विस्तृत पहले कभी नहीं थी। उत्तर भारत की विजयों से मुक्त तथा प्रोत्साहित होकर अलाउद्दीन ने अब दक्षिण भारत में मुस्लिम सत्ता के विस्तार हेतु प्रयत्न शुरू किए।

3.4.12 दक्षिण की विजय

उत्तरी भारत के अतिरिक्त दक्षिणी भारत में भी अलाउद्दीन ने सैनिक अभियान किए। दक्षिण के राज्यों पर विजय प्राप्त करना सहज नहीं था, फिर भी अलाउद्दीन ने दक्षिण विजय की योजना बनाई। दक्षिण पर अधिकार कर वह अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा को पूरा करना तो चाहता ही था, साथ ही वहां से धन भी प्राप्त करना चाहता था। दक्षिण में इस समय चार प्रमुख राज्य थे-देवगिरी, तेलंगाना, होयसल और पांड्य-राज्य। दक्षिणी राज्यों के प्रति अलाउद्दीन ने एक निश्चित नीति निर्धारित की। वह इन राज्यों को अपने साम्राज्य में मिलाना नहीं चाहता था; इसलिए इन राज्यों से अपनी अधीनता स्वीकार करवाकर ही वह संतुष्ट हो गया। फलस्वरूप वह उन कठिनाइयों से बच गया, जिनका सामना मुहम्मद-बिन-तुगलक को दक्षिण में सल्तनत की विस्तारवादी नीति के परिणामस्वरूप करना पड़ा।

3.4.12.1 देवगिरि

अलाउद्दीन ने सुलतान बनने के पूर्व ही देवगिरी के रामचन्द्र देव को पराजित कर उससे अपनी अधीनता कबूल करवाई थी; परन्तु कुछ समय पश्चात उसने सुलतान को वार्षिक कर देना बन्द कर दिया था। इसलिए, अलाउद्दीन उससे क्रुद्ध था। उसने गुजरात के राजा कर्ण देव एवं उसकी पुत्री देवल रानी को भी शरण दे रखी थी। अतः अलाउद्दीन ने रामचन्द्र देव को सबक सिखाने की ठान ली। 1306-07 ई0 में एक विशाल सेना मलिक काफूर एवं अल्प खां के नेतृत्व में देवगिरि पर आक्रमण करने के लिए भेजी गई। इस सेना ने रामचन्द्र को पराजित कर दिया यद्यपि देवल रानी का विवाह दिल्ली लेजाकर अलाउद्दीन का बेटा खिज़्र खां के साथ कर दिया गया, तथापि रामचन्द्र के साथ अलाउद्दीन ने सम्मानपूर्वक व्यवहार किया। रामचन्द्र कई महीनों तक दिल्ली में अपने परिवार के साथ रहा, जहां उसे राजसी सुविधाएं प्रदान की गईं। उसे 'रायरायान' की पदवी दी गई एवं एक चंदोबा भेंट किया गया। रामचन्द्र ने सुलतान की अधीनता स्वीकार कर ली एवं वार्षिक कर देना स्वीकार किया। वह जीवनपर्यंत सुलतान का मित्र बना रहा। जब मलिक काफूर द्वारसमुद्र की विजय के लिए जा रहा था, तब रामचन्द्र ने उसे अनेक सहूलियत प्रदान की।

रामचन्द्र की मृत्यु के पश्चात अलाउद्दीन को पुनः देवगिरि पर आक्रमण करना पड़ा। इसका कारण यह था कि रामचन्द्र के पश्चात उसके पुत्र एवं नए शासक शंकर देव ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर वार्षिक कर देना बन्द कर दिया था। अतः 1313 ई० में मलिक काफूर ने पुनः देवगिरि पर आक्रमण किया। शंकरदेव युद्ध में मारा गया। खिलजी सेना ने गुलबर्गा, चौल, और अन्य स्थानों पर अधिकार कर लिया नए राजा हरपाल देव ने सुलतान की अधीनता स्वीकार कर ली।

3.4.12.2 तेलंगाना

तेलंगाना में अलाउद्दीन के समय काकतीयवंशी राजा प्रताप रूद्रदेव शासन कर रहे थे। वह एक वीर एवं पराक्रमी शासक थे। उसकी राजधानी वारंगल थी। उसने विपक्षियों के वारंगल पर अधिकार करने के आरम्भिक अभियानों को विफल कर दिया, परन्तु 1308-09 ई० में मलिक काफूर ने उसे पराजित कर सुलतान की अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया। प्रतापरूद्र देव ने बहुत अधिक धन सुलतान को भेंट के रूप में दिया। बरनी के अनुसार मलिक काफूर को राय से एक सौ हाथी, सात हजार घोड़े, और अनेक मूल्यवान वस्तुएं मिली तथा भविष्य में भी उतना ही धन कर के रूप में देने का आश्वासन भी। सम्भवतः मलिक काफूर को कोहेनूर हीरा भी यही से मिला।

3.4.12.3 होयसल

दक्षिण का एक अन्य प्रसिद्ध राज्य होयसलों का था। उसकी राजधानी द्वारसमुद्र में स्थित थी। वहां का राजा बल्लाल तृतीय बहुत ही वीर एवं साहसी था। 1311 ई० में जब मलिक काफूर ने उसकी राजधानी द्वारसमुद्र पर आक्रमण किया, तब बल्लाल तृतीय ने वीरतापूर्वक खिलजी सेना का सामना किया, परन्तु मलिक काफूर के समक्ष वह नहीं टिक सका। उसने सुलतान की अधीनता स्वीकार कर ली। वह कुछ दिनों तक दिल्ली दरबार में भी रहा। उसकी मित्रता एवं स्वामीभक्ति से प्रभावित होकर अलाउद्दीन ने उसे उसका राज्य वापस कर दिया, उसे सम्मानित किया एवं बहुमूल्य तोहफे दिए।

3.4.12.4 माबर की विजय

दक्षिण में मलिक काफूर ने माबर (मदुरा) या पांड्य-राज्य पर भी प्राप्त की। गृह युद्ध के कारण पांड्यों की शक्ति क्षीण पड़ गई थी। उत्तराधिकार के लिए सुन्दर पांड्य और वीर पांड्य में संघर्ष चल रहा था। सुन्दर पांड्य ने अलाउद्दीन से सहायता मांगी। सुलतान ने मलिक काफूर को मदुरा पर आक्रमण करने का निर्देश दिया। अतः काफूर ने राजधानी मदुरा पर आक्रमण कर दिया। यद्यपि काफूर का मदुरा पर स्थायी रूप से अधिकार नहीं हो सका, तथापि मदुरा की लूट से उसे बहुत अधिक संपत्ति हाथ लगी। मलिक काफूर मदुरा से असंख्य हाथी, घोड़े, हीरे, जवाहरात, लेकर दिल्ली लौटा। यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से माबर का विजय महत्वहीन थी तथापि आर्थिक दृष्टि से इसका महत्व बहुत अधिक था।

3.4.13 अलाउद्दीन का साम्राज्य

अलाउद्दीन ने अपने अभियानों एवं विजयों के द्वारा एक विशाल साम्राज्य की स्थापना कर ली। दक्षिण के राज्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके उसने समस्त भारत को कम-से कम एक राजनीतिक सूत्र में बांधा। अबतक किसी भी मुस्लिम शासक ने इतना विशाल साम्राज्य स्थापित नहीं किया था। पश्चिमोत्तर दिशा में सिन्धु नदी उसके साम्राज्य की

सीमा थी और पंजाब तथा सिन्ध उसके साम्राज्य में मम्मिलित थे। अधिकांश राजपूताना और मध्यप्रदेश पर भी उसका नियंत्रण था। गुजरात उसके साम्राज्य का एक प्रांत था। दक्षिण में उसका राज्य मदुरा तक विस्तृत था। पूर्व में यह साम्राज्य वाराणसी और अवध तक था।

3.4.14 अलाउद्दीन का पश्चिमोत्तर सीमांत एवं मंगोल नीति

यद्यपि अलाउद्दीन के समान भारत वर्ष में अन्य विजेता भी हुए, किन्तु उसकी विजय का महत्व इस बात के चलते और अधिक बढ़ जाता है कि उसने मंगोल आक्रमणों से त्रस्त काल में मंगोलों का सफलतापूर्वक सामना करते हुए विजय-अभियान किये। बलबन की अपेक्षा अलाउद्दीन के शासनकाल में मंगोलों की समस्या और अधिक जटिल हो गई थी। अलाउद्दीन इसलिए प्रशंसा का पात्र है कि उसने और अच्छे ढंग से मंगोलों के आक्रमणों को विफल किया और पश्चिमोत्तर सीमा क्षेत्र को सुदृढ़ किया। इल्तुतमिश के शासनकाल से मंगोलों के आक्रमण शुरू हुए और अलाउद्दीन के शासनकाल में और अधिक तीव्रता एवं भयावहता आई। इसकाल में मंगोल आक्रमण के उद्देश्य में भी परिवर्तन आ गया। अलाउद्दीन के पूर्व मंगोल आक्रमणों का उद्देश्य था लूट-पाट परन्तु अब मंगोलों ने सीमान्त क्षेत्र पर आक्रमण करने की अपेक्षा सीधे दिल्ली पर आक्रमण करने और उस पर अधिकार करने की नीति अपनाई।

अलाउद्दीन ने दिल्ली साम्राज्य की मंगोलों से रक्षा के लिए बलबन द्वारा अपनाया गया नीति का पालन किया। उसने सीमान्त क्षेत्र में नये दुर्गों का निर्माण करवाया तथा पुराने दुर्गों का जीर्णोद्धार किया। मंगोल आक्रमण के मार्ग में दुर्गों की एक श्रृंखला स्थापित कर दी गई। सेना की संख्या में वृद्धि कर, नये अस्त्र-शस्त्रों से सैनिकों को सुसज्जित शक्तिशाली बनाया गया। इस क्षेत्र में यातायात की समुचित व्यवस्था की गई तथा राजमार्गों का समुन्नत बनाया गया। इस क्षेत्र में गुप्तचरों का जाल बिछा दिया गया ताकि मंगोल गतिविधियों की सूचना समय पर मिल सके। अलाउद्दीन ने मंगोलों के प्रति नृशंसता तथा बर्बर दमन की नीति अपनाई। जफर खां, उलुग खां, अल्प खां, गाजी मलिक, मलिक काफूर आदि खिलजी सेनापति ने अपनी बर्बता, नृशंसता, और क्रूरता से मंगोलों के दिल में भय उत्पन्न कर दिया। जब मंगोल घोड़े पानी नहीं पीते थे, तब वे कहते थे, “क्या तूने जफर खां का मुँह देख लिया ?” ।

3.4.15 अलाउद्दीन की दक्षिण विजय का महत्व एवं प्रभाव

अलाउद्दीन पहला मुस्लिम शासक था जिसने दक्षिण विजय का प्रयास किया और सफल भी रहा। सर्वप्रथम 1296 ई० में धन प्राप्ति के उद्देश्य से ही उसने देवगिरि पर आक्रमण किया था। उसने अनुभव किया कि जितनी सुविधा के साथ दक्षिण के राज्यों से धन मिलना सम्भव था उतना अन्यत्र कहीं से भी नहीं। वस्तुतः दक्षिण के सारे राज्य अत्यन्त समृद्ध और धनवान थे। दक्षिण के मंदिर भी सदियों से धन बटोर रहे थे। सुलतान इस तमाम एकत्रित सम्पत्ति का अपहरण करना चाहता था। इसके अतिरिक्त दक्षिण के राज्यों की राजनीतिक दुर्बलताओं और आपसी फूट ने भी सुलतान को दक्षिण पर आक्रमण करने को प्रेरित किया। इस प्रकार 1307 से 1313 ई० के बीच अलाउद्दीन ने चार बार मलिक काफूर को दक्षिण विजय के लिए भेजा।

अलाउद्दीन की दक्षिण विजय का स्वरूप प्राचीन भारतीय सम्राटों के दिग्विजय के समान था। वह दक्षिण के राज्यों को जीतकर दिल्ली सल्तनत में मिला लेने की अथवा दक्षिण की जनता पर प्रत्यक्ष रूप से शासन करने की इच्छा नहीं

रखता था। ऐसा सोचकर सुलतान ने अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया। वस्तुतः दक्षिण की भौगोलिक स्थिति, यातायात के साधनों का अभाव, दिल्ली से दक्षिण की दूरी, ये सारी समस्याएँ इतनी जटिल थी कि इनके रहते दिल्ली से दक्षिण पर प्रत्यक्ष रूप से शासन करना अगर असंभव नहीं तो कठिन अवश्य था। सुलतान की एकमात्र इच्छा थी कि दक्षिण के राज्य उसकी अधीनता स्वीकार कर लें और नियमित रूप से उसे निर्धारित कर देते हैं।

अलाउद्दीन की दक्षिण विजय से भारत में काफी धन आगया और राजकोष इतना समृद्ध हो गया कि उसके उत्तराधिकारियों को भी कभी आर्थिक संकट का सामना नहीं करना पड़ा। इस धन से सुलतान ने अपनी निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता को सुदृढ़ बनाया तथा अनेकानेक योजनाओं को सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया। सुलतान की सफलता, प्रतिष्ठा तथा गौरव में दक्षिण की सम्पदा का महत्वपूर्ण योगदान माना जाता है। दक्षिण के प्रायः सभी शासकों ने अलाउद्दीन की अधीनता स्वीकार कर ली और उसे वार्षिक कर देने का आश्वासन दिया। दक्षिण में अशांति और विद्रोह की सम्भवना से निश्चिन्त होकर सुलतान ने उत्तर में दृढ़तापूर्वक अपनी राजसत्ता और सार्वभौमिकता का प्रतिष्ठित किया।

अलाउद्दीन की दक्षिण की सफलता शक्ति एवं कठोरता पर आधारित थी। मलिक काफूर ने दक्षिण में सैनिक आतंक, निर्मम हत्या, लूटपाट आदि के द्वारा दक्षिण के राज्यों में भय का संचार किया था और उन्हें सुलतान की अधीनता स्वीकार करने तथा वार्षिक कर देने को बाध्य किया था। सल्तनत की जड़ और सुलतान की पकड़ स्थाई एवं दृढ़ नहीं हो पाई। यही कारण है कि बाद में मुबारक खिलजी और मुहम्मद-बिन-तुगलक को नए सिरे से दक्षिण को विजय करनी पड़ी।

3.4.16 अलाउद्दीन का मूल्यांकन

निसंदेह खिलजीवंश के शासकों- में अलाउद्दीन सबसे महान एवं प्रतापी शासक था। वह केवल खिलजी वंश का ही नहीं; बल्कि दिल्ली के सुलतानों में योग्यतम शासक था। यद्यपि वह धोखे एवं मक्कारी से राज्य प्राप्त किया था, तथापि अपनी कुशलता एवं दृढ़ इच्छाशक्ति के सहारे उसने सल्तनत की आधारशिला मजबूत की। अपने बाहुबल से उसने साम्राज्य की सीमा का विस्तार कियज्ञं उसमें प्रशासनिक गुण भी भरे हुए थे। यद्यपि उसको प्रशासनात्मक कार्यों में दक्षता नहीं थी, तथापि उसने सल्तनत को ठोस प्रशासनिक व्यवस्था प्रदान की। वह दिल्ली का पहला सुलतान था, जिसने आर्थिक सुधारों में दिलचस्पी ली। एक निरंकुश एवं सर्वशक्तिशाली शासक होते हुए भी वह प्रजा पर अत्याचार नहीं करता था। उसने सुलतान की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित की तथा राजनीति को धर्म से अलग कर दिया। यह सुलतान की बहुत बड़ी उपलब्धि थी। वह साहित्य एवं विद्वानों का भी संरक्षक था। उसके समय का सबसे महान कवि अमीर खुसरो हैं। यद्यपि अलाउद्दीन के सुधार उसी के साथ समाप्त हो गये तथापि, जैसा कि बरनी बताता है कि इससे उसकी महत्ता कम नहीं हो जाती। डा० आर्शिवादी लाल श्रीवास्तव उसे “प्रथम तुर्की सम्राट” मानते हैं। एक अन्य इतिहासकार, इलीफेस्टन के अनुसार, “उसका शासनकाल बड़ा ही शानदार था। अनेक अनियमितताओं और मूर्खताओं के होते हुए भी वह एक सफल शासक था तथा उसने अपनी शक्ति का उचित प्रयोग किया था, प्र० के०एस० लाल के शब्दों में, “वह एक निम्न अवस्था से उठकर मध्यकालीन युग का महान शासक बना। एक शक्तिशाली तथा सुव्यवस्थित सेना की सहायता से उसने न केवल देश के छोटे-छोटे शासकों को अपना अधीनस्थ बनाया, वरन् आंतरिक विद्रोहों को भी

सदैव के लिए समाप्त कर दिया। व्यवस्थित आर्थिक नियमों के द्वारा उसने बाजार के चढ़ते-उतरते भाव पर नियंत्रण किया तथा योग्य प्रशासकीय नियमों की सहायता से लगभग 20 वर्षों तक उसने बड़ी दक्षता एवं नितकुशलता से राज्य किया।

3.5 शहाबुद्दीन उमर (1316)

अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद, दक्षिण के विजेता और अलाउद्दीन के विश्वासपात्र मलिक काफूर की सहायता से अल्पव्यस्क शहाबुद्दीन उमर दिल्ली की गद्दी पर बैठा। उसका राज्यारोहण एक षडयंत्र का परिणाम था, जिसका नेतृत्व स्वयं मलिक काफूर ने किया। 1314 ई0 में वृद्ध सुलतान अलाउद्दीन खिलजी की बीमारी का समाचार पाकर वह देवगिरि से दिल्ली चला गया। दिल्ली आते ही उसके राजनीतिक मनसूबे बढ़ गए। उसने पहले सुलतान पर प्रभाव डालकर विद्रोहियों को अपने मार्ग से हटवाया। उसके प्रभाव में आकर अलाउद्दीन ने खिज़्र खां को राजगद्दी से वंचित कर दिया एवं शहाबुद्दीन उमर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया तत्पश्चात उसने वृद्ध सुलतान को भी जहर देकर मार डाला। उसकी मृत्यु के पश्चात जनवरी, 1316 ई0 में उमर नया सुलतान बना तथा मलिक काफूर उसका संरक्षक। मलिक काफूर ने खिज़्र खां और शादी खां अंधा कर ग्वालियर के किले में कैद कर दिया। अलाउद्दीन के तीसरे पुत्र मुबारक खां को भी गिरफ्तार कर लिया गया। अपने विरुद्ध बढ़ते असंतोष से घबराकर मलिक काफूर ने मुबारक खां को भी अंधा बनाने की योजना बनाई। उसने अपने सैनिकों को मुबारक खां की आँखें फोड़ने के लिए भेजा; परन्तु उसने इन सैनिकों को अपने पक्ष में मिलाकर मलिक काफूर की हत्या करवा दी। मलिक काफूर की हत्या के पश्चात अलाउद्दीन के विश्वासपात्रों ने मुबारक खां को ही अल्पव्यस्क सुलतान का संरक्षक नियुक्त किया।

3.6 कुतुबुद्दीन मुबारक शाह (1316-1320)

मुबारक खां लगभग दो महिनों तक शहाबुद्दीन उमर का संरक्षक बना रहा। इस अवधि में उसने खिलजी अमीरों का विश्वास प्राप्त किया एवं अपनी स्थिति सुदृढ़ की। अब वह स्वयं सुलतान बनने की योजना बनाने लगा। उसने अपने प्रभाव का उपयोग कर उमर को गद्दी से उतारकर गिरफ्तार कर लिया। उमर ग्वालियर भेज दिया गया, जहां बाद में उसे अंधा बना दिया गया। 1316 ई0 में स्वयं मुबारक खां कुतुबुद्दीन मुबारक शाह सल्तनत का मालिक बन बैठा।

कुतुबुद्दीन मुबारकशाह ने राज्य में शांति-व्यवस्था स्थापित करने और अपनी लोकप्रियता बढ़ाने का प्रयास किया। उसके उदार नीति अपनाने के कारण प्रशासनिक व्यवस्था ढीली पड़ गई। सुलतान का भय और आतंक समाप्त हो गया। सुलतान के विरुद्ध पुनः षडयंत्र आरम्भ हो गए। सबसे पहला विद्रोह गुजरात में 1316 में हुआ। मुबारकशाह ने गुजरात के विद्रोह को दबाने के लिए एक सेना भेजी, जिसने विद्रोहियों पर काबू पा लिया। सुलतान ने अपने श्वसुर-जफर खां को वहां का सूबेदार बहाल किया। इसके बाद भी वहां पूर्णशांति स्थापित नहीं हो सकी। जफर खां की भी हत्या हो गई। उसके पश्चात क्रमशः हिसामुद्दीन और वहीदुद्दीन कुरैशी गुजरात के प्रांतपति बनाए गए। गुजरात के अतिरिक्त देवगिरि में भी विद्रोह हुआ। वहां के शासक हरपाल देव ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। 1319 ई0 में सुलतान ने हरपालदेव को युद्ध में पराजित कर हत्या कर दी। देवगिरि के पश्चात खुसरो को तेलंगाना की ओर भेजा गया, जहां से

उसने बहुत अधिक धन प्राप्त किया। राजस्थान के राजपूत-शासकों पर अपना प्रभाव बनाए रखने के लिए सुलतान ने वहां सेना बहाल की। इस प्रकार, मुबारक शाह कुछ सीमा तक साम्राज्य पर अपना प्रभाव जमाए रखने में सफल हुआ।

3.7 नासिरुद्दीन खुसरों खां (अप्रैल-सितम्बर-1320)

मुबारक खिलजी के शासककाल में सर्वत्र असंतोष एवं अशांति फैलती जा रही थी, तो दूसरी ओर खुसरों का सुलतान पर प्रभाव बढ़ता जा रहा था, जो उससे अनुचित कार्य कारवाया था। संपूर्ण राजमहल पर उसका नियंत्रण स्थापित हो गया। 4 अप्रैल, की रा 1320त्रि में खुसरों ने अपने सैनिकों के साथ राजमहल में प्रवेश कर सुलतान की हत्या कर दी तथा स्वयं सुलतान बन गया। सुसरों खां ने अपने जाति-बटवारियों के सहयोग एवं षड़यंत्र से खिलजियों का अंत कर अपना शासन प्रारम्भ किया था परन्तु उनमें प्रशासनिक क्षमता का अभाव था। बरनी के अनुसार, “बटवारियों ने मुसलमान स्त्रियों से विवाह कर लिया तथा अमीरों की सम्पत्ति लूट ली। महल में मूर्ति पूजा आरम्भ हो गई। इसलिए खुसरों खां के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई”⁴। खुसरों खां के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व दीपालपुर के प्रांतपति गाजी मलिक तुगलक ने किया। गाजी मलिक ने युद्ध में खुसरों को पराजित कर मार डाला और स्वयं गद्दी पर बैठ गया। इस प्रकार खिलजियों का शासन समाप्त हुआ और तुगलकों का शासन प्रारम्भ हुआ।

3.8 सारांश

जलालुद्दीन खिलजी ने जिस राजवंश की स्थापना की थी वह मात्र 30 वर्षों में ही समाप्त हो गई। इस वंश के शासन काल में विशेषकर अलाउद्दीन खिलजी के समय में दिल्ली सल्तनत का काफी विस्तार हुआ। अब सुलतान का साम्राज्य सदूर दक्षिण तक फैल गया। यह पहला अवसर था जब दिल्ली सल्तनत के अधीन इतना विशाल साम्राज्य स्थापित हुआ। निश्चित से अलाउद्दीन के साम्राज्यवादी एवं विस्तारवादी नीति ने एक विशाल साम्राज्य बनाने में अहम भूमिका निभाई। इस विस्तारवादी नीति एवं सैनिक क्षमता के कारण मंगोल आक्रमण पर अंकुश लगाया जा सका। निरंतर मंगोल आक्रमण से साम्राज्य की रक्षा एक बड़ी चुनौती थी और खिलजियों ने इसे बखूबी निभाया। साम्राज्य विस्तार के साथ साथ अलाउद्दीन ने आर्थिक सुधार एवं राजस्व नीति के बढ़ावा दिया जिससे दिल्ली सल्तनत सुदृढ़ और सम्पन्न हो गया।

3.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

- जलालुद्दीन फिरोज खिलजी के राजनीतिक उत्कर्ष की विवेचना कीजिये।
- जलालुद्दीन फिरोज खिलजी के विरुद्ध विद्रोहों का वर्णन कीजिये।
- अलाउद्दीन खिलजी के जीवन एवं उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिये।
- अलाउद्दीन की गृह नीति का परीक्षण कीजिये।
- खिलजियों के समय दिल्ली सल्तनत का विस्तार का विश्लेषण कीजिये।
- अलाउद्दीन खिलजी के दक्षिण अभियान पर एक लेख लिखिये।

- अलाउद्दीन खिलजी साम्राज्य निर्माता के साथसाथ आर्थिक सुधारक भी था विश्लेषण कीजिये।-
- कुतुबुद्दीन मुबारक शाह पर एक टिप्पणी लिखिये।

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

- 1 बिपिन बिहारी सिन्हा - मध्यकालीन भारत
- 2 जे०एल० मेहता - मध्यकालीन भारत का वृहत् इतिहास-खण्ड-1
- 3 सतीश चन्द्र - मध्यकालीन भारत
- 4 एल०पी० शर्मा - मध्यकालीन भारत
- 5 हरिश चन्द्र वर्मा - मध्यकालीन भारत
- 6 आर्शिवादी लाल श्रीवास्तव - भारत का इतिहास (1000-1707)
- 7 कामेश्वर प्रसाद - भारत का इतिहास

ब्लॉक तीन

इकाई एक: दिल्ली सल्तनत की पराकाष्ठा : तुगलक वंश

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 गियासुद्दीन तुगलक़
 - 1.3.1 गाज़ी मलिक अर्थात् गियासुद्दीन तुगलक़ का दिल्ली के सुल्तानों की सेवा में प्रवेश
 - 1.3.2 गियासुद्दीन तुगलक़ का सुल्तान के रूप में राज्यारोहण
 - 1.3.3 सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक़ द्वारा सल्तनत में व्याप्त राजनीतिक अस्थिरता को समाप्त कर शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना तथा साम्राज्य-विस्तार
- 1.3.4 एक शासक के रूप में गियासुद्दीन तुगलक़ का आकलन
- 1.4 सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक़
 - 1.4.1 मुहम्मद बिन तुगलक़ के राज्यारोहण के समय दिल्ली सल्तनत की स्थिति और उसकी उसकी व्यक्तिगत योग्यता
 - 1.4.2 मुहम्मद बिन तुगलक़ की अव्यावहारिक योजनाएं
 - 1.4.2.1 दोआब में कर-वृद्धि
 - 1.4.2.2 कृषि-सुधार की योजना
 - 1.4.2.3 राजधानी-परिवर्तन
 - 1.4.2.4 सांकेतिक मुद्रा का प्रचलन
 - 1.4.2.5 खुरासान तथा कराचिल विजय हेतु अभियान
 - 1.4.3 मुहम्मद बिन तुगलक़ के शासनकाल में विद्रोह
 - 1.4.4 मुहम्मद बिन तुगलक़ का शासक के रूप में आकलन
- 1.5 फ़िरोज़ शाह तुगलक़
 - 1.5.1 फ़िरोज़ शाह तुगलक़ को विरासत में मिला साम्राज्य
 - 1.5.2 फ़िरोज़ शाह तुगलक़ के सैनिक अभियान
 - 1.5.3 फ़िरोज़ शाह तुगलक़ का राजस्व प्रशासन
 - 1.5.4 महान भवन एवं नगर-निर्माता
 - 1.5.5 फ़िरोज़ शाह तुगलक़ के जन-कल्याणकारी कार्य
 - 1.5.6 फ़िरोज़ शाह तुगलक़ द्वारा दिल्ली सल्तनत को कमज़ोर बनाने वाले कार्य
- 1.6 तैमूर का भारत-आक्रमण
 - 1.6.1 तैमूर के भारत-आक्रमण के कारण तथा उसके उद्देश्य
 - 1.6.2 तैमूर का भारत-आक्रमण
 - 1.6.3 तैमूर के आक्रमण के परिणाम
 - 1.6.3.1 दिल्ली की लूट और क्रल्ल-ए-आम

1.6.3.2 दिल्ली सल्तनत का विघटन

1.6.3.3 हिन्दू शक्तियों का उदय

- 1.7 तुगलक़ राज्यवंश का पतन
- 1.8 सारांश
- 1.9 पारिभाषिक शब्दावली
- 1.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ
- 1.12 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

साम्राज्य-विस्तार की दृष्टि से तुगलक़ साम्राज्य, दिल्ली सल्तनत के इतिहास में सबसे विशाल था और विडम्बना यह है कि इसी तुगलक़ राज्यवंश के एक सुल्तान के काल में दिल्ली सल्तनत – दिल्ली से पालम तक सिमट गयी थी अर्थात् केवल साम्राज्य-विस्तार की दृष्टि से तुगलक़ काल दिल्ली सल्तनत की पराकाष्ठा नहीं थी, अपितु साम्राज्य के सिकुड़ने की दृष्टि से और राजनीतिक-सैनिक ह्रास की दृष्टि से भी यह दिल्ली सल्तनत की पराकाष्ठा थी। दिल्ली सल्तनत के इतिहास में मुहम्मद बिन तुगलक़ से अधिक विद्वान, उदार विचारक और प्रतिभा का धनी कोई और सुल्तान नहीं हुआ किन्तु इस अभूतपूर्व प्रतिभा का सदुपयोग न करके अपनी अव्यावहारिक योजनाओं से उसने दिल्ली सल्तनत की शक्ति का जिस प्रकार ह्रास किया उसे इतिहास में अव्यावहारिकता की पराकाष्ठा कहा जा सकता है। इसी काल में उत्तर-पश्चिम से दिल्ली सल्तनत पूर्णतया असुरक्षित हो गयी थी। इसी राज्यवंश के पतन के तुरंत बाद पंजाब, तैमूर के साम्राज्य का अंग बन गया था जिसके कि आधार पर तैमूर के वंशज, बाबर ने इब्राहीम लोदी से पंजाब को अपने अधिकार में दिए जाने की मांग की थी।

तुगलक़ राज्यवंश साम्राज्य-विस्तार की दृष्टि से तो दिल्ली सल्तनत की पराकाष्ठा का द्योतक था ही किन्तु इसके साथ ही यह राज्यवंश दिल्ली सल्तनत के राजनीतिक पराभव की भी पराकाष्ठा था। यही वह राज्यवंश था जिसमें कि एक ही समय में दो सुल्तान – एक दिल्ली में और दूसरा आठ मील दूर पालम में तख़्त-नशीन थे। यही वह राज्यवंश जिसके समय में सूबेदारों और अमीरों के सबसे अधिक विद्रोह हुए और सबसे अधिक स्वतंत्र राज्यों का उदय हुआ था अर्थात् दिल्ली सल्तनत के इतिहास में तुगलक़ राज्यवंश, साम्राज्य-विघटन की दृष्टि से भी पराकाष्ठा का युग था।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य – दिल्ली सल्तनत के इतिहास में तुगलक़कालीन साम्राज्य-विस्तार की पराकाष्ठा और साथ ही साम्राज्य-विघटन की पराकाष्ठा से आपको अवगत कराना है। इसके साथ ही साथ आपको तुगलक़ राज्यवंश के तीन प्रमुख शासकों की प्रमुख उपलब्धियों तथा उनकी असफलताओं की भी आपको जानकारी उपलब्ध करानी है। इस इकाई में तैमूर के आक्रमण के बाद दिल्ली सल्तनत के विघटन की प्रक्रिया से और फिर तुगलक़ राज्यवंश के पतन के बाद सैयद राज्यवंश के उदय से भी आपको परिचित करना है। इस इकाई का अध्ययन कर आप –

1. खिलजी राज्यवंश के पतन के बाद गाज़ी मलिक द्वारा गियासुद्दीन तुगलक़ के रूप में तुगलक़ राज्यवंश की स्थापना की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

2. एक शासक के रूप में गियासुद्दीन तुगलक की उपलब्धियों से तथा उसकी दुखद मृत्यु के कारणों से अवगत हो सकेंगे.
3. मुहम्मद बिन तुगलक की अव्यावहारिक योजनाओं से दिल्ली सल्तनत को पहुँची हानि का आकलन कर सकेंगे और उसके शासन काल में दिल्ली सल्तनत के विघटन की विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेंगे.
4. एक शासक के रूप में फ़िरोज़ शाह तुगलक की प्रशासनिक उपलब्धियों, उसकी असफल नीतियों तथा उसकी सैनिक दुर्बलता की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे.
5. फ़िरोज़ शाह तुगलक के अयोग्य उत्तराधिकारियों के शासनकाल में स्वतंत्र राज्यों के उदय तथा दिल्ली सल्तनत में फैली राजनीतिक अराजकता के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे.
6. तैमूर के भारत-आक्रमण के विनाशकारी प्रभाव की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे.
7. तुगलक राज्यवंश के पतन और उसके बाद सैयद राज्यवंश के उदय की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे.

1.3 गियासुद्दीन तुगलक

1.3.1 गाज़ी मलिक अर्थात् गियासुद्दीन तुगलक का दिल्ली के सुल्तानों की सेवा में प्रवेश

इब्न बतूता के अनुसार तुगलक, करुना तुर्क थे जो कि तुर्किस्तान तथा सिंध के मध्य पहाड़ी क्षेत्र में रहते थे जब कि फ़रिश्ता के अनुसार तुगलक सुल्तान बलबन का एक गुलाम था जिसकी कि माँ एक भारतीय जाट थी.

गाज़ी मलिक, अर्थात् गियासुद्दीन तुगलक, अपने भाइयों रज्जब और अबू बकर के साथ अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में खुरसंदुर्रिंग से भारत आया था. वह जलालुद्दीन खिलजी के शाही रक्षक के रूप में नियुक्त हुआ था. अलाउद्दीन खिलजी ने गियासुद्दीन तुगलक को 10000 के सैनिक टुकड़ी के साथ चगताई मंगोलों से युद्ध करने के लिए दीपलपुर भेजा था. अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद उत्पन्न राजनीतिक अस्थिरता का लाभ उठाकर गाज़ी मलिक ने मुल्तान, उच तथा सिंध पर अधिकार कर लिया.

1.3.2 गियासुद्दीन तुगलक का सुल्तान के रूप में राज्यारोहण

अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र, सुल्तान कुतबुद्दीन मुबारक शाह को खुसरो खान ने अपदस्थ कर दिया था. गाज़ी मलिक तथा उसके पुत्र फ़ख़्र मलिक ने सिंध तथा मुल्तान से सैनिक अभियान के द्वारा खुसरो खान को अपदस्थ कर दिया. और इस प्रकार 1320 में गाज़ी मलिक, गियासुद्दीन तुगलक के नाम से दिल्ली का सुल्तान बना और उसके पुत्र फ़ख़्र मलिक को मुहम्मद शाह तुगलक का नाम दिया गया.

1.3.3 सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक द्वारा सल्तनत में व्याप्त राजनीतिक अस्थिरता को समाप्त कर शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना तथा साम्राज्य-विस्तार

मंगोलों के आक्रमण से दिल्ली की रक्षा करने के लिए गियासुद्दीन तुगलक ने तुगलकाबाद का निर्माण करवाया. इस दुर्ग जैसे नगर में उसने अपने विश्वस्त अमीरों के निवास की व्यवस्था की. सुल्तान ने मंगोलों के आक्रमणों को विफल किया. 1324 में उसने मंगोलों को पराजित कर उन्हें खदेड़कर राज्य की सीमा से बाहर कर दिया. अलाउद्दीन खिलजी की मृत्यु के बाद के चार वर्ष, राजनीतिक अराजकता और आर्थिक संकट में बीते थे. गियासुद्दीन तुगलक ने अपने साम्राज्य में शांति-व्यस्था स्थापित की और कृषि, उद्योग एवं व्यापार को बढ़ावा देने के लिए राज्य की ओर से प्रोत्साहन दिया. गियासुद्दीन पहला सुल्तान था जिसने किसानों ने कृषि-आपदा की स्थिति में किसानों को लगान में राहत दिए जाने की व्यवस्था की थी. अलाउद्दीन खिलजी के समय की भूमि की पैमाइश के आधार पर लगान

निर्धारण की नीति का परित्याग कर उसने किसानों में लोकप्रिय 'नस्क' अथवा 'बटाई' की प्रणाली को लागू किया। सुल्तान ने भू-राजस्व में वृद्धि के लिए कृषि-योग्य भूमि का विस्तार किया।

आर्थिक संकट दूर करने के लिए दरबार में सादगी और मितव्ययता को प्राथमिकता दी गयी। सुल्तान ने सैनिक अधिकारियों तथा सैनिकों को नकद वेतन के स्थान पर भूमि प्रदान की जिसका राजस्व एकत्र करने का अधिकार उन्हें दिया। गियासुद्दीन तुगलक़ को दक्षिण भारत में दिल्ली सल्तनत के विस्तार का श्रेय जाता है। 1321 में उसने अपने बड़े बेटे उलुग खान (बाद में मुहम्मद बिन तुगलक़) को वारंगल और तेलंगाना के हिन्दू शासकों के दमन के लिए भेजा। उलुग खान को ककातीय राज्यवंश के वारंगल राज्य पर विजय प्राप्त करने में सफलता मिली। 1.3.4 गियासुद्दीन तुगलक़ की अस्वाभाविक मृत्यु

गियासुद्दीन तुगलक़ अपने बेटे जूना खान की शीघ्रान्ति-शीघ्र सुल्तान बनने की महत्वाकांक्षा से चिंतित था। शेख निजामुद्दीन औलिया का वरद हस्त शहजादे के सर पर था। लखनौती (बंगाल) में फ़िरोज़ शाह के दमन के लिए स्वयं सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक़ ने अपने बेटे महमूद खान के साथ प्रस्थान किया। लखनौती में उसे फ़िरोज़ शाह का दमन करने में सफलता मिली, किन्तु वह दिल्ली वापस जीवित नहीं लौट पाया। इब्नबतूता के अनुसार दिल्ली पहुँचने से पहले ही अपने बड़े बेटे उलुग खान (जूना खान और बाद में मुहम्मद बिन तुगलक़) द्वारा रची गयी साज़िश के तहत वह अपने बेटे महमूद खान के साथ मारा गया।

1.3.4 एक शासक के रूप में गियासुद्दीन तुगलक़ का आकलन

गियासुद्दीन तुगलक़ का 5 वर्ष का अल्पकालीन शासन कुल मिलाकर सफल कहा जा सकता है। उसने न केवल पिछले चार वर्ष से व्यस्त राजनीतिक अराजकता को दूर कर शांति-व्यवस्था स्थापित की अपितु राज्य के आर्थिक संकट को भी दूर किया। कृषि योग्य भूमि के विस्तार की तथा आपदा की स्थिति में किसानों को राहत देने की उसकी नीति राज्य तथा किसानों, दोनों के लिए ही हितकारी सिद्ध हुई। उसकी सैनिक उपलब्धियाँ भी महत्वपूर्ण थीं। उसने उत्तर-पश्चिम से हो रहे मंगोलों के आक्रमणों को विफल किया और बंगाल तथा वारंगल को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया। गियासुद्दीन तुगलक़ का बनवाया हुआ अपना मक़बरा स्थापत्य-कला की दृष्टि से एक उत्कृष्ट रचना है। इब्नबतूता और अमीर खुसरो की दृष्टि में वह एक सफल सुल्तान था।

1.4 सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक़

1.4.1 मुहम्मद बिन तुगलक़ के राज्यारोहण के समय दिल्ली सल्तनत की स्थिति और उसकी उसकी व्यक्तिगत योग्यता

1325 में अपने पिता सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक़ की संदेहास्पद स्थिति में मृत्यु के उपरांत उलुग खान उर्फ़ जूना खान अर्थात् मुहम्मद बिन तुगलक़ दिल्ली का सुल्तान बना। दिल्ली सल्तनत के इतिहास में मुहम्मद बिन तुगलक़ सबसे विद्वान सुल्तान था। किन्तु अपनी अव्यावहारिक योजनाओं, अपने अनियंत्रित क्रोध के कारण अनावश्यक रक्तपात करने की प्रवृत्ति, अपनी ज़िद्दी प्रकृति तथा अपनी प्रजा के कष्टों के प्रति पूर्ण उदासीनता के कारण उसे दिवा-स्वप्नदर्शी, रक्त-पिपासु, सनकी, पागल अथवा बुद्धिमान मूर्ख कहा जाता है। इस्लाम की धार्मिक-सामाजिक मान्यताओं की अवज्ञा करने के कारण उसे ज़ियाउद्दीन बर्नी, यहिया बिन अहमद सरहिंदी, निजामुद्दीन अहमद, बदायुनी और फ़रिश्ता जैसे इतिहासकारों ने उसे धर्म-विमुख कहा है। विदेशी यात्री इब्न बतूता ने उसकी रक्त-पिपासु प्रवृत्ति का उल्लेख किया है।

मुहम्मद बिन तुगलक के सिंहासनारूढ़ होते समय दिल्ली सल्तनत का सर्वाधिक विस्तार हो चुका था. दिल्ली सल्तनत में तब कुल 23 प्रान्त थे. दिल्ली, लाहौर, मुल्तान, सर्मूली, गुजरात, मालवा, अवध, कन्नौज, बिहार, जाज नगर (उड़ीसा), लखनौती (बंगाल), देवगिरि, द्वार समुद्र के अतिरिक्त कश्मीर तथा बलूचिस्तान भी तब दिल्ली सल्तनत का अंग थे.

मुहम्मद बिन तुगलक अलाउद्दीन खिलजी की भाँति ही राजनीति में धर्म की मिलावट किए जाने के विरुद्ध था. अलाउद्दीन खिलजी की ही तरह उसने सिंहासनारूढ़ होते समय खलीफ़ा का अनुमोदन प्राप्त करने का कोई प्रयास नहीं किया और न ही शासन में उलेमाओं को किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने की अनुमति प्रदान की. उसने धर्म-निरपेक्ष न्याय-व्यवस्था की स्थापना हेतु अनिवार्य रूप से केवल उलेमाओं की न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति की परंपरा का भी निर्वाह नहीं किया. सुल्तान ने प्रशासकीय पदों पर योग्यता के आधार पर नियुक्ति की स्वस्थ परम्परा की नींव डाली. अब नस्ल, वर्ग, जाति अथवा धर्म विशेष के व्यक्तियों का उच्च पदों पर नियुक्ति का एकाधिकार नहीं रहा. इस प्रकार के स्वस्थ एवं प्रगतिशील फैसले लेकर मुहम्मद बिन तुगलक, भारत जैसे विभिन्न धर्म, जाति और संस्कृतियों के देश में सभी वर्गों का विश्वास और सहयोग प्राप्त करके अपने शासन को लोकप्रिय तथा सुदृढ़ बना सकता था किन्तु उसकी असफल योजनाओं ने ऐसी किसी भी सम्भावना को समाप्त कर दिया.

1.4.2 मुहम्मद बिन तुगलक की अव्यावहारिक योजनाएं

1.4.2.1 दोआब में कर-वृद्धि

मुहम्मद बिन तुगलक की पहली अव्यावहारिक योजना - दोआब क्षेत्र में लगभग 50% कर-वृद्धि थी. संयोग की बात यह थी कि कर-वृद्धि के निर्णय के तुरंत बाद दोआब में भयंकर अकाल पड़ गया किन्तु सुल्तान ने अथवा उसके राजस्व अधिकारियों ने बढ़े हुए कर को वसूलने में किसानों किसी प्रकार की कोई छूट नहीं दी. इस संकट के समय जबरन बढ़े हुए कर की वसूली के विरुद्ध किसानों ने विद्रोह कर दिया. भयंकर रक्तपात के बाद इस विद्रोह का दमन तो कर दिया गया किन्तु सुल्तान को अपने इस निर्णय से कोई आर्थिक लाभ होना तो दूर, पुरानी व्यवस्था के अंतर्गत मिलने वाला राजस्व भी प्राप्त नहीं हो सका और प्रजा के मध्य वह एक अत्याचारी शासक के रूप में कुख्यात भी हो गया.

1.4.2.2 कृषि-सुधार की योजना

मुहम्मद बिन तुगलक ने 'दीवान-ए-कोही' विभाग का गठन कर कृषि-सुधार की महत्वाकांक्षी योजना बनाई थी किन्तु यह भी भू-राजस्व अधिकारियों तथा किसानों की उदासीनता के कारण निष्फल हो गयी.

1.4.2.3 राजधानी-परिवर्तन

मुहम्मद बिन तुगलक ने साम्राज्य के लगभग मध्य में स्थित दौलताबाद को दिल्ली की जगह राजधानी बनाने का निर्णय इसलिए लिया था कि वह अपने पूरे साम्राज्य पर सुचारू रूप से नियंत्रण स्थापित कर सके और इसके अलावा नव-विजित दक्षिण पर अपनी पकड़ मज़बूत बना सके. इसके अतिरिक्त दौलताबाद में रहकर उसके लिए दक्षिण भारत की अथाह संपत्ति का दोहन भी आसान हो सकता था. पश्चिमोत्तर प्रदेश से दिल्ली पर निरंतर हो रहे आक्रमणों से भी नई राजधानी सुरक्षित रह सकती थी.

सुल्तान ने राजधानी-परिवर्तन के लाभ पर तो विचार किया किन्तु उस से होने वाले नुकसान का उसने कोई आकलन नहीं किया और इस बात की भी चिंता नहीं की कि उसके इस निर्णय से राज्य पर कितना आर्थिक बोझ आएगा और जनसंख्या-विस्थापन से दिल्लीवासियों को कितना कष्ट होगा. इस मूर्खतापूर्ण निर्णय का परिणाम

विनाशकारी सिद्ध हुआ. अथाह आर्थिक हानि और हज़ारों लोगों की रास्ते में ही जान जाने के बाद 1335 में ही सुल्तान को अपना निर्णय वापस लेना पड़ा. इस अव्यावहारिक निर्णय का कुपरिणाम यह हुआ कि सुल्तान की दक्षिण भारत पर पकड़ पहले से कमज़ोर हो गयी. 1336 में विजयनगर राज्य की स्थापना और 1347 में बहमनी राज्य की स्थापना इसका प्रमाण हैं.

1.4.2.4 सांकेतिक मुद्रा का प्रचलन

सांकेतिक मुद्रा का प्रथम चलन चीन में हुआ था जिसमें कि कागज़ की सांकेतिक मुद्रा का प्रचलन किया गया था. मुहम्मद बिन तुगलक़ ने राजकोष में चांदी की कमी के कारण चांदी के टंके के मूल्य के बराबर के ताम्बे के सिक्कों को सांकेतिक मुद्रा के रूप में प्रचलित करने का मौलिक किन्तु नितांत अव्यावहारिक प्रयोग किया था. इस सांकेतिक मुद्रा के ढालने में ऐसी कोई सावधानी नहीं बरती गयी जिस से कि घर-घर जाली सांकेतिक मुद्रा न ढाली जा सके. इस प्रयोग के असफल होने के बाद भी सुल्तान ने अपना निर्णय वापस ले लिया किन्तु जाली सांकेतिक मुद्रा के बदले में असली चांदी का भुगतान करते-करते राजकोष लगभग पूरी तरह से खाली हो गया.

1.4.2.5 खुरासान तथा कराचिल विजय हेतु अभियान

मंगोल तर्माशरीन की मृत्यु के बाद औक्सश पर्वत के पार के क्षेत्र की अराजक स्थिति का लाभ उठाकर मुहम्मद तुगलक़ खुरासान और कराचिल को जीतना चाहता था. किन्तु उसका यह अभियान नितांत अव्यावहारिक था. पहाड़ के दुर्गम क्षेत्रों से पूर्णतया अपरिचित और पहाड़ में युद्ध करने की पूर्णतया अनभ्यस्त सेना किस प्रकार पहाड़ी राज्यों को जीत सकती थी, इस पर सुल्तान ने कोई विचार ही नहीं किया. खुसरो मालिक के नेतृत्व में 350000 की सेना रास्ता भटकते हुए, मुश्किलों से जूझते हुए असफल होकर जब वापस लौटी तो उस विशाल सेना में से केवल मुड़ी भर सैनिक जिन्दा बचे थे.

1.4.3 मुहम्मद बिन तुगलक़ के शासनकाल में विद्रोह

मुहम्मद बिन तुगलक़ के शासनकाल में अनेक असफल और सफल विद्रोह हुए. इनमें से कुछ तो महत्वाकांक्षी अमीरों द्वारा किए गए थे, कुछ उसकी दमनकारी नीतियों के विरोध में हुए थे और कुछ राज्य पर उसके नियंत्रण के शिथिल हो जाने के कारण हुए थे. इन में से कुछ विद्रोह अपने उद्देश्य में सफल हुए थे जिसका परिणाम दिल्ली सल्तनत से अलग होकर किंचित स्वतंत्र राज्यों का गठन था. इन स्वतंत्र राज्यों के गठन ने ही तुगलक़ साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया को गतिशील बना दिया था. 1326 में कर्नाटक प्रान्त के सागर नमक क्षेत्र में बहाउद्दीन गुरशप के विद्रोह को मुहम्मद बिन तुगलक़ ने सफलतापूर्वक कुचल दिया. यही परिणाम उच, सिंध तथा मुल्तान के सूबेदार बहराम ऐबा के विद्रोह का हुआ. किन्तु लखनौती (बंगाल) के विद्रोह को कुचलने में मुहम्मद बिन तुगलक़ सफल नहीं हुआ. 1327-28 में लखनौती में पहले वहां के संयुक्त सूबेदार गियासुद्दीन बहादुर ने विद्रोह किया जिसे दूसरे संयुक्त सूबेदार बहराम खान ने कुचल दिया किन्तु अली मुबारक ने 1340-41 में लखनौती में अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की.

मालाबार के सूबेदार सैयद एहसान शाह ने 1334-35 में खुद को स्वतंत्र घोषित कर दिया. मुहम्मद तुगलक़ विद्रोह को कुचलने लिए आगे बढ़ा पर उसे लाहौर में विद्रोह के समाचार के कारण वापस लौटना पड़ा और मालाबार एक स्वतंत्र राज्य बन गया. इसी समय तेलंगाना और कांची में स्वतंत्र हिन्दू राज्यों के स्थापना हुईं. 1336 में हरिहर तथा बुक्का ने महान विजयनगर साम्राज्य की नीव रखी. गुजरात में विदेशी मूल के अमीरों के विद्रोह ने मालवा, बरार तथा दौलताबाद में भी विद्रोहों को भड़का दिया. मुहम्मद बिन तुगलक़ अधिकांश विद्रोहों को कुचलने में सफल रहा किन्तु

उसके शासनकाल का उत्तरार्ध ऐसे विद्रोहों की घटनाओं से भरा पड़ा था। सुनाम, समाना, कड़ा, बीदर, गुलबर्गा और मुल्तान में भी विद्रोह हुए जिनको सुल्तान ने कुचल तो दिया किन्तु इस से यह स्पष्ट था कि अब सुल्तान का अपने राज्य पर नियंत्रण नाम मात्र का रह गया है।

मुहम्मद बिन तुगलक के शासन काल के अधिकांश विद्रोह दक्षिण भारत में हुए। 1347 में मुहम्मद बिन तुगलक के अमीरों (अमीरन-ए-सादाह) ने दकन में विद्रोह कर दिया और दौलताबाद के किले पर अधिकार कर इस्माइल अफगान को 'नासिरुद्दीन शाह' को दकन का सुल्तान घोषित कर दिया किन्तु बूढ़ा और अयोग्य नासिरुद्दीन शाह अधिक दिनों तक सुल्तान नहीं रहा और उसका स्थान 'ज़फ़र खान' उपाधि धारी हसन गंगू ने ले लिया। हसन गंगू 'अलाउद्दीन हसन बहमन शाह' के नाम से अगस्त, 1347 को बहमनी साम्राज्य की स्थापना की। 1350 में गुजरात में तार्गी ने विद्रोह कर दिया। सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक इस विद्रोह को कुचलने के लिए अपनी सेना के साथ निकला तो अवश्य किन्तु विद्रोह को कुचलने से पहले ही उसकी मृत्यु हो गयी।

1.4.4 मुहम्मद बिन तुगलक का शासक के रूप में आकलन

इतिहासकार बर्नी मुहम्मद बिन तुगलक की मृत्यु पर कहता है –

'सुल्तान को अपनी प्रजा से और प्रजा को अपने सुल्तान से मुक्ति मिल गयी.'

एक शासक के रूप में मुहम्मद बिन तुगलक का आकलन करते समय किसी भी इतिहासकार ने उसे सफल नहीं बताया है। इसामी उसे इस्लाम का शत्रु बताता है तो विदेशी यात्री इब्न बतूता उसे रक्त-पिपासु कहता है। उसकी हर असफल योजना ने उसको पागल और सनकी समझने वालों की संख्या में वृद्धि की। उसकी बुद्धिमत्ता, उसकी मौलिकता, दोनों ही, उसकी अव्यावहारिकता के बोझ तले दबकर रह गईं। सुल्तान को बार-बार अपने अव्यावहारिक निर्णय बदलने पड़ते थे। उसने अपने शासनकाल के प्रारंभ में अपनी सत्ता की प्रतिष्ठा के लिए खलीफ़ा की मान्यता को कोई महत्ता नहीं दी थी। उसने कठमुल्लों को राज्य के मामलों में हस्तक्षेप करने से रोका था और नियुक्तियों में धर्म को आधार बनाने के स्थान पर योग्यता के आधार पर क्या मुसलमान और क्या हिन्दू, सबको नियुक्त किया था किन्तु बाद में उलेमाओं का समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से उसने अपनी छवि एक निष्ठावान मुस्लिम शासक की बनाने की कोशिश की थी और उसने खुद को सुल्तान के रूप में खलीफ़ा की मान्यता प्राप्त करने के लिए उसके प्रतिनिधि का भव्य स्वागत भी किया था। जल्दबाजी में लागू की गयी अपनी प्रत्येक योजना के असफल होने पर उसे वापस लेना और फिर अपनी खीज निरीह प्रजा पर उतारने की उसकी प्रवृत्ति ने भी उसकी छवि बिगाड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

सुल्तान को दिल्ली सल्तनत के इतिहास का सबसे बड़ा साम्राज्य उत्तराधिकार में मिला था और राज्यारोहण के समय उसके साम्राज्य में शांति भी स्थापित थी और शाही खज़ाना भी खाली नहीं था किन्तु उसने अपने उत्तराधिकारी फ़िरोज़ तुगलक के लिए अपेक्षाकृत सिमटा हुआ, विद्रोहों से भरा हुआ और खाली खज़ाने वाला साम्राज्य छोड़ा था। मिली हुई विरासत और छोड़ी हुई विरासत के मापदंड के आधार पर मुहम्मद बिन तुगलक नितांत असफल शासक सिद्ध होता है।

1.5 फ़िरोज़ शाह तुगलक

1.5. 1 फ़िरोज़ शाह तुगलक को विरासत में मिला साम्राज्य

फ़िरोज़ शाह तुगलक को राजनीतिक दृष्टि से अस्थिर, अमीरों और प्रजा के मध्य एक समान अप्रिय, आर्थिक दृष्टि से खोखला और चारों ओर से दुश्मनों से घिरा हुआ साम्राज्य मिला था। किन्तु उसे इस बात का श्रेय दिया जा

सकता है कि अपने 37 वर्ष के लम्बे शासन काल में अपने साम्राज्य की डूबती कश्ती को यथासंभव डूबने अथवा डगमगाने नहीं दिया. फ़िरोज़ शाह तुगलक़ ने अपने अमीरों की निष्ठा प्राप्त की और अपनी प्रजा की दृष्टि में उसकी छवि एक प्रजा-पालक सुल्तान के रूप में स्थापित हुई. उसके शासन काल में राज्य की आर्थिक स्थिति सुधरी.

1.5.2 फ़िरोज़ शाह तुगलक़ के सैनिक अभियान

फ़िरोज़ तुगलक़ सैनिक प्रतिभा से सर्वथा हीन सुल्तान था. उसने मुहम्मद बिन तुगलक़ के काल में दिल्ली सल्तनत से स्वतंत्र हुए राज्यों को फिर से जीतने का प्रयास किया. बंगाल में स्वतंत्र शासक बन-बैठे शमसुद्दीन इलियास शाह के विरुद्ध उसने 1353 में अभियान किया किन्तु 2 वर्ष के अथक प्रयास के बाद भी वह बंगाल को जीतने में सफल नहीं हुआ और असफल होकर वापस लौट आया. शमसुद्दीन इलियास शाह की मृत्यु के बाद उसके पुत्र सिकंदर शाह के सिंहासनारूढ़ होने पर उसने एक बार फिर बंगाल को जीतने का प्रयास किया पर इस बार भी वह असफल होकर दिल्ली लौट आया. फ़िरोज़ शाह तुगलक़ को 1360 में जाजनगर (उड़ीसा) पर आक्रमण कर भानुदेव तृतीय को पराजित करने में सफलता मिली. उसने अपनी धर्मान्धता का परिचय देते हुए जगन्नाथ पूरी के मंदिर को लूटा और उसे ध्वस्त किया.

1361 में नगरकोट पर आक्रमण करते के बाद उसकी सेना 6 महीनों तक रन के रेगिस्तान में फँसी रही किन्तु अंततः नगरकोट के जाम्बूनियों ने कर देने की शर्त मानते हुए सुल्तान की आधीनता स्वीकार कर ली. फ़िरोज़ शाह तुगलक़ ने अपने शासनकाल के आगामी वर्षों में साम्राज्य-विस्तार के लिए या अपने पूर्ववर्ती शासक के काल में खोए हुए क्षेत्रों को जीतने का कोई प्रयास नहीं किया.

1.5.3 फ़िरोज़ शाह तुगलक़ का राजस्व प्रशासन

फ़िरोज़ शाह तुगलक़ ने अपने पूर्ववर्ती शासक मुहम्मद बिन तुगलक़ की प्रजा-विरोधी राजस्व-नीति में आमूल परिवर्तन कर दिया. उसने नए सिंचाई कर को छोड़कर मुहम्मद बिन तुगलक़ के काल में लिए जाने वाले 24 करों को समाप्त कर दिया और केवल चार शास्त्र-सम्मत कर – ‘खिराज’, ‘जज़िया’, ‘खम्स’, ‘ज़कात’ पर अपना राजस्व आधारित किया.

फ़िरोज़ शाह तुगलक़ ने किसानों को सिंचाई की सुविधा देने के लिए राज्य की ओर से नहरों के निर्माण में अत्यधिक धन का निवेश किया था. उसने यमुना, घग्घर और सतलज पर 5 बड़ी नहरों का निर्माण कर साम्राज्य के एक बड़े कृषि-भूमि क्षेत्र को सिंचाई की सुविधाओं से समृद्ध किया था और उलेमाओं की सहमति से उसने ‘हक़-ए-शर्ब’ (सिंचाई कर) के रूप में किसानों से कुल उपज का 10% भाग प्राप्त क्या था. उसके शासनकाल में खिराज (भूमि-कर) की दर कुल उपज के 1/3 भाग से लेकर 1/5 भाग थी. किसानों को राहत देने के लिए उसने मुहम्मद बिन तुगलक़ के काल में उनको दिया गया ऋण – ‘सोंधर’ माफ़ कर दिया था. राज्य की आय बढ़ाने के लिए उसने 1200 फलों के बाग लगवाए थे. फ़िरोज़ शाह तुगलक़ यह मानता था कि निर्बाध-व्यापार राज्य की आय बढ़ाता है. उसने आंतरिक व्यापार के मार्ग की अनेक बाधाओं को दूर किया और उसकी प्रगति में बाधक अनेक करों को हटा दिया.

1.5.4 महान भवन एवं नगर-निर्माता

फ़िरोज़ शाह तुगलक़ महान निर्माता था. सार्वजनिक निर्माण-कार्य तथा नगर-निर्माण में उसकी गहन अभिरुचि थी. उसने अपने नाम पर - हिसार फ़िरोज़ा, फ़िरोज़ शाह कोटला (दिल्ली में), फ़िरोज़पुर तथा फ़िरोज़ाबाद की स्थापना की और पूर्व-सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक़ के वास्तविक नाम ‘जूना खान’ पर ‘जौनपुर’ की स्थापना की. उसने

खिज्राबाद तथा मेरठ से दो अशोक स्तम्भ उखाड़कर उन्हें दिल्ली में स्थापित किया. उसने 'दार-उल-शाफ़ा' (चिकित्सालय) का निर्माण करवाया.

1.5.5 फ़िरोज़ शाह तुगलक़ के जन-कल्याणकारी कार्य

फ़िरोज़ शाह तुगलक़ द्वारा बनवाए गए 'दार-उल-शाफ़ा' में गरीबों का निःशुल्क इलाज होता था. मुस्लिम अनाथ बच्चों, विधवाओं और बेसहारा स्त्रियों को आश्रय देने के लिए उसने 'दीवान-ए-खैरात' की स्थापना की. किन्तु उसके जन-कल्याणकारी कार्य केवल मुस्लिम समाज तक ही सीमित थे. फ़िरोज़ शाह तुगलक़ ने शिक्षा के विकास के लिए अनेक मदरसों का निर्माण करवाया. इतिहासकार ज़ियाउद्दीन बर्नी ने उसके संरक्षण में – 'तारीख-ए-फ़िरोज़ शाही' तथा 'फ़तवा-ए-जहांदारी' की रचना की. शम्स-ए-सिराज अफ़ीफ़ ने भी – 'तारीख-ए-फ़िरोज़शाही' शीर्षक, इतिहास-ग्रन्थ लिखा. फ़िरोज़ शाह तुगलक़ ने आयुर्वेद के अनेक संस्कृत ग्रंथों का फ़ारसी भाषा में अनुवाद करवाया जिनको कि 'दलायत-ए-फ़िरोज़शाही' के नाम से प्रकाशित किया गया. उसकी आत्मकथा – 'फ़ुतुहात-ए-फ़िरोज़शाही' भी उसके काल की एक प्रमुख रचना है.

1.5.6 फ़िरोज़ शाह तुगलक़ द्वारा दिल्ली सल्तनत को कमज़ोर बनाने वाले कार्य

फ़िरोज़ शाह तुगलक़ ने दास प्रथा को बहुत बढ़ावा दिया. उसके दासों की संख्या 180,000 थी. उसने गुलामों की देखभाल के लिए 'दीवान-ए-बन्दगान' की स्थापना की. दीवानों की बढ़ती संख्या शाही खज़ाने पर एक बोझ थी और साम्राज्य में दासों के बढ़ते हुए प्रभाव से पुराना अमीर वर्ग बहुत नाराज़ था. अपने कर्मचारियों के प्रति अनावश्यक उदारता के कारण फ़िरोज़ शाह तुगलक़ ने उनमें शासक के प्रति 'भय और श्रद्धा' की भावना स्थापित करने की सर्वथा उपेक्षा की. उसने प्रशासन में घूसखोरी को अनदेखा किया और प्रशासन व सेना में योग्यता के आधार पर नियुक्ति तथा पदोन्नति के स्थान पर उसने पुश्तैनी पदों की परंपरा को बढ़ावा दिया. जागीरदारी व्यवस्था को पुनर्प्रचलित करना भी उसकी बहुत बड़ी भूल थी. फ़िरोज़ शाह की सैनिक दुर्बलता ने तुगलक़ राज्यवंश के पतन का मार्ग प्रशस्त किया. फ़िरोज़ शाह तुगलक़ एक धर्मांध कट्टर मुस्लिम शासक था. वह पहला सुल्तान था जिसने कि ब्राह्मणों पर भी 'जज़िया' लगाया था. उसमें गैर-मुसलमानों को अपने धर्म-पालन की पूर्ण स्वतंत्रता नहीं दी थी और उनमें से बहुतों को लालच देकर अथवा तलवार का भय दिखाकर इस्लाम में दीक्षित होने के या तो प्रेरित किया था या बाध्य किया था. उसने अनेक मंदिरों को ध्वस्त किया था जिसमें कि पुरी का जगन्नाथ मंदिर प्रमुख था. फ़िरोज़ शाह तुगलक़ के जन-कल्याणकारी कार्य केवल मुस्लिम समाज तक सीमित थे. फ़िरोज़ शाह तुगलक़ ने अपने 37 वर्ष के लम्बे शासन में अपने उत्तराधिकारियों को समुचित प्रशासनिक तथा सैनिक प्रशिक्षण नहीं दिलाया. एक प्रकार से यह निश्चित हो गया था कि बूढ़े सुल्तान की मृत्यु होते ही तुगलक़ साम्राज्य में अराजकता व्याप्त हो जाएगी. फ़िरोज़ शाह तुगलक़ की मृत्यु के 10 साल बाद ही दिल्ली सल्तनत के इतिहास की सबसे बड़ी त्रासदी - तैमूर का आक्रमण, घटित हो गयी.

1.6 तैमूर का भारत-आक्रमण

1.6.1 तैमूर के भारत-आक्रमण के कारण तथा उसके उद्देश्य

एशिया का अपने समय का सबसे बड़ा विजेता तैमूर समरकंद तथा बुखारा का शासक था. वह मेसोपोटामिया, फ़ारस और अफ़ग़ानिस्तान पर अधिकार करने के बाद भारत की राजनीतिक अराजकता का लाभ उठकर वहां की अथाह संपत्ति को लूटने की महत्वाकांक्षा भी रखता था. उसका भारत पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने का कोई इरादा नहीं था. तैमूर के साथी, भारत में पड़ने वाली भीषण गर्मी से बहुत आतंकित थे. इसलिए

उन्हें तैमूर के भारत अभियान में सम्मिलित होने में संकोच था. तैमूर ने उन्हें आश्वस्त किया कि उसका भारत में स्थाई तौर पर रहने का कोई इरादा नहीं है और वह वहां लूटपाट करके गर्मी के मौसम से पहले ही लौट आएगा.

तैमूर ने अपनी आत्मकथा में भारत पर आक्रमण करने का अपना उद्देश्य - भारत में मुस्लिम समाज तथा इस्लाम में आई हुई विकृतियों को दूर कर उसके शुद्ध स्वरूप को पुनर्स्थापित करना तथा विधर्मियों को पराजित कर, वहां उनके पूजा-स्थलों को ध्वस्त कर और विधर्मियों को मुसलमान बनाकर, इस्लाम की पताका फहराना बताया है. वह अपने द्वारा जीते हुए क्षेत्र में विधर्मियों का दमन कर 'गाजी' की उपाधि धारण करना चाहता था. तैमूर, अपने प्रेरणा-श्रोत चंगेज़ खान के भारत-आक्रमण के अधूरे सपने को साकार करना चाहता था. किन्तु वास्तव में उसका मुख्य उद्देश्य - कम से कम समय में भारत का अधिक से अधिक धन लूटकर अपने साथ ले जाना था.

1.6.2 तैमूर का भारत-आक्रमण

अगस्त, 1398 को तैमूर ने काबुल से अपना भारत-अभियान आरंभ किया. तैमूर के पोते पीर मुहम्मद ने उच्च तथा मुल्तान को जीतकर अपने पितामह के दिल्ली अभियान का मार्ग सुगम कर दिया और फिर वह उसके अभियान में सम्मिलित हो गया. पानीपत तक पहुँचने के रास्ते में तैमूर ने पाटन, दीपलपुर, भटनेर, सिरसा, कैथल आदि क्षेत्रों को लूटा और वहां भयंकर रक्तपात तथा आगजनी की.

17 दिसंबर, 1398 को पानीपत के निकट तुगलक सुल्तान नसीरुद्दीन महमूद अपनी सेना के साथ उसका सामना करने के लिए खड़ा हो गया. सुल्तान को अपनी विशाल हस्ति-सेना की विनाशकारी शक्ति पर बहुत भरोसा था किन्तु तैमूर ने अपने ऊंटों की पीठ पर लकड़ियों का ढेर बाँध कर और फिर उनमें आग लगाकर उन्हें हाथियों के सामने दौड़ा दिया. दौड़ती आग से भयभीत हाथी पलट कर अपनी सेना को ही रौंदते हुए भाग खड़े हुए. कुछ ही समय में तैमूर की सेना की तुगलक सेना के विरुद्ध निर्णायक विजय हुई और सुल्तान नसीरुद्दीन महमूद तथा उसके वज़ीर ने रणभूमि से भागकर अपने प्राण बचाए.

1.6.3 तैमूर के आक्रमण के परिणाम

1.6.3.1 दिल्ली की लूट और क्रत्ल-ए-आम

तैमूर ने दिल्ली में प्रवेश किया किन्तु स्थानीय जनता ने तीन दिन तक उसका प्रतिरोध किया अंततः वह जन-विरोध को कुचलने में सफल रहा और प्रतिशोध स्वरूप उसने दिल्ली को न केवल लूटा अपितु क्रत्ल-ए-आम का हुकम भी दे दिया. दिल्ली के तीन नगर - सीरी, पुरानी दिल्ली और जहाँ-पनाह को उसने खंडहरों के ढेरों में परिवर्तित कर दिया. 15 दिन तक क्रत्ल-ए-आम और लूट के बाद उसने लूटे हुए हीरों, लाल, मोती, सोने और चांदी के अम्बारों को सैकड़ों ऊंटों, छकड़ों आदि पर लादकर अपने मुल्क की ओर प्रस्थान किया. भारत के इतिहास की यह सबसे बड़ी लूट थी.

दिल्ली से लौटते में तैमूर ने मेरठ, फ़िरोज़ाबाद, हरद्वार, कांगड़ा और जम्मू में भी विनाश-लीला की. तैमूर ने रास्ते में पड़ने वाले खेतों में लगी फसलों को ही नहीं, अपितु अनाज से भरे गोदामों को भी नष्ट किया. भयंकर रक्तपात से जगह-जगह महामारी फैल गयी. नदियों का पानी तक प्रदूषित हो गया. तैमूर अपने साथ लाखों स्त्री-पुरुषों को गुलाम बनाकर ले गया. दिल्ली से वह अपने साथ अनेक कारीगरों को भी साथ ले गया जिन्होंने कि समरकंद के सौन्दर्यीकरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया. तैमूर के आक्रमण से दिल्ली सल्तनत की ही नहीं, अपितु समस्त भारत की सैनिक दुर्बलता दुनिया के सामने आ गयी. तैमूर ने अपने नरसंहार में आम तौर पर गैर-मुस्लिमों पर अधिक अत्याचार किए और उनके पूजा-स्थलों को ध्वस्त किया. इसके कारण हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य और अधिक बढ़ गया. आक्रमणकारियों की कुदृष्टि

सबसे अधिक कुमारी बालिकाओं पर पड़ती थी इसलिए अब हिन्दू समाज में बाल-विवाह का प्रचलन अधिक हो गया.

1.6.3.2 दिल्ली सल्तनत का विघटन

तैमूर के आक्रमण ने पहले से लड़खड़ाती दिल्ली सल्तनत पर एक और ज़बरदस्त प्रहार किया. नाम का तुगलक सुल्तान का अब दिल्ली के आसपास के क्षेत्र पर भी अधिकार नहीं रह गया. एक समय तो ऐसा भी आया कि दिल्ली से आठ मील दूर पालम में एक और प्रतिद्वंदी सुल्तान उठ खड़ा हुआ. इस समय एक व्यंग्योक्ति प्रसिद्ध हुई – ‘शहंशाह-ए-आलम की सल्तनत केवल दिल्ली से पालम तक की है.’ दिल्ली सल्तनत से टूटकर अनेक स्वतंत्र प्रांतीय राज्यों का उदय हुआ. तैमूर जाते-जाते खिज़्र खान सैयद को मुल्तान, लाहौर और दीपलपुर का सूबेदार बना गया. इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से पंजाब दिल्ली सल्तनत का हिस्सा नहीं बल्कि अब तैमूर के साम्राज्य का हिस्सा हो गया. बाद में तैमूर के वंशज बाबर ने इसी आधार पर इब्राहीम लोदी से पंजाब को उसके साम्राज्य को सौंपे जाने की मांग की थी.

दिल्ली सल्तनत की दुर्बलता का लाभ उठाकर अनेक सूबेदारों ने अपने-अपने सूबों में अपनी-अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी. जौनपुर के सूबेदार मलिक सरवर ने शर्की राज्यवंश की स्थापना की. गुजरात के सूबेदार जफ़र शाह ने भी अपने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी. मालवा के सूबेदार दिलावर खान गौर ने भी एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की. फ़िरोज़ शाह तुगलक की मृत्यु के बाद खानदेश के सूबेदार मलिक फ़ारूकी ने व्यावहारिक दृष्टि से स्वयं को एक स्वतंत्र शासक के रूप में स्थापित किया था जिसे कि उसके पुत्र मलिक नसीर ने 1399 में पूर्ण स्वतंत्र राज्य घोषित कर दिया था.

1.6.3.3 हिन्दू शक्तियों का उदय

तैमूर के आक्रमण के बाद राजस्थान में मेवाड़ राज्यवंश उत्तर भारत की सबसे प्रमुख शक्ति के रूप में उभर कर सामने आया था. राणा कुम्भा से लेकर राणा सांगा तक मेवाड़ का दबदबा पूरे उत्तर भारत में ही नहीं अपितु मालवा, गुजरात तक व्याप्त हो गया था. तैमूर के आक्रमण के बाद जोधा के नेतृत्व में मारवाड़ भी उत्तर भारत की एक प्रमुख शक्ति के रूप में उभरा था और मारवाड़ राज्य, 16 वीं शताब्दी के प्रतापी शासक मालदेव के काल तक राजपूत शक्ति के पुनरुत्थान का एक प्रमुख केंद्र बना रहा. तैमूर के आक्रमण के बाद ग्वालियर के तोमरों ने भी दिल्ली सल्तनत से खुद को स्वतंत्र करा लिया था.

1.7 तुगलक़ राज्यवंश का पतन

तुगलक़ साम्राज्य का विघटन होना तो 1335 में ही प्रारंभ हो गया था किन्तु इसका पूर्ण पतन 77 साल बाद अर्थात् 1414 में हुआ. तुगलक़ राज्यवंश के पतन के लिए मुख्यतः मुहम्मद बिन तुगलक़ की अव्यावहारिक योजनाएं, राजनीतिक अस्थिरता का लाभ उठाकर महत्वकांक्षी अमीरों के सफल विद्रोह, प्रांतीय शक्तियों का उदय, हिन्दू-प्रतिरोध, फ़िरोज़ शाह तुगलक़ की सैनिक दुर्बलता, उसकी धर्मान्धता, उसके द्वारा जागीरदारी व्यवस्था को पुनर्जीवित करना, सैनिक तथा प्रशासनिक पदों को पुश्तैनी बनाना, घूसखोरी को अनदेखा करना, फ़िरोज़ शाह तुगलक़ के उत्तराधिकारियों का योग्य होना, तैमूर के आक्रमण से साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया का तीव्र होना और अंततः खिज़्र खान सैयद द्वारा 1414 में दिल्ली पर अधिकार कर सैयद राज्यवंश की स्थापना उत्तरदायी हैं.

1.8 सारांश

साम्राज्य-विस्तार की दृष्टि से तुगलक साम्राज्य, दिल्ली सल्तनत के इतिहास में सबसे विशाल था किन्तु साम्राज्य के सिकुड़ने की दृष्टि से और राजनीतिक-सैनिक ह्रास की दृष्टि से भी यह दिल्ली सल्तनत की पराकाष्ठा थी। इसी काल में उत्तर-पश्चिम से दिल्ली सल्तनत पूर्णतया असुरक्षित हो गयी थी। इसी राज्यवंश में तैमूर का भारत-आक्रमण हुआ जिसमें कि उत्तर भारत में अभूतपूर्व लूट मची और नर-संहार हुआ। इसके पश्चात् पंजाब, तैमूर के साम्राज्य का अंग बन गया था जिसके कि आधार पर तैमूर के वंशज, बाबर ने इब्राहीम लोदी से पंजाब को अपने अधिकार में दिए जाने की मांग की थी। खिलजी साम्राज्य के मुल्तान, उच तथा सिंध पर अधिकार कर चुके गाज़ी मलिक ने दिल्ली की राजनीतिक अस्थिरता का लाभ उठाकर, वहां 1320 में, खिलजी राज्यवंश के पतन के बाद गियासुद्दीन तुगलक के रूप में तुगलक राज्यवंश की स्थापना की।

सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक ने दिल्ली सल्तनत में व्याप्त राजनीतिक अस्थिरता को समाप्त कर शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना की। उसने कृषि, उद्योग एवं व्यापार को बढ़ावा देने के लिए राज्य की ओर से प्रोत्साहन दिया। उसने साम्राज्य-विस्तार की नीति अपनाई और वारंगल तथा बंगाल को अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया। उसने उत्तर-पश्चिम से निरंतर हो रहे मंगोलों के आक्रमणों को विफल किया। मितव्यता की नीति अपनाकर उसने राज्य के आर्थिक संकट को भी दूर किया। बंगाल में फ़िरोज़ शाह का दमन करने के बाद दिल्ली पहुँचने से पहले ही एक दुर्घटना में गियासुद्दीन तुगलक की मृत्यु हो गयी। इस दुर्घटना के पीछे उसके बड़े पुत्र जूना खान का हाथ था।

1325 में अपने पिता की मृत्यु के बाद जूना खान अर्थात् मुहम्मद बिन तुगलक सुल्तान बना। दिल्ली सल्तनत के इतिहास में मुहम्मद बिन तुगलक सबसे विद्वान सुल्तान था। किन्तु अपनी अव्यावहारिक योजनाओं, अपने अनियंत्रित क्रोध के कारण अनावश्यक रक्तपात करने की प्रवृत्ति, अपनी ज़िद्दी प्रकृति तथा अपनी प्रजा के कष्टों के प्रति पूर्ण उदासीनता के कारण उसे दिवा-स्वप्नदर्शी, रक्त-पिपासु, सनकी, पागल अथवा बुद्धिमान मूर्ख कहा जाता है। ज़ियाउद्दीन बर्नी, यहिया बिन अहमद सरहिंदी, निजामुद्दीन अहमद, बदायुनी और फ़रिश्ता जैसे इतिहासकारों ने उसे धर्म-विमुख कहा है। विदेशी यात्री इब्न बतूता ने उसकी रक्त-पिपासु प्रवृत्ति का उल्लेख किया है। मुहम्मद बिन तुगलक ने सुल्तान बनते ही अपनी प्रगतिशीलता का परिचय दिया और धर्मान्धता की नीति का परित्याग किया किन्तु उसकी असफल योजनाओं ने उसके साम्राज्य को खोखला कर दिया।

मुहम्मद बिन तुगलक की पहली अव्यावहारिक योजना - दोआब क्षेत्र में लगभग 50% कर-वृद्धि थी। सुल्तान को अपने इस निर्णय से कोई आर्थिक लाभ होना तो दूर, पुरानी व्यवस्था के अंतर्गत मिलने वाला राजस्व भी प्राप्त नहीं हो सका। मुहम्मद बिन तुगलक ने 'दीवान-ए-कोही' विभाग का गठन कर कृषि-सुधार की महत्वाकांक्षी योजना बनाई थी किन्तु यह भी भू-राजस्व अधिकारियों तथा किसानों की उदासीनता के कारण निष्फल हो गयी। मुहम्मद बिन तुगलक द्वारा दिल्ली के स्थान पर दक्षिण में स्थित दौलताबाद को राजधानी बनाने का निर्णय मंगोलों के आक्रमणों से राजधानी को बचाने, दक्षिण भारत पर अपनी पकड़ मज़बूत बनाने के लिए लिया गया था किन्तु अपार जन-धन की हानि के बाद सुल्तान को 1335 में अपने इस निर्णय को रद्द करना पड़ा था। सुल्तान की दक्षिण भारत पर पकड़ पहले से कमज़ोर हो गयी। 1336 में विजयनगर राज्य की स्थापना और 1347 में बहमनी राज्य की स्थापना इसका प्रमाण हैं।

मुहम्मद बिन तुगलक ने राजकोष में चांदी की कमी के कारण चांदी के टंके के मूल्य के बराबर के ताम्बे के सिक्कों को सांकेतिक मुद्रा के रूप में प्रचलित करने का मौलिक किन्तु नितांत अव्यावहारिक प्रयोग किया था। इस सांकेतिक मुद्रा के ढालने में ऐसी कोई सावधानी नहीं बरती गयी। इस प्रयोग के असफल होने के बाद सुल्तान ने अपना निर्णय वापस ले लिया किन्तु जाली सांकेतिक मुद्रा के बदले में असली चांदी का भुगतान करते-करते राजकोष लगभग पूरी तरह से खाली हो गया।

मंगोल तर्माशरीन की मृत्यु के बाद औक्सश पर्वत के पार के क्षेत्र की अराजक स्थिति का लाभ उठाकर मुहम्मद तुगलक़ खुरासान और कराचिल को जीतना चाहता था. किन्तु उसका यह अभियान नितांत अव्यावहारिक था. खुसरो मलिक के नेतृत्व में 350000 की सेना रास्ता भटकते हुए, मुशिकलों से जूझते हुए असफल होकर जब वापस लौटी तो उस विशाल सेना में से केवल मुट्टी भर सैनिक ज़िन्दा बचे थे. मुहम्मद बिन तुगलक़ के शासनकाल में सागर, मुल्तान, सुनाम, कड़ा, बीदर और गुलबर्गा में असफल विद्रोह हुए. किन्तु बंगाल, मालाबार, तेलंगाना, कांची में सफल विद्रोह हुए. दक्षिण में 1336 में विजयनगर और 1347 में बहमनी साम्राज्य की स्थापना हुई.

एक शासक के रूप में मुहम्मद बिन तुगलक़ का आकलन करते समय किसी भी इतिहासकार ने उसे सफल नहीं बताया है. उसकी हर असफल योजना ने उसको पागल और सनकी समझने वालों की संख्या में वृद्धि की. सुल्तान फ़िरोज़ शाह तुगलक़ को राजनीतिक दृष्टि से अस्थिर, अमीरों और प्रजा के मध्य एक समान अप्रिय, आर्थिक दृष्टि से खोखला और चारों ओर से दुश्मनों से घिरा हुआ साम्राज्य मिला था. उसने अपने अमीरों की निष्ठा प्राप्त की और अपनी प्रजा की दृष्टि में उसकी छवि एक प्रजा-पालक सुल्तान के रूप में स्थापित हुई. उसके शासन काल में राज्य की आर्थिक स्थिति सुधरी. किन्तु उसकी धर्मान्धता के कारण बहु-संख्यक हिन्दू प्रजा दुखी थी.

फ़िरोज़ शाह तुगलक़ ने यमुना, घग्घर और सतलज पर 5 बड़ी नहरों का निर्माण कराया. राज्य की आय बढ़ाने के लिए उसने 1200 फलों के बाग लगवाए थे. उसने आंतरिक व्यापार के मार्ग की अनेक बाधाओं को दूर किया. वह एक महान निर्माता था. सार्वजनिक निर्माण-कार्य तथा नगर-निर्माण में उसकी गहन अभिरुचि थी. उसने अनेक नगरों की स्थापना की. उसने चिकित्सालयों, अनाथालयों, विधवाश्रमों तथा मदरसों की स्थापना की किन्तु इनका लाभ केवल मुस्लिम समाज तक सीमित रहा. वह साहित्यकारों और इतिहासकारों का संरक्षक था

फ़िरोज़ शाह तुगलक़ द्वारा अपने 180,000 निजी दासों की नियुक्ति, जागीरदारी व्यवस्था को पुनर्जीवित करना और सैनिक तथा प्रशासनिक पदों को पुश्तैनी बनाना तथा घूसखोरी को अनदेखा करना ऐसे कार्य थे जिन से कि सल्तनत कमजोर हुई. उसकी धार्मिक कट्टरता की नीति भी उसके साम्राज्य के लिए हानिकारक सिद्ध हुई. फ़िरोज़ शाह तुगलक़ की मृत्यु के तुरंत बाद तुगलक़ राज्यवंश का पतन प्रारंभ हो गया. एशिया में अपने समय के सबसे बड़े बड़ा विजेता तैमूर का भारत आक्रमण भारत के लिए और तुगलक़ साम्राज्य के लिए विनाशकारी सिद्ध हुआ. तैमूर मुख्य रूप से भारत को लूटने के लिए ही आया था पर उसका एक उद्देश्य गैर-मुस्लिमों के पूजा-स्थलों को ध्वस्त करना भी था.

तैमूर ने दिल्ली में प्रवेश किया. उसने दिल्ली को न केवल लूटा अपितु क़त्ल-ए-आम का हुक्म भी दे दिया. भारत के इतिहास की यह सबसे बड़ी लूट थी और सबसे बड़ा नर-संहार था. तैमूर के आक्रमण ने पहले से लड़खड़ाती दिल्ली सल्तनत पर एक और ज़बरदस्त प्रहार किया. नाम के तुगलक़ सुल्तान का अब दिल्ली के आसपास के क्षेत्र पर भी अधिकार नहीं रह गया. दिल्ली सल्तनत से टूटकर अनेक स्वतंत्र प्रांतीय राज्यों का उदय हुआ. तैमूर के आक्रमण के बाद राजस्थान में मेवाड़ राज्यवंश तथा मारवाड़ राज्यवंश प्रभावशाली हो गए. तुगलक़ राज्यवंश के पतन के लिए मुख्यतः मुहम्मद बिन तुगलक़ की अव्यावहारिक योजनाएं, फ़िरोज़ शाह तुगलक़ की सैनिक दुर्बलता, उसकी धर्मान्धता की नीति, उसके उत्तराधिकारियों की अयोग्यता और तैमूर का आक्रमण उत्तरदायी थे. हिन्दू-प्रतिरोध तथा अमीरों की महत्वाकांक्षायें भी इसके लिए काफ़ी हद तक ज़िम्मेदार थी. 1414 में तैमूर के कृपापात्र, सिंध, मुल्तान तथा लाहौर के सूबेदार खिज़्र खान सैयद ने दिल्ली पर अधिकार कर सैयद राज्यवंश की स्थापना की जिस कारण तुगलक़ राज्यवंश की समाप्ति हो गयी.

1.9 पारिभाषिक शब्दावली

जूना खान – सुल्तान बनने से पूर्व मुहम्मद बिन तुगलक़ का नाम

दीवान-ए-कोही – मुहम्मद बिन तुगलक़ द्वारा स्थापित इस विभाग का मुख्य कार्य भू-राजस्व की व्यवस्था करना तथा अधिक से अधिक भूमि को कृषि-योग्य बनाना था।

मेसोपोटामिया – ईराक़

गाज़ी – विधर्मियों का नाश करने वाला

क़त्ल-ए-आम – नर-संहार

अभ्यास प्रश्न

निम्न लिखित पर चर्चा कीजिए

1. एक शासक के रूप में गियासुद्दीन तुगलक़ का आकलन
2. फ़िरोज़ शाह तुगलक़ के प्रश्न के गुण एवं दोष
3. तैमूर के भारत-आक्रमण के परिणाम

1.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 1.3.5 एक शासक के रूप में गियासुद्दीन तुगलक़ का आकलन

2. देखिए 1.5.3 फ़िरोज़ शाह तुगलक़ का राजस्व प्रशासन तथा 1.5.5 फ़िरोज़ शाह तुगलक़ के जन-कल्याणकारी कार्य एवं 1.5.6 फ़िरोज़ शाह तुगलक़ द्वारा दिल्ली सल्तनत को कमज़ोर बनाने वाले कार्य

3. देखिए 1.6.3.1 दिल्ली की लूट और क़त्ल-ए-आम तथा 1.6.3.2 दिल्ली सल्तनत का विघटन एवं 1.6.3.3 हिन्दू शक्तियों का उदय

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

मेजर, आर. एच - 'इंडिया इन दि फ़िफ़्थीन्थ सेंचुरी, लन्दन, 1857

इलियट, एच. एम., डाउसन, जे - 'हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया एज़ टोल्ड बाय इट्स ओन हिस्टोरियंस', 8 भागों में, लन्दन, 1867

मजूमदार, आर. सी. (संपादक) - 'दि डेल्ही सल्तनत' बॉम्बे, 1980

सैयद, एम. एच. - 'हिस्ट्री ऑफ़ डेल्ही सल्तनत' नई दिल्ली, 2005

चंद्रा, सतीश - 'हिस्ट्री ऑफ़ मिडिवल इंडिया', हैदराबाद, 2007

ईश्वरी प्रसाद - 'ए हिस्ट्री ऑफ़ मिडिवल इंडिया' दिल्ली, 2018

रिजवी, एस. ए. ए. - 'तुगलक़कालीन भारत, भाग 1 तथा भाग 2, अलीगढ़, 1956

हुसेन. ए. एम. - 'दि तुगलक़ डायनेस्टी' कलकत्ता, 1963

इब्न बतूता - 'दि रहला' (अंग्रेज़ी अनुवाद - हुसेन, एम) बड़ौदा, 1953

हबीब, इरफ़ान - 'दि इकनोमिक हिस्ट्री ऑफ़ मिडिवल इंडिया, 1200-1500' लन्दन, 2011

जैक्सन, पीटर - 'दि डेल्ही सल्तनत: पॉलिटिकल एंड मिलिट्री हिस्ट्री' केम्ब्रिज, 2003

1.12 निबंधात्मक प्रश्न

मुहम्मद बिन तुगलक़ की योजनाओं के परिप्रेक्ष्य में उसके चरित्र का आकलन कीजिए.

ब्लॉक तीन

इकाई दो: दिल्ली सल्तनत का पतन: सैयद तथा लोदी वंश

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 सैयद राज्यवंश
 - 2.3.1 खिज़्र खान सैयद (1414-1421)
 - 2.3.2 मुबारक शाह सैयद (1421-1434)
 - 2.3.3 मुहम्मद शाह (1434-1445)
 - 2.3.4 अलाउद्दीन शाह (1445-1451)
- 2.4 लोदी राज्यवंश 1451-1526
 - 2.4.1 बहलोल लोदी (1451-1489)
 - 2.4.2 सिकंदर लोदी (1489-1517)
 - 2.4.3 इब्राहीम लोदी (1517-1526)
- 2.5 अफगान राजत्व का सिद्धांत
 - 2.5.1 बहलोल लोदी द्वारा पोषित राजत्व का सिद्धांत
 - 2.5.2 सिकंदर लोदी द्वारा राजत्व के दैविक सिद्धांत की स्थापना
 - 2.5.3 राजत्व के दैविक सिद्धांत को स्थापित करने में इब्राहीम लोदी की असफलता
- 2.6 दिल्ली सल्तनत के पतन के कारण
 - 2.6.1 हिन्दू प्रतिरोध
 - 2.6.2 किसी भी राज्यवंश में निरंतर योग्य शासकों का न होना तथा शासन का स्वरूप ढीला-ढाला होना
 - 2.6.3 राजनीतिक अस्थिरता और आर्थिक संकट
 - 2.6.4 दिल्ली सल्तनत के अमीरों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएँ
 - 2.6.5 तैमूर के भारत-आक्रमणके कारण दिल्ली सल्तनत का विघटन
 - 2.6.6 दिल्ली सल्तनत के पतन का मुख्य कारण – पानीपत का प्रथम युद्ध
 - 2.6.6.1 पानीपत के प्रथम युद्ध से पूर्व भारत पर बाबर के चार आक्रमण
 - 2.6.6.2 बाबर का भारत पर पांचवाँ आक्रमण और पानीपत का प्रथम युद्ध
 - 2.6.6.4 पानीपत के प्रथम युद्ध में बाबर की सफलता के कारण
 - 2.6.6.5 पानीपत के प्रथम युद्ध के परिणाम
- 2.7 सारांश
- 2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 2.9 पारिभाषिक शब्दावली

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

2.11 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

तैमूर के आक्रमण ने पहले से लड़खड़ाती दिल्ली सल्तनत पर एक और ज़बरदस्त प्रहार किया. नाम के तुगलक सुल्तान का अब दिल्ली के आसपास के क्षेत्र पर भी अधिकार नहीं रह गया. एक समय तो ऐसा भी आया कि दिल्ली से आठ मील दूर पालम में एक और प्रतिद्वंदी सुल्तान उठ खड़ा हुआ. इस समय एक व्यंग्योक्ति प्रसिद्ध हुई – ‘शहंशाह-ए-आलम की सल्तनत केवल दिल्ली से पालम तक की है.’

मुल्तान और तदन्तर सिंध तथा लाहौर पर तैमूर का कृपापात्र खिज़्र खान अधिकार कर चुका था और 1414 तक स्थिति यह आ गयी कि खिज़्र खान को दिल्ली पर भी अधिकार करने से रोकने के लिए तुगलक राज्यवंश का कोई भी व्यक्ति आगे नहीं आया और दिल्ली में खिज़्र खान द्वारा बिना किसी विरोध के, सैयद राज्यवंश की स्थापना कर दी गयी.

सैयद राज्यवंश ने तैमूर राज्यवंश की आधीनता स्वीकार करते हुए 37 वर्ष तक दिल्ली सल्तनत पर शासन किया और इस प्रकार उसने दिल्ली सल्तनत के स्वतंत्र अस्तित्व को ही तैमूर राज्यवंश के पास गिरवी रख दिया. ऐसी परिस्थिति में दिल्ली सल्तनत का पतन तो अवश्यम्भावी था.

सैयद राज्यवंश के शासक जो खुद को सुल्तान कहने का साहस भी नहीं कर सकते थे, उनकी प्रजा के हृदय में उनके प्रति न तो श्रद्धा की भवन थी और न ही उनसे उसे किसी प्रकार का भय लगता था. प्रांतीय सूबेदार और जागीरदार की तो बात ही क्या, दिल्ली के आस-पास के ज़मींदार तक उन्हें लगान, नज़राना और पेशकश देने को तैयार नहीं होते थे और शासक को हर वर्ष लगान वसूलने तक के लिए सैनिक अभियान करने पड़ते थे.

सैयद राज्यवंश के शासनकाल में प्रांतीय शक्तियों का उदय हुआ और सैयद राज्यवंश के अंतिम दो शासक – मुहम्मद शाह और अलाउद्दीन शाह तो नाम-मात्र के शासक रह गए. अंततः 1451 में अलाउद्दीन शाह ने दिल्ली का तख्त बहलोल लोदी के लिए छोड़कर खुद बदायूं के लिए प्रस्थान कर दिया.

1451 में बहलोल लोदी दिल्ली का सुल्तान बना किन्तु उसने अफ़गान राजत्व के लोकतांत्रिक सिद्धांत को अपनाकर अपने अफ़गान अमीरों को राज्य में हिस्सेदार माना न कि अपना अधीनस्थ अधिकारी. इस व्यावहारिक नीति को अपनाकर उसने अपने साम्राज्य को स्थायित्व तो दिया किन्तु इस से सुल्तान पद की गरिमा को अवश्य ठेस पहुँची. बहलोल लोदी ने साम्राज्य का विस्तार पंजाब से लेकर पूर्वी उत्तर प्रदेश तक हो गया. जौनपुर पर विजय उसकी सबसे बड़ी सैनिक उपलब्धि थी.

बहलोल लोदी के उत्तराधिकारी, सिकंदर लोदी ने, बलबन और अलाउद्दीन खिलजी की भांति अपनी तलवार के जोर पर अपने अमीरों को राजत्व के दैविक सिद्धांत को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया. किन्तु उसके द्वारा राजत्व के दैविक सिद्धांत को प्रतिष्ठित किए जाने के प्रयास को उसके अफगान अमीरों ने कभी दिल से नहीं अपनाया. सिकंदर लोदी ने ग्वालियर, जौनपुर और बिहार को जीत कर साम्राज्य-विस्तार भी किया और प्रशासनिक सुधार भी किए किन्तु अपनी धर्मान्धता के कारण वह अपनी बहु-संख्यक हिन्दू प्रजा की निष्ठा प्राप्त नहीं कर सका.

सिकंदर लोदी का उत्तराधिकारी इब्राहीम लोदी न तो अपने पितामह बहलोल लोदी जैसा व्यावहारिक था और न अपने पिता सिकंदर लोदी जैसा सफल विजेता. फिर भी राजत्व के दैविक सिद्धांत को प्रतिष्ठित करने में उसने अपने पिता का ही अनुकरण किया. उसको अपने अमीरों के विद्रोहों को कुचलने के लिए कठोरता की नीति अपनानी पड़ी पर इस से आलम खान लोदी जैसे उसके अपने सम्बन्धी तक उसके विरुद्ध खड़े हो गए.

इब्राहीम लोदी के शासनकाल में बाबर के भारत पर आक्रमण हुए किन्तु आंतरिक विद्रोहों को कुचलने में व्यस्त इब्राहीम लोदी उत्तर-पश्चिम से होने वाले आक्रमणों के प्रति असावधान ही रहा. अंततः बाबर पंजाब को जीतते हुए दिल्ली के पास पानीपत तक बढ़ आया.

21 अप्रैल, 1526 को बाबर और इब्राहीम लोदी के सेनाओं के मध्य पानीपत का प्रथम युद्ध हुआ जिसमें कि तुलुगमा रणनीति का प्रयोग कर बाबर ने इब्राहीम लोदी पर निर्णायक विजय प्राप्त की. इब्राहीम लोदी रणक्षेत्र में मारा गया और दिल्ली व आगरा पर अधिकार कर के बाबर ने उत्तर भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना की.

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको तैमूर के आक्रमण के बाद दिल्ली सल्तनत के विघटन और तुगलक राजवंश के पतन के परिप्रेक्ष्य में सैयद राज्यवंश तथा लोदी राज्यवंश के काल में दिल्ली सल्तनत की समाप्ति और मुगल राज्यवंश की स्थापना से आपको अवगत कराना है. इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे-

- 1- तैमूर के भारत आक्रमण से दिल्ली सल्तनत के विघटन की प्रक्रिया तेज हो जाने के कारण नए स्वतंत्र राज्यों के उदय के विषय में.
- 2- सैयद राज्यवंश की राजनीतिक एवं सैनिक दुर्बलता के के विषय में
- 3- लोदी राज्यवंश के परिप्रेक्ष्य में अफगान राजत्व के सिद्धांत की उपयोगिता के विषय में
- 4- सिकंदर लोदी तथा इब्राहीम लोदी द्वारा राजत्व के दैविक सिद्धांत को स्थापित करने से लोदी साम्राज्य के बिखरने के विषय में
- 5- बाबर के भारत पर किए गए आक्रमणों के विषय में
- 6- पानीपत के प्रथम युद्ध में विजय के उपरांत भारत में बाबर द्वारा मुगल साम्राज्य की स्थापना के विषय में

7- दिल्ली सल्तनत के पतन के प्रमुख कारणों के विषय में

2.3 सैयद राज्यवंश

2.3.1 खिज़्र खान सैयद (1414-1421)

दिल्ली सल्तनत से टूटकर अनेक स्वतंत्र प्रांतीय राज्यों का उदय हुआ. 1414 में दिल्ली की सत्ता उस शासक के अधिकार में आई जिसको कि स्वयं को सुल्तान कहलाने में कोई रूचि नहीं थी. 37 वर्षों तक सैयद राज्यवंश (1414-1451) का उत्तर भारत पर नाम मात्र का शासन रहा. इस समय दिल्ली सल्तनत पूरी तरह विघटित हो चुकी थी.

सैयद राज्यवंश दिल्ली सल्तनत के इतिहास का एक प्रभावहीन तथा दुर्बल राज्यवंश था. सैयदों को स्वयं को सुल्तान कहलाने का अधिकार भी प्राप्त नहीं हुआ था. तैमूर ने पंजाब, दिल्ली आदि पर आक्रमण करने के बाद अपने वतन लौटते समय खिज़्र खान सैयद को मुल्तान का सूबेदार नियुक्त किया था. तुगलक वंश के पतन के बाद खिज़्र खान ने सिंध और लाहौर पर भी अधिकार कर लिया और 1414 में उसने दिल्ली की अराजकतापूर्ण स्थिति का लाभ उठाकर उस पर भी अधिकार कर लिया किन्तु उसकी वैधानिक स्थिति तैमूर के - 'सैयत-ए-आला' (जागीरदार) की ही रही, सुल्तान की नहीं.

दिल्ली पर अधिकार करने के बाद खिज़्र खान सैयद ने अपने नाम पर नहीं, अपितु तैमूर के उत्तराधिकारी शाहखुमिर्जा के नाम पर ख़ुतबा पढ़वाया. उसके शासनकाल में ढाले गए सिक्कों पर उसका नाम नहीं, अपितु पूर्व तुगलक शासकों का ही नाम अंकित किया गया. खिज़्र खान सैयद ने दिल्ली सल्तनत से स्वतंत्र हुए क्षेत्रों को फिर से जीतने का प्रयास किया किन्तु इटावा, कन्नौज और कम्पिल को फिर से दिल्ली सल्तनत में मिलाने के उसके प्रयास विफल हुए. कटेहर के राजा हरसिंह के विद्रोह को कुचलने के लिए खिज़्र खान के वज़ीर मलिक-उस-शर्क (उपाधि - 'ताज-उल-मुल्क') ने उसे 1415 में पराजित कर खिज़्र खान की आधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया. हरसिंह ने एक बार फिर विद्रोह किया और एक बार फिर उसे ताज-उल-मुल्क ने ही परास्त किया.

बयाना और ग्वालियर पर छापे मारकर किसानों से लगान वसूला गया किन्तु इन में से किसी भी क्षेत्र पर दिल्ली सल्तनत का स्थायी प्रभुत्व स्थापित नहीं हो सका. दिल्ली सल्तनत को उत्तर-पश्चिम से खोखरों से खतरा था तो पूर्व में जौनपुर के शर्की उसके लिए खतरा बने हुए थे. इधर राजनीतिक अस्थिरता का लाभ उठाकर सल्तनत के अमीर भी आए दिन विद्रोह का झंडा बुलंद कर देते थे. तुर्क अमीरों के विद्रोहों का दमन करने में जब खिज़्र खान सैयद को सफलता नहीं मिली तो उसने विद्रोही अमीरों से समझौता करने की नीति अपना ली. सैयद राज्यवंश के शासनकाल में राजस्व वसूल करने के लिए भी सैनिक अभियान करने पड़ते थे. खिज़्र खान सैयद के वज़ीर, ताज-उल-मुल्क ने इस अराजकतापूर्ण स्थिति को सुधारने का प्रयास किया किन्तु उसे सफलता नहीं मिली. खिज़्र खान सैयद को इस बात का श्रेय अवश्य दिया जा सकता है कि उसने पंजाब को दिल्ली सल्तनत से एक बार फिर जोड़ने में सफलता प्राप्त की.

2.3.2 मुबारक शाह सैयद (1421-1434)

मुबारक शाह अपने पिता से अधिक महत्वकांक्षी था. यद्यपि उसने अपने पिता के समान ही तैमूर के राज्यवंश के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की किन्तु अपने नाम के सिक्के चलवा कर और अपने नाम का खुतबा पढ़वा कर उसने अपनी स्वतंत्र शक्ति का प्रदर्शन भी कर दिया. मुबारक शाह सैयद को तख्तनशीन होने के बाद अपने पिता खिज़्र खान सैयद की ही भांति अपने अधीनस्थ अधिकारियों एवं अमीरों के विद्रोहों का सामना करना पड़ा. उसको भी राजस्व वसूल करने के लिए सैनिक अभियानों का आश्रय लेना पड़ा. भटिंडा में हुए विद्रोह का उसने सफलतापूर्वक दमन किया और दोआब में हुए विद्रोह को भी उसने कुचल दिया. किन्तु वह दिल्ली पर अधिकार करने के प्रयास में असफल हो चुके जसरथ खोखर को दण्डित नहीं कर सका. दिल्ली सल्तनत के खोए हुए क्षेत्रों को फिर से जीतने में भी वह विफल रहा. दोआब में पुलाद तुर्कबच्चा के विद्रोह ने मुबारक शाह को बहुत परेशान किया अंततः अक्टूबर, 1433 में तबर्हिदा के किले को जीत लिया गया और पुलाद तुर्कबच्चा को मार डाला गया.

अपने वज़ीर सरवर-उल-मुल्क द्वारा रचे गए षड्यंत्र में मुबारक शाह की 1434 में हत्या कर दी गयी. मुबारक शाह के शासनकाल के अध्ययन के लिए यहिया बिन अहमद सरहिंदी का ग्रन्थ 'तारीख-ए-मुबारकशाही' सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है. मुबारक शाह ने यमुना नदी के किनारे मुबारकपुर शहर बसाया किन्तु अब उसके चिह्न तक उपलब्ध नहीं हैं. उसका मक़बरा जिस स्थान पर है, उसे उसके नाम पर कोटला मुबारकपुर कहते हैं.

2.3.3 मुहम्मद शाह (1434-1445)

मुहम्मद शाह का शासनकाल षड्यंत्रों और कुचक्रों का काल है. अपनी सेना की दुर्बलता के कारण मुहम्मद शाह ने पूर्व में जौनपुर के शर्कियों के हाथों कई परगने खो दिए. लाहौर और सरहिंद में बहलोल लोदी की शक्ति बहुत बढ़ गयी थी.

2.3.4 अलाउद्दीन शाह (1445-1451)

मुहम्मद शाह के बाद उसका पुत्र अलाउद्दीन शाह तो नाम-मात्र का शासक रहा. सैयद वंश के शासनकाल के अंतिम चरण में अफगान शक्ति का उत्कर्ष हो चुका था और दिल्ली सल्तनत के अनेक प्रान्त उनके कब्जे में थे. सैयद राज्यवंश के काल में दिल्ली के पड़ोस के क्षेत्र मेवात और संभल पर अहमद खान एक स्वतंत्र शासक बना हुआ था और रूहेलखंड से लेकर दिल्ली की सीमा तक दरिया खान लोदी का प्रभुत्व थाइसी प्रकार एटा और फर्रुखाबाद पर . मालवा और गुजरात तो पूरी तरह उनके हाथ से निकल , बंगाल , जौनपुर , पंजाब . भी सैयदों का प्रभुत्व नहीं रह गया था इन परिस्थितियों में अलाउद्दीन शाह ने 1451 में स्वेच्छा से दिल्ली का तख्त बहलोल लोदी को सौंप कर स्वयं बदायूं के लिए प्रस्थान किया.

2.4 लोदी राज्यवंश 1451-1526

2.4.1 बहलोल लोदी (1451-1489)

पंजाब का सूबेदार बहलोल लोदी 1451 तक मुल्तान, लाहौर, दीपालपुर समाना, सरहिंद, सुनाम, हिसार फिरोज़ा आदि क्षेत्रों पर अधिकार कर चुका था. 1451 में सुल्तान बनने पर बहलोल लोदी को सबसे अधिक कठिनाई पूर्व में जौनपुर के शर्की शासकों की आक्रामक नीति से निपटने में हुई थी. मुल्तान में और मालवा में बहलोल लोदी के

अभियान असफल रहे थे फिर भी उसके शासनकाल दिल्ली सल्तनत का विस्तार दिल्ली, पंजाब, उत्तर प्रदेश और राजस्थान के एक सीमित भाग तक विस्तृत हो गया था. उसकी सबसे बड़ी सैनिक सफलता जौनपुर के शर्की शासक को परास्त करने में थी. पूर्व में उसके साम्राज्य का विस्तार उत्तर प्रदेश –बिहार की सीमा तक हो गया था. सुल्तान बनने के बाद बहलोल लोदी की अभिरुचि युद्धों में अधिक नहीं रह गयी थी, वह साम्राज्य-विस्तार से अधिक महत्व अपने राज्य को संगठित करने को तथा जन-कल्याण को देता था. उसकी व्यावहारिक अफ़गान राजत्व के सिद्धांत की नीति ने स्वतंत्रता-प्रिय अफ़गान अमीरों को अपने नेतृत्व में संगठित करने में सफलता प्राप्त की थी.

2.4.2 सिकंदर लोदी (1489-1517)

सिकंदर लोदी की साम्राज्य-विस्तार की नीति अत्यंत सफल रही थी. उसने अपनी पिता से विरासत में मिले साम्राज्य में बयाना, धौलपुर, मंदरैल, अर्वातगढ़, शिवपुर, नारवार, चंदेरी, नागर, बिहार, तिरहुत आदि पर विजय प्राप्त कर उन्हें अपने साम्राज्य में मिला लिया था. उसने जौनपुर के शर्कियों की शक्ति लगभग पूर्णतया कुचल दी थी, उसने ग्वालियर के राज्य को बहुत क्षीण कर दिया था और मालवा के राज्य को भी अत्यंत दुर्बल कर दिया था किन्तु वह न तो अपने पिता के समान एक कुशल प्रशासक था और न ही अपने अमीरों तथा अपनी प्रजा में उसकी भांति लोकप्रिय. उसकी धार्मिक नीति भी कट्टर थी.

सिकंदर लोदी ने दिल्ली सल्तनत का विस्तार किया. उसने ग्वालियर पर विजय प्राप्त की और पूर्व में अपने साम्राज्य का बिहार तक विस्तार किया. बंगाल के शासक अलाउद्दीन हुसेन शाह से संधि कर पूर्व में शांति की स्थापना की. सिकंदर लोदी ने स्वतंत्र प्रकृति के अपने अफ़गान अमीरों को नियंत्रण में रखने में सफलता प्राप्त की हालांकि इस नियंत्रण में स्थायित्व नहीं था. सिकंदर लोदी ने व्यापार को बढ़ावा दिया और चूंकि व्यापार के विस्तार के लिए शांति और व्यवस्था की स्थापना आवश्यक होती है, सिकंदर लोदी ने अपने साम्राज्य में उसे स्थापित किया और व्यापार के विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न कीं. 1503 में उसने आगरा शहर की नींव रखी.

सिकंदर लोदी अपनी धर्मान्धता के लिए कुख्यात है. जन-श्रुतियों में प्रसिद्ध है की उसने कबीरदास जैसे उदार विचारक के दमन का भरसक प्रयास किया था और बोधन नामक एक ब्राह्मण को केवल इसलिए प्राण-दंड दिया था कि वह इस्लाम की भांति अन्य धर्मों में भी सत्य के दर्शन करता था. उसने नगरकोट के ज्वालामुखी मंदिर को ध्वस्त किया था और उसके पवित्र मूर्ति के टुकड़े-टुकड़े करवा कर उन्हें कसाइयों को बाँट के रूप में प्रयुक्त करने के लिए दे दिया था. सिकंदर लोदी ने सैनिक अभियानों में लूटे गए धन – ‘खम्स’ में राज्य का हिस्सा समाप्त कर दिया. उसने भू-राजस्व के निर्धारण के लिए भूमि की नाप-जोख की प्रणाली को पुनर्जीवित किया. नाप के लिए उसके द्वारा प्रचलित ‘गज’ को ‘गज-ए-सिकंदरी’ कहा गया. सिकंदर लोदी ने अपने निष्पक्ष न्याय-कर्ता के रूप में प्रसिद्ध मियां भुआ को ‘क्राज़ी-उल-क्रज़ात’ के पद पर नियुक्त किया.

फ़िरोज़ तुगलक़ के शासनकाल के बाद सिकंदर लोदी के शासनकाल में भी खाद्य पदार्थों के दामों में कमी आई क्योंकि उसने अनाज पर से चुंगी हटा दी थी और उस पर लिया जाने वाला ‘ज़कात’ भी हटा दिया. उसने गड़े हुए खजाने में से राज्य द्वारा लिया जाने वाला हिस्सा भी समाप्त कर दिया. व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए उसने अनेक

व्यापारिक करों को हटा दिया. साम्राज्य पर नियंत्रण रखने के लिए और विद्रोह की संभावनाओं को रोकने के लिए उसने अपने गुप्तचर विभाग को सक्षम बनाया.

स्थापत्य कला की दृष्टि से लोदी काल में तुगलककालीन खान-ए-जहाँ तेलंगनी के मकबरे के अष्टकोणिक कक्ष की शैली को अपनाया गया. इस काल में अलंकरण के लिए रंगीन टाइल्स का प्रयोग किया गया. लोदी काल की इमारतों में भवन-निर्माण कला के अभिन्न अंग के रूप में उद्यान-योजना को शामिल किया गया. इसका सबसे उत्कृष्ट उदाहरण लोदी गार्डन्स में मिलता है. सिकंदर लोदी के मकबरे का प्रभाव मुगल इमारतों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है. सिकंदर लोदी के वज़ीर द्वारा बनवाई गयी मोठ की मस्जिद को उसकी ज्यामितीय समरूपता तथा लाल पत्थर और सफ़ेद संगमरमर के सुन्दर सम्मिश्रण के कारण जॉन मार्शल लोदी काल की सबसे सुन्दर इमारत मानता है.

बलबन और अलाउद्दीन खिलजी के बाद सिकंदर लोदी ही वह सुल्तान था जिसने कि राजत्व के दैविक सिद्धांत को अपने राज्य में सफलतापूर्वक स्थापित किया था. किन्तु अफ़गान राजत्व के लोकतान्त्रिक सिद्धांत के स्थान पर राजत्व के दैविक सिद्धांत को स्वतंत्रता-प्रिय अफ़गान अमीरों ने कभी दिल से स्वीकार नहीं किया. सुल्तान की मृत्यु पर अवसर मिलते ही उन्होंने नए सुल्तान इब्राहीम लोदी के लिए कठिनाइयाँ खड़ी कर दीं. इस प्रकार सिकंदर लोदी ने अपने उत्तराधिकारी इब्राहीम लोदी को विरासत में अफ़गान अमीरों की बगावत दी थी.

2.4.3 इब्राहीम लोदी (1517-1526)

इब्राहीम लोदी को सुल्तान बनने के लिए अपनी पिता के राज्य को अपने भाई जलाल खान लोदी के साथ बांटना पड़ा किन्तु सुल्तान बनने के एक वर्ष बाद ही 1518 में उसने जलाल खान को मौत के घाट उतार कर उसके हिस्से के राज्य पर भी अपना अधिकार कर लिया. इब्राहीम लोदी भी साम्राज्य-विस्तार के विषय में अपने पिता की भांति महत्वाकांक्षी था. उसने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया और एक सीमा तक सबसे प्रतापी राजपूत शासक राणा सांगा की गतिविधियों पर भी अंकुश लगाया किन्तु वह अपने अमीरों की विद्रोही प्रकृति पर अंकुश लगाने में असफल रहा. उत्तर-पश्चिम से लगातार होने वाले आक्रमणों को रोकने में भी वह असफल रहा. पानीपत के प्रथम युद्ध से पहले बाबर, भारत पर चार आक्रमण और भी कर चुका था किन्तु इब्राहीम लोदी की ओर से उसको रोकने के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया था.

2.5 अफ़गान राजत्व का सिद्धांत

2.5.1 बहलोल लोदी द्वारा पोषित राजत्व का सिद्धांत

अफ़गान जाति प्राचीन काल से आजतक कबीलाई व्यवस्था पर विश्वास करती आई है और इसके लिए कुनबा तथा बिरादरी का महत्त्व राज्य तथा शासक दोनों से ही अधिक महत्वपूर्ण रहा है. इसके अतिरिक्त अफ़गान प्रकृति से ही उग्र, स्वतंत्रता-प्रिय तथा स्वाभिमानी होते हैं. उन्हें किसी के आधीन होकर जीवन बिताना स्वीकार्य नहीं है, इसकी तुलना में अपनी स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए उन्हें लड़ते-लड़ते मर जाना स्वीकार्य होता है. दूसरी जाति की आधीनता की तो बात ही क्या, उन्हें तो अपनी बिरादरी के भी किसी व्यक्ति की आधीनता स्वीकार्य नहीं होती है. इस परिप्रेक्ष्य में हम समझ सकते हैं कि अफ़गानों को राजत्व का दैविक सिद्धांत कभी मान्य नहीं हो सकता. अफ़गान अमीर

सुल्तान को न तो पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि मान सकते थे और न ही उसकी आज्ञा को ईश्वर का आदेश मान सकते थे. सुल्तान को ईश्वर का प्रतिनिधि मानना तो दूर वो तो उसे अपना स्वामी मानने को भी तैयार नहीं हो सकते थे. इस प्रकार अफगानों को सुल्तान बलबन तथा अलाउद्दीन खिलजी द्वारा पोषित राजत्व का दैविक सिद्धांत किसी भी परिस्थिति में स्वीकार्य नहीं था. अफगान राजत्व का सिद्धांत पूर्णतया लोकतान्त्रिक था. सुल्तान की नियुक्ति अमीरों के द्वारा चुने जाने पर निर्भर निर्भर करती थी. और इस दृष्टि से सुल्तान अमीरों के प्रति उत्तरदायी था.

अफगान राजत्व का सिद्धांत – ट्राइबल कांसेप्ट ऑफ़ किंगशिप’ अर्थात् राजत्व की कबीलाई अवधारणा थी. इसमें सुल्तान अमीरों का मुखिया होता था. उसे हम अमीरों का अमीर अथवा ‘अमीर-उल-उमरा’ कह सकते थे. अफगान अपने सुल्तान को ‘मसनद-ए-आली’ भी कहते थे जो कि अमीरों के मध्य से ही चुना जाता था. सुल्तान और अमीरों, सभी के लिए कबीला और बिरादरी महत्वपूर्ण होता था. अमीरों का अस्तित्व सुल्तान पर निर्भर नहीं होता था. अमीर तो कबीला बनाता था और अमीर अपने से ही एक अमीर को अपना मुखिया अथवा अपना सुल्तान बनाते थे. इस प्रकार अमीर-सुल्तान सम्बन्ध में पलड़ा अमीरों की ओर ही झुकता था अर्थात् कोई भी निर्णय लेने में उनकी राय का महत्त्व सुल्तान की राय से अधिक हुआ करता था.

फ़रिश्ता के अनुसार बहलोल लोदी के लिए इतना ही पर्याप्त था कि सल्तनत के साथ उसका अपना नाम जुड़ जाता. उसे अपने साथियों पर हुकूमत करने की कोई इच्छा नहीं थी. बहलोल लोदी ने जब दिल्ली के तख्त पर अधिकार करने का प्रयास किया तो उसे अफगान अमीरों के सहयोग की आवश्यकता पड़ी. दिल्ली सल्तनत के अब तक के सभी सुल्तान तुर्क थे और भारत में तुर्कों की संख्या अफगानों की संख्या से कई गुनी थी. बहलोल लोदी को उसके इस प्रयास में विदेशों में रह रहे अफगान अमीर तभी सहयोग दे सकते थे जब वो उसकी सल्तनत में उसके अधीनस्थ कर्मचारी नहीं, अपितु उसकी सल्तनत में उसके हिस्सेदार हों. पूर्वी अफगानिस्तान में स्थित रोह के अफगानों को अपने अभियान में सम्मिलित होने का आमंत्रण देते हुए बहलोल लोदी ने उन्हें लिखा था –

‘प्रभुसत्ता नाम-मात्र को मुझमें अवश्य निहित रहेगी किन्तु हम जो भी क्षेत्र जीतेंगे उनमें हम भाइयों की बराबर की हिस्सेदारी रहेगी.’

बहलोल लोदी का यह कथन, अफगान राजत्व के सिद्धांत को पूर्ण-रूपेण स्पष्ट कर देता है. बहलोल लोदी आजीवन अपने अमीरों के सरदार, उनके मुखिया और उनके बड़े भाई की भूमिका निभाता रहा. उसने उनका मालिक, उनका आक्रा बनने की कभी कोशिश नहीं की. वह अपने अमीरों के सामने शाही तख्त पर भी नहीं बैठता था. वह अमीरों के साथ उठता-बैठता, खाता-पीता था, दोस्तों की तरह उनके घर मिलने जाया करता था. उसने जागीरों और संपत्ति के वितरण में भी उन्हें हिस्सेदार ही समझा. वह शक्ति के विकेंद्रीकरण में विश्वास करता था और राज्य की समस्त शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित करने का उसने कभी प्रयास नहीं किया. उसके अमीरों को अपनी-अपनी जागीरों में लगभग स्वतंत्र शासकों के रूप में शासन करने का अधिकार था. बहलोल लोदी के शासनकाल दिल्ली सल्तनत एक राज्य-संघ के समान थी.

निष्ठापूर्वक अफगान राजत्व के सिद्धांत का पालन करते हुए भी और शक्ति के विकेंद्रीकरण की नीति अपनाते हुए भी बहलोल लोदी को अपने अमीरों के विद्रोहों का सामना करना पड़ा लेकिन उसे उनका दमन करने में सफलता मिली. दिल्ली सल्तनत के इतिहास में बहलोल लोदी का शासनकाल (1451-1488) सबसे लम्बा रहा और वो भी तत्कालीन राजनीतिक अस्थिरता तथा राजपूत एवं तुर्क प्रतिरोध के मध्य. बहलोल लोदी के इस दीर्घकालीन शासनकाल का बहुत कुछ श्रेय उसके द्वारा अफगान राजत्व के सिद्धांत के अपनाने को दिया जा सकता है. अफगान राजत्व का सिद्धांत अफगानिस्तान के लिए तो उपयुक्त था किन्तु भारत जैसे देश में जहाँ अनेक जातियां थीं और जहाँ राजत्व के दैविक सिद्धांत की परंपरा थी, उसकी उपयुक्तता संदेहास्पद थी. इसीलिए बहलोल लोदी के उत्तराधिकारी सिकंदर लोदी और उसके उत्तराधिकारी इब्राहीम लोदी ने अफगान राजत्व के सिद्धांत का अनुगमन नहीं किया.

2.5.2 सिकंदर लोदी द्वारा राजत्व के दैविक सिद्धांत की स्थापना

सिकंदर लोदी (1489-1517) को राज्यारोहण के समय अमीरों के प्रतिरोध के कारण बहुत कठिनाई हुई थी. सुल्तान के रूप में एक सुनार माँ का बेटा (अर्थात् सिकंदर लोदी) बहलोल लोदी के चचेरे भाई ईसा खान को स्वीकार्य नहीं था. सिकंदर लोदी अपनी योग्यता के बल पर सुल्तान बन गया और सुल्तान बनते ही उसने यह निश्चय कर लिया कि वह अपने अफगान अमीरों की स्वच्छंदता तथा उद्दंडता को नियंत्रित करेगा. उसने राजत्व के सिद्धांत का स्वरूप बदलकर उसे तुर्क राजत्व के सिद्धांत के समान बना दिया. अब सुल्तान अमीरों का अमीर नहीं, अपितु उनका स्वामी था. सिकंदर लोदी ने बलबन तथा अलाउद्दीन खिलजी से प्रेरणा प्राप्त कर अपने पिता के समय में सुल्तान के पद की खोई हुई गरिमा तथा प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित किया और दरबार में सुल्तान के समक्ष कोर्निश जैसा अभिवादन आवश्यक कर दिया. अब सुल्तान के समक्ष सबको खड़ा रहना पड़ता था और अमीरों को शाही फ़रमान का सम्मान करते हुए उसे मीलों पैदल चलकर ग्रहण करना पड़ता था. सिकंदर लोदी ने अमीरों की महत्वाकांक्षा कुचलने के लिए उनके आर्थिक साधनों को सीमित कर दिया तथा उनकी गतिविधियों पर नज़र रखने के लिए अपने गुप्तचर नियुक्त कर दिए. उसने शक्ति के केन्द्रीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ की और इस प्रकार अमीरों की राज्य में हिस्सेदारी की परंपरा को समाप्त कर दिया. इस से यह प्रतीत होने लगा था कि सिकंदर लोदी ने अपने अमीरों की स्वच्छंद प्रकृति पर नियंत्रण स्थापित कर लिया है. किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं था. सिकंदर की शक्ति से भयभीत होकर अफगान अमीरों ने ऊपरी तौर पर उसके द्वारा राजत्व के सिद्धांत में परिवर्तन को स्वीकार कर लिया था किन्तु वो पुनः अफगान राजत्व के सिद्धांत को प्रतिष्ठित करने का अवसर देख रहे थे.

2.5.3 राजत्व के दैविक सिद्धांत को स्थापित करने में इब्राहीम लोदी की असफलता

1489 में सिकंदर लोदी की मृत्यु होते ही अफगान अमीर अफगान राजत्व के सिद्धांत को पुनर्प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयत्नशील हो गए. किन्तु इब्राहीम लोदी ने भी अपने पिता सिकंदर लोदी की ही भांति अमीरों के दमन की नीति अपनाई और उसने भी राजत्व के सिद्धांत को तुर्कों तथा हिन्दुओं के राजत्व के दैविक सिद्धांत के अनुरूप ढालना चाहा. वह पूर्ण निरंकुश शासक बनने के लिए कटिबद्ध था. इब्राहीम लोदी ने सुल्तान बलबन की भांति यह घोषित किया कि सुल्तान का कोई सम्बन्धी नहीं होता. उसने अफगानी परंपरा को समाप्त कर अपने अमीरों को दरबार में हाथ

बांधकर और सर झुककर खड़े रहने के लिए बाध्य किया. बहलोलोली अमीरों के और सिकंदरी अमीरों ने नवयुवक सुल्तान की दमनकारी नीतियों का विरोध किया.

इब्राहीम लोदी ने आजम हुमायूँ शेरवानी को इसलिए कैद करवाया क्योंकि उसने सिकंदर लोदी की मृत्यु के उपरांत उठे उत्तराधिकार के विवाद पर जलाल खान का पक्ष लिया था. जेल में ही आजम हुमायूँ शेरवानी की मृत्यु हो गयी थी. आजम हुमायूँ शेरवानी के पुत्र इस्लाम खान ने सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह कर दिया जिसने कि युद्ध का रूप ले लिया. इब्राहीम लोदी ने इस्लाम खान के विद्रोह का दमन तो कर दिया किन्तु इस से वह स्वातंत्र्यप्रिय अफगान अमीरों की निष्ठा तथा स्वामिभक्ति प्राप्त नहीं कर सका.

बिहार के सूबेदार, मियां हुसेन फ़र्मूली, मियां मुआर (सिकंदर लोदी का वजीर), पंजाब के सूबेदार दौलत खान लोदी तथा उसके पुत्र दिलावर खान के साथ इब्राहीम लोदी ने अत्यंत कठोर व्यवहार किया. सुल्तान अमीरों के दिल में अपने कोप का भय स्थापित कर उनकी विद्रोह करने हिम्मत तोड़ना चाहता था. लेकिन ज्यों-ज्यों सुल्तान ने शक्ति के केन्द्रीकरण के प्रयासों को गति प्रदान की और ज्यों-ज्यों उसने अफगान अमीरों की स्वच्छंदता का दमन करने का प्रयास किया, उसकी पकड़ अपनी सल्तनत पर से तथा अपने अमीरों पर से कमजोर होती चली गयी.

वास्तव में लोदियों के अधीन दिल्ली सल्तनत, विभिन्न जागीरों और प्रान्तों के ढीले-ढाले, काम चलाऊ संघ से अधिक कुछ नहीं थी. बढ़ते हुए राजपूत प्रतिरोध तथा उत्तर पश्चिम से निरंतर हो रहे आक्रमणों के वातावरण में अफगान राजत्व के सिद्धांत में आमूल परिवर्तन करने का प्रयास नितांत अव्यवहारिक था. इब्राहीम लोदी को अपनी अव्यवहारिक नीति का मूल्य चुकाना पड़ा. उसका राज्य विघटित होने लगा. अनेक अमीर उसके विरुद्ध हो गए. इब्राहीम लोदी से कुपित पंजाब के सूबेदार दौलत खान लोदी ने तो बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित भी कर दिया.

इस प्रकार सिकंदर लोदी तथा इब्राहीम लोदी ने अफगान राजत्व के सिद्धांत में परिवर्तन करने के प्रयास में लोदी राज्य वंश के पतन के द्वार खोल दिए. जो अफगान अमीर, बिरादरी, कबीले और कुनबे की खातिर बहलोल लोदी का साथ देने आए थे उन्होंने और उनके परवर्ती अमीरों ने सिकंदर लोदी तथा इब्राहीम लोदी की अफगान राजत्व के सिद्धांत को आमूल रूप से परिवर्तित करने के प्रयास के विरुद्ध विद्रोह कर दिया.

2.6 दिल्ली सल्तनत के पतन के कारण

2.6.1 हिन्दू प्रतिरोध

दिल्ली सल्तनत तलवार के बल पर और इस्लाम की फ़तेह के रूप में स्थापित हुई थी और उसी के बल पर उसका अस्तित्व निर्भर करता था. दिल्ली के सुल्तानों ने अपनी नीतियों से कभी अपनी बहुसंख्यक गैर-मुस्लिम प्रजा का दिल जीतने की कोशिश नहीं की. उनकी धार्मिक तथा प्रशासनिक नीतियां बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के लिए हानिकारक थीं. दक्षिण भारत में विजयनगर साम्राज्य फल-फूल रहा था. मेवाड़ और मारवाड़ में राजपूत शक्तियां अपने शक्ति-विस्तार के प्रयास में सफल हो रही थीं. ग्वालियर में तोमरों ने भी अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी थी.

2.6.2 किसी भी राज्यवंश में निरंतर योग्य शासकों का न होना तथा शासन का स्वरूप ढीला-ढाला होना

दिल्ली सल्तनत के एक भी राज्यवंश में लगातार योग्य शासक नहीं हुए और प्रायः एक योग्य शासक के बाद कोई एक अथवा कई अयोग्य शासक तख्तनशीन हुए. दिल्ली सल्तनत के सुल्तान निरंकुश तो थे ही, उनके शासन का स्वरूप भी ढीला-ढाला और कामचलाऊ था.

2.6.3 राजनीतिक अस्थिरता और आर्थिक संकट

मुहम्मद बिन तुगलक के अव्यावहारिक एवं मूर्खतापूर्ण फैसलों से दिल्ली सल्तनत के विघटन की प्रक्रिया तेज हो गयी थी और राज्य में अराजकता फैलने के साथ-साथ उसकी आर्थिक स्थिति भी संकटपूर्ण हो गयी थी.

2.6.4 दिल्ली सल्तनत के अमीरों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएँ

दिल्ली के सुल्तानों को कभी भी अपने अमीरों का पूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं हुआ. तलवार के बल पर अमीरों से प्राप्त किया हुआ समर्थन और उनकी निष्ठा सुल्तानों के अयोग्य उत्तराधिकारियों के समय में स्वतः अंतर्ध्यान हो जाता था और महत्वाकांक्षी अमीर स्वयं तख्त पर अधिकार करने का स्वप्न देखने लगते थे अथवा अपने लिए दिल्ली सल्तनत के किसी भाग पर स्वतंत्र राज्य स्थापित करने का प्रयास प्रारंभ कर देते थे.

दक्षिण में बहमनी राज्य की स्थापना ने दक्षिण भारत को दिल्ली सल्तनत से अलग कर दिया था. मालवा, गुजरात, बंगाल स्वतंत्र हो चुके थे और जौनपुर में शर्की दिल्ली सुल्तान के लिए सरदर्द बने हुए थे. पंजाब, सिंध और मुल्तान पर भी दिल्ली सुल्तान का नियंत्रण कर पाना कठिन हो गया था.

2.6.5 तैमूर के भारत-आक्रमणके कारण दिल्ली सल्तनत का विघटन

तैमूर के आक्रमण ने पहले से लड़खड़ाती दिल्ली सल्तनत पर एक और ज़बरदस्त प्रहार किया. नाम का तुगलक सुल्तान का अब दिल्ली के आसपास के क्षेत्र पर भी अधिकार नहीं रह गया. तैमूर के आक्रमण के बाद दिल्ली सल्तनत की प्रतिष्ठा में बहुत कमी आई थी और केन्द्रीय शक्ति के अभाव में अनेक स्वतंत्र राज्य अस्तित्व में आ गए थे.

2.6.6 दिल्ली सल्तनत के पतन का मुख्य कारण – पानीपत का प्रथम युद्ध

2.6.6.1 पानीपत के प्रथम युद्ध से पूर्व भारत पर बाबर के चार आक्रमण

भारत पर बाबर का पहला आक्रमण 1519 में हुआ था. इसी वर्ष युसुफ़ज़ाइयों का दमन करने के लिए वह पेशावर तक पहुँच गया था. इसको बाबर का भारत पर दूसरा आक्रमण कहा जा सकता है. 1520 में अपने तीसरे आक्रमण में वह रावलपिंडी होते हुए, झेलम नदी पार कर सईदपुर तक पहुँचा और वहाँ लूटमार की किन्तु काबुल पर आक्रमण की खबर सुनकर उसे वहाँ से लौटना पड़ा. भारत पर अपने तीसरे आक्रमण के बाद बाबर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि भारत पर उसका आक्रमण तभी सफल हो सकता है जब कि वह कांधार पर अधिकार कर वहाँ से अपना अभियान संचालित करे. इसलिए अगले दो-तीन साल उसने गजनी से लेकर खुरासान तक के क्षेत्र पर अपना अधिकार करने के प्रयास में व्यतीत किए. इन क्षेत्रों पर अधिकार करने के बाद वह भारत पर एक बड़ा आक्रमण करने के लिए सक्षम हो गया.

इस बीच उसे अलाउद्दीन लोदी और लाहौर के दौलत खान लोदी द्वारा भारत पर आक्रमण करने के निमंत्रण मिले. अपने चौथे भारत आक्रमण में बाबर सिन्धु नदी, झेलम और चिनाब नदियों को पार करता हुआ लाहौर से दस मील दूरी तक पहुँच गया और उसने वहाँ लोदी सेना को पराजित किया और वह लाहौर पहुँचा. वहाँ से वह दीपालपुर पहुँचा जहाँ दौलत खान लोदी अपने पुत्र और अपनी सेना सहित उस से जा मिला किन्तु दोनों पक्षों में जीत के संभावित क्षेत्रों के बटवारे को लेकर मतभेद हो गए. बाबर ने अपना अभियान स्थगित कर दिया और वह काबुल लौट गया. लेकिन बाबर लौटकर जैसे ही सिन्धु नदी को पार किया था कि पंजाब के हालात फिर से एक और आक्रमण के लिए अनुकूल हो गए. अलाउद्दीन लोदी ने उसे फिर से भारत पर आक्रमण करने का निमंत्रण दिया. बाबर उस समय बलख में उज्जबेगों के साथ युद्ध में उलझा हुआ था. उसने अलाउद्दीन लोदी को सैनिक सहायत दी किन्तु अलाउद्दीन का अभियान विफल रहा और वह दिल्ली भाग गया.

2.6.6.2 बाबर का भारत पर पाँचवाँ आक्रमण और पानीपत का प्रथम युद्ध

अब तक बाबर ने भारत पर अगले आक्रमण की तैयारियाँ पूरी कर ली थीं. वह खैबर दर्रे को पार करता हुआ पेशावर पहुँचा फिर उसने सिन्धु नदी पार की. फिर रावी और व्यास नदी पार करता वह मिलवात के किले पर पहुँचा और उसने उस पर अधिकार कर लिया. उसने सतलज नदी को पार कर रूपर पर अधिकार कर लिया. फिर वह अम्बाला होता हुआ सिरसवा के निकट यमुना के तट तक पहुँच गया. दो और पड़ावों के बाद वह 12 अप्रैल, 1526 को दिल्ली के 53 मील उत्तर-पश्चिम पानीपत के मैदान तक पहुँच गया. इधर इब्राहीम लोदी भी अपने सेना लेकर बाबर का सामना करने के लिए पानीपत पहुँच गया था.

21 अप्रैल, 1526 को बाबर और इब्राहीम लोदी की सेनाओं के मध्य पानीपत का प्रथम युद्ध हुआ जिसमें इब्राहीम लोदी पराजित हुआ और रणक्षेत्र में ही मारा गया. विजयी बाबर ने 24 अप्रैल को दिल्ली पर तथा 4 मई को आगरा पर अधिकार कर लिया.

2.6.6.4 पानीपत के प्रथम युद्ध में बाबर की सफलता के कारण

बाबर के पिछले चार आक्रमणों ने यह स्पष्ट रूप से दिखा दिया था कि उत्तर-पश्चिम से होने वाले आक्रमण को दिल्ली से बहुत पहले ही रोक पाने की क्षमता इब्राहीम लोदी में नहीं है. इब्राहीम लोदी से पहले के भी और उसके बाद के भी, दिल्ली के शासकों ने, उत्तर-पश्चिम से आने वाले आक्रमणकारियों को दिल्ली की सीमा तक आने दिया था और तराइन के 1191 के प्रथम युद्ध को छोड़कर (इसमें पृथ्वीराज तृतीय ने मुहम्मद गौरी को पराजित किया था) शेष सभी में मुहम्मद गौरी से लेकर अहमद शाह अब्दाली तक, उत्तर-पश्चिम से आने वाला आक्रमणकारी ही दिल्ली के शासक से जीता था.

उत्तर-पश्चिम से आने वाला आक्रमणकारी यदि दिल्ली से मात्र 50-60 मील पहले तक पहुँच जाता है तो इसका मतलब होता है कि वह पूरा पंजाब पार कर चुका है और पंजाब के संसाधनों पर अब उसका अधिकार है और उसे भारतीय परिवेश में युद्ध लड़ने का अभ्यास भी हो चुका है. इब्राहीम लोदी, बाबर के भारत पर चार आक्रमणों के

बाद भी सचेत नहीं हुआ और उसके पांचवें आक्रमण के समय भी वह मुख्य रूप से अपने विद्रोही अमीरों के दमन के प्रयास में ही उलझा हुआ था. उसने इस संकट के समय आपसी मतभेद भुलाकर दुश्मन के सामने सबको एकजुट करने का कोई प्रयास नहीं किया. बाबर पानीपत के युद्ध के लिए पूरी तैयारी के साथ आया था. अपने दुश्मनों. उज़्बेगों से सीखी हुई, तोपखाने और घुड़सवार सेना के संयुक्त आक्रमण की तुलगमा रणनीति, उसके लिए ब्रह्मास्त्र थी. भारत में इस से पहले इस रणनीति का प्रयोग कभी नहीं हुआ था.

तुलगमा रणनीति में दाईं और बाईं, दोनों ओर से, घुड़सवारों की टुकड़ियां, शत्रु-सेना के पीछे जाकर उसे इतना खदेड़ती थीं कि वह मुगलों की, सामने रखी तोपों की मारक-सीमा के अन्दर आ जाए. और जब शत्रु-सेना, मुगल तोपों की मार के अन्दर आने के लिए विवश होती थी तो उस पर तोपों से गोले बरसाए जाते थे. बाबर के साथ उसके दो अचूक निशाने बाज़ - उस्ताद अली और मुस्तफ़ा मुगल सेना को और भी सशक्त बना रहे थे. रशब्रुक विलियम्स ने बाबर की रणनीति का विस्तार से वर्णन किया है. बाबर ने अपने सैनिकों को अपनी सुरक्षा के लिए कवच, शिरस्त्राण, जूते आदि उपलब्ध कराए थे जब कि भारतीय सैनिक बिना कवच, बिना शिरस्त्राण और बिना जूतों के ही लड़ने के लिए विवश थे. बाबर के सैनिक प्रशिक्षित थे और उन्हें युद्ध का अभ्यास था जब कि सुल्तान इब्राहीम लोदी की सेना में अधिकांश सैनिक युद्ध-कौशल से सर्वथा हीन थे.

बाबर के सैनिकों के पास सुल्तान के सैनिकों की तुलना में बेहतर हथियार थे और उसके सैनिक अपने हथियारों का उपयोग भी अच्छी तरह से करना जानते थे. उसकी सेना में योग्य तोपची, निशाने बाज़ बंदूकची, कुशल तीरंदाज़ और अनुभवी तलवारबाज़ थे. बाबर की घुड़सवार सेना के मुक़ाबले में इब्राहीम लोदी की घुड़सवार सेना नितांत अक्षम थी.

बाबर एक महान सेनानायक था और उसे अपनी सेना को एकजुट कर लड़ाना आता था जब कि इब्राहीम लोदी न तो एक योग्य सेनानायक था और न ही अपनी सेना की निष्ठा प्राप्त कर पाने में सक्षम था. बाबर के सैनिकों के सामने – ‘ग्रीड ऑफ़ गोल्ड एंड लस्ट फ़ॉर ग्लोरी’ (धन का लालच और यश-प्राप्ति की आकांक्षा) का लक्ष्य था जब कि इब्राहीम लोदी के सैनिक भाड़े पर लिए गए सैनिक थे.

पिछले 75 वर्षों से दिल्ली पर लोदी राज्यवंश का शासन था किन्तु अभी भी भारतीय प्रजा के दिल में इस राज्यवंश के प्रति न तो कोई प्रेम था और न कोई उनके प्रति श्रद्धा थी. इब्राहीम लोदी इस युद्ध में बिना जन-समर्थन के लड़ रहा था.

इब्राहीम लोदी को खुद अपने घर के भेदियों से भयंकर कठिनाई हो रही थी. उसके अफ़गान अमीर, उसके पिता और उसके द्वारा अफ़गान राजत्व के कबीलाई सिद्धांत को बदलकर राजत्व के दैविक सिद्धांत को लागू किए जाने के सख्त खिलाफ़ थे. इस युद्ध में इब्राहीम लोदी को खुद अपने ही अमीरों का पूर्ण सहयोग नहीं मिल रहा था.

इब्राहीम लोदी को किसी भी प्रमुख भारतीय शक्ति का समर्थन नहीं मिल रहा था. राजपूत संघ का प्रमुख, मेवाड़ का राणा संग्राम सिंह तो उसका प्रबल शत्रु था, उसने खतौली के युद्ध में इब्राहीम लोदी को पराजित किया था और चंदेरी पर अधिकार कर लिया था. जब बाबर ने हिंदुस्तान पर अपना पांचवां आक्रमण किया था तो राणा सांगा ने

तो उसके आक्रमण का स्वागत ही किया था.सबसे अलग-थलग पड़ा हुआ, बाह्य तथा आतंरिक शत्रुओं से चारों ओर से घिरा हुआ, एक सेनानायक के रूप में पूर्णतया विफल इब्राहीम लोदी अपने समय के उस प्रतिष्ठित सेनानायक से युद्ध करने जा रहा था जो कि इस युद्ध की कई साल तैयारी कर के भारत आया था और जिसको कि खुद इब्राहीम लोदी के एक प्रमुख अमीर का सहयोग प्राप्त था. इन परिस्थितियों में युद्ध का परिणाम तो युद्ध के होने से पहले ही निश्चित हो चुका था.

‘बाबरनामा’ में बाबर अपने सैनिकों की संख्या 12000 बताता है और इब्राहीम लोदी के सैनिकों की संख्या 100000. बाबर के सेना के पास तोपें थीं और बंदूकें भी थीं जब कि इब्राहीम लोदी के सैनिकों के पास भाले, तलवार और तीर-कमान ही मुख्य हथियार थे. बाबर ने अपनी और अपने सैनिकों की सुरक्षा का समुचित प्रबंध किया था किन्तु इब्राहीम लोदी ने न तो अपनी सुरक्षा की कोई व्यवस्था की और न ही अपने सैनिकों के सुरक्षा की कोई चिंता की थी. इब्राहीम लोदी की वीरता में किसी को संदेह नहीं था किन्तु वह लड़ते-लड़ते मरना जानता था, लड़कर जीतना नहीं.

2.6.6.5 पानीपत के प्रथम युद्ध के परिणाम

युद्ध का परिणाम कुछ ही घंटों में सामने आ गया. पानीपत के इस प्रथम युद्ध में इब्राहीम लोदी की निर्णायक हार हुई और वह युद्ध भूमि में ही मारा गया. इब्राहीम लोदी दिल्ली सल्तनत का एकमात्र सुल्तान था जो कि रणभूमि में मारा गया था. इब्राहीम लोदी की पराजय होते ही दिल्ली सल्तनत पर लोदी राज्यवंश का प्रभुत्व समाप्त हो गया. बाबर ने दिल्ली पर और तदन्तर आगरा पर अधिकार कर लिया. उसने अपने पूर्वज तैमूर की तरह भारत को लूटकर वहां से वापस जाने पर विचार नहीं किया, बल्कि उसने भारत में स्थायी रूप से बसने का निश्चय किया और फिर उत्तर भारत में बाबर द्वारा मुगल राज्यवंश का शासन स्थापित हुआ.

2.7 सारांश

तैमूर के आक्रमण ने पहले से लड़खड़ाती दिल्ली सल्तनत पर एक और ज़बरदस्त प्रहार किया. नाम के तुगलक सुल्तान का अब दिल्ली के आसपास के क्षेत्र पर भी अधिकार नहीं रह गया. मुल्तान और तदन्तर सिंध तथा लाहौर पर तैमूर का कृपापात्र खिज़्र खान अधिकार कर चुका था और 1414 में दिल्ली में खिज़्र खान द्वारा बिना किसी विरोध के, सैयद राज्यवंश की स्थापना कर दी गयी.

सैयद राज्यवंश ने तैमूर राज्यवंश की आधीनता स्वीकार करते हुए 37 वर्ष तक दिल्ली सल्तनत पर शासन किया और इस प्रकार उसने दिल्ली सल्तनत के स्वतंत्र अस्तित्व को ही तैमूर राज्यवंश के पास गिरवी रख दिया. सैयद राज्यवंश के शासक जो खुद को सुल्तान कहने का साहस भी नहीं कर सकते थे, उनकी प्रजा के हृदय में उनके प्रति न तो श्रद्धा की भावना थी और न ही उनसे उसे किसी प्रकार का भय लगता था. प्रांतीय सूबेदार और जागीरदार की तो बात ही क्या, दिल्ली के आस-पास के ज़मींदार तक उन्हें लगान, नज़राना और पेशकश देने को तैयार नहीं होते थे और शासक को हर वर्ष लगान वसूलने तक के लिए सैनिक अभियान करने पड़ते थे. खिज़्र खान सैयद ने दिल्ली सल्तनत से स्वतंत्र हुए क्षेत्रों को फिर से जीतने का प्रयास किया किन्तु इटावा, कन्नौज और कम्पिल को फिर से दिल्ली सल्तनत में मिलाने के उसके प्रयास विफल हुए.

मुबारक शाह अपने पिता से अधिक महत्वकांक्षी था. उसने अपने नाम के सिक्के चलवा कर और अपने नाम का खुतबा पढ़वा कर अपनी स्वतंत्र शक्ति का प्रदर्शन किया. मुबारक शाह सैयद को तख्तनशीन होने के बाद अपने पिता खिज़्र खान सैयद की ही भांति अपने अधीनस्थ अधिकारियों एवं अमीरों के विद्रोहों का सामना करना पड़ा. उसको भी राजस्व वसूल करने के लिए सैनिक अभियानों का आश्रय लेना पड़ा. भटिंडा और दोआब में हुए विद्रोहों को उसने कुचलने में सफलता प्राप्त की किन्तु वह खोखरों का दमन करने में असफल रहा. 1434 में उसकी हत्या के बाद सैयद राज्यवंश की सत्ता नाम-मात्र की रह गयी.

सैयद राज्यवंश के शासनकाल में प्रांतीय शक्तियों का उदय हुआ और सैयद राज्यवंश के अंतिम दो शासक – मुहम्मद शाह और अलाउद्दीन शाह तो नाम-मात्र के शासक रह गए. अंततः 1451 में लाहौर, मुल्तान, सरहिंद, दीपलपुर आदि पर अधिकार कर चुके बहलोल लोदी ने दिल्ली पर अधिकार कर लोदी राज्यवंश की स्थापना की. बहलोल लोदी ने अफ़गान राजत्व के सिद्धांत का अनुगमन करते हुए अपने अफ़गान अमीरों को राज्य का हिस्सेदार बनाया. बहलोल लोदी की सबसे बड़ी सैनिक सफलता जौनपुर के शर्की शासक को पराजित करने में थी.

सिकंदर लोदी एक महान विजेता था उसने लोदी साम्राज्य का विस्तार किया. उसने ग्वालियर पर विजय प्राप्त की और जौनपुर को करारी शिकस्त दी. सिकंदर लोदी ने राजत्व के दैविक सिद्धांत को पुनर्स्थापित किया और अपनी तलवार के बल पर अफ़गान अमीरों को अपने सामने पूरी तरह से झुकने के लिए विवश किया. सिकंदर लोदी एक कुशल प्रशासक था. उसने आगरा शहर की स्थापना की. उसने व्यापार की उन्नति के लिए अनेक सुधार किए. उसकी धर्मान्धता के कारण उसकी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा उस से असंतुष्ट थी.

अपने पिता के समान योग्य और शक्तिशाली न होते हुए भी इब्राहीम लोदी ने राजत्व के दैविक सिद्धांत को प्रतिष्ठित कर अपने अमीरों को असंतुष्ट कर दिया. उसके शासनकाल में आलम खान लोदी, अलाउद्दीन लोदी और दौलत खान लोदी के विरोध से अपने साम्राज्य पर उसकी पकड़ बहुत कमज़ोर हो गयी. वह उत्तर-पश्चिम से हो रहे बाबर के आक्रमणों को रोकने में विफल रहा. अफ़गान अमीर खुद को राज्य का हिस्सेदार मानते थे और सुल्तान को वो केवल अपना मुखिया मानते थे न कि अपना स्वामी. सिकंदर लोदी तथा इब्राहीम लोदी द्वारा अफ़गान राजत्व के सिद्धांत स्थान पर राजत्व के दैविक सिद्धांत को स्थापित करना लोदी राज्यवंश के पतन का एक प्रमुख कारण था. इब्राहीम लोदी ने अमीरों के दमन की नीति अपना कर उन्हें विद्रोह करने के लिए विवश कर दिया.

दिल्ली सल्तनत के पतन के कारणों में हिन्दू प्रतिरोध एक प्रमुख कारण था. दिल्ली सल्तनत का प्रशासन ढाला होना और प्रत्येक राज्यवंश के अधिकांश परवर्ती सुल्तानों का अयोग्य होना भी उसके पतन का-ढीला एक कारण था. मुहम्मद बिन तुगलक़ की अव्यावहारिक योजनाओं ने दिल्ली सल्तनत की आर्थिक स्थिति को इतना ढाला कि दिल्ली के सुल्तानों की सैनिक दुर्बलता एक ओर कमज़ोर कर दिया था कि इस से वह कभी उबर ही नहीं पाई थी. विद्रोहों को कुचलने में असफल रही तो दूसरी ओर वह तैमूर और बाबर जैसे आक्रमणकारियों को रोकने में विफल रही. तैमूर के आक्रमण ने दिल्ली सल्तनत के अमीरों की महत्वाकांक्षाओं के कारण दिल्ली सल्तनत का विघटन हुआ, दिल्ली सल्तनत के विघटन की प्रक्रिया को और तेज़ कर दिया.

दिल्ली सल्तनत के पतन का मुख्य कारण पानीपत के प्रथम युद्ध में बाबर की इब्राहीम लोदी पर निर्णायक विजय थी। अपनी श्रेष्ठ सेना, तुलुगमा रणनीति तथा अपने कुशल नेतृत्व के कारण इस युद्ध में बाबर की निर्णायक विजय हुई। बाबर ने इस विजय के उपरांत भारत में ही रहने का निर्णय लिया और फिर भारत में उसने मुगल साम्राज्य की स्थापना की।

अभ्यास प्रश्न

निम्न लिखित पर चर्चा कीजिए

1. खिज़्र खान सैयद
2. शासक के रूप में सिकंदर लोदी
3. अफ़गान राजत्व का सिद्धांत

2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 2.3.1 खिज़्र खान सैयद (1414-1421)
2. देखिए 2.4.2 सिकंदर लोदी (1489-1517)
3. देखिए 2.5 अफगान राजत्व का सिद्धांत

2.9 पारिभाषिक शब्दावली

शहंशाह-ए-आलम – दुनिया भर का बादशाह

रैयत-ए-आला – शासक की विशिष्ट प्रजा (जागीरदार)

क्राज़ी-उल-क्रज़ात – मुख्य न्यायाधीश

ज़कात – मुसलमानों से लिया जाने वाला धार्मिक कर

कुनबा – परिवार, खानदान

खम्स – सैनिक अभियान में लूटे गए धन में से राज्य का हिस्सा

बहलोली अमीर – बहलोल लोदी के शासनकाल में बनाए गए अमीर

सिकंदरी अमीर – सिकंदर लोदी के शासनकाल में बनाए गए अमीर

तुलुगमा रणनीति – तोपखाने और घुड़सवार सेना का अप्रत्याशित और संयुक्त आक्रमण

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

मेजर, आर. एच - 'इंडिया इन दि फ़िफ्थीन्थ सेंचुरी, लन्दन, 1857

इलियट, एच. एम., डाउसन, जे – 'हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया एज़ टोल्ड बाय इट्स ओन हिस्टोरियंस', 8 भागों में, लन्दन, 1867

लाल, के. एस. – 'ट्वाईलाइट ऑफ़ दि डेल्ही सल्तनत, दिल्ली, 1980

मजूमदार, आर. सी. (संपादक) – ‘दि डेल्ही सलतनत’ बॉम्बे, 1980
सैयद, एम. एच. – ‘हिस्ट्री ऑफ़ डेल्ही सलतनत’ नई दिल्ली, 2005
चंद्रा, सतीश – ‘हिस्ट्री ऑफ़ मिडिवल इंडिया’, हैदराबाद, 2007
ईश्वरी प्रसाद – ‘ए हिस्ट्री ऑफ़ मिडिवल इंडिया’ दिल्ली, 2018
बाबर, ज़हीरुद्दीन – ‘बाबरनामा’ (अंग्रेज़ी अनुवाद – बेवेरिज, ए. एस.), दिल्ली, रिप्रिंट – 1999
थॉमस, एडवर्ड – ‘दि क्रोनिकल्स ऑफ़ दि पठान किंग्स ऑफ़ डेल्ही’ दिल्ली, रिप्रिंट, 1976
हबीब, इरफ़ान – ‘दि इकनोमिक हिस्ट्री ऑफ़ मिडिवल इंडिया, 1200-1500’ लन्दन, 2011
जैक्सन, पीटर – ‘दि डेल्ही सलतनत: पॉलिटिकल एंड मिलिट्री हिस्ट्री’ केम्ब्रिज, 2003

2.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. दिल्ली सलतनत के पतन के प्रमुख कारणों की विवेचना कीजिए.

ब्लॉक तीन

इकाई तीन: विजयनगर साम्राज्य, बहमनी साम्राज्य

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 विजयनगर साम्राज्य
 - 3.3.1 विजयनगर साम्राज्य के चार राज्यवंश
 - 3.3.1.1 संगम राज्यवंश (1336-1485)
 - 3.3.1.2 सालुव राज्यवंश (1485-1505)
 - 3.3.1.3 तुलुव राज्यवंश (1505-1570)
 - 3.3.1.4 अरविदु राज्यवंश (1570-1652)
 - 3.3.2 विदेशी यात्रियों के वृत्तांतों में विजयनगर साम्राज्य
 - 3.3.2.1 इब्न बतूता
 - 3.3.2.2 निकोलो डी कॉंटी
 - 3.3.2.3 अब्दुर्रज्जाक
 - 3.3.2.4 दुआर्तो बारबोसा
 - 3.3.2.5 फर्नाओ नुनीज़
 - 3.3.2.6 डोमिंगो पेइस
 - 3.3.3 विजयनगर के शासकों का प्रशासन
 - 3.3.3.1 भू-राजस्व प्रशासन
 - 3.3.3.2 राज्य की ओर से कृषि को प्रोत्साहन
 - 3.3.3.3 अन्य कर
 - 3.3.3.4 व्यापार
 - 3.3.3.5 सिक्के
 - 3.3.3.6 विजयनगर की अर्थ-व्यवस्था में मंदिरों की भूमिका
 - 3.3.3.7 उद्योग एवं व्यवसाय
 - 3.3.3.8 अमीर और गरीब के मध्य खाई
 - 3.3.3.9 न्याय-व्यवस्था
 - 3.3.4 विजयनगर का महानतम शासक कृष्णदेव राय (1509-1529)
 - 3.3.4.1 सैनिक उपलब्धियां
 - 3.3.4.2 महान निर्माता
 - 3.3.4.3 कला तथा साहित्य का संरक्षक

- 3.3.4.4 धार्मिक सहिष्णुता की नीति
- 3.3.4.5 एक शासक के रूप में कृष्णदेव राय का आकलन
- 3.3.4.6 हम्पी
- 3.3 बहमनी साम्राज्य
- 3.4.1 अलाउद्दीन हसन बहमन शाह
- 3.4.2 ताज-उद-दीन फ़िरोज़ शाह (1397-1422)
- 3.4.2.1 विद्वानों का संरक्षक
- 3.4.2.2 एक कुशल प्रशासक
- 3.4.2.3 फ़िरोज़ शाह के सैनिक अभियान
- 3.4.3 अहमद शाह प्रथम
- 3.4.4 महमूद गावां
- 3.4.4.1 बहमनी साम्राज्य की सेवा में प्रवेश
- 3.4.4.2 आंतरिक सुधार
- 3.4.4.3 आंतरिक तथा विदेश व्यापार को बढ़ावा
- 3.4.4.4 एक सेनानायक के रूप में महमूद गावां की उपलब्धियां
- 3.4.4.5 साहित्य, कला तथा शिक्षा का संरक्षक
- 3.4.4.6 महमूद गावां का पतन
- 3.4.5 विजयनगर साम्राज्य तथा बहमनी साम्राज्य तथा उसके उत्तराधिकारी राज्यों के मध्य संघर्ष
- 3.4.5.1 14 वीं तथा 15 वीं शताब्दी में विजयनगर-बहमनी संघर्ष
- 3.4.5.2 कृष्णदेव राय द्वारा बहमनी राज्य के उत्तराधिकारी राज्यों पर विजय
- 3.4.5.3 तालीकोटा का युद्ध
- 3.4.6 बहमनी साम्राज्य की सांस्कृतिक उपलब्धियां
- 3.4.6.1 स्थापत्य कला
- बीदर की मीनाकारी 3.4.6.2
- 3.4.6.3 साहित्य का विकास
- 3.5 सारांश
- 3.6 पारिभाषिक शब्दावली
- 3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ
- 3.9 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

दिल्ली सल्तनत के पराभव-काल में दक्षिण भारत पर लगभग 200 वर्षों तक विजयनगर साम्राज्य तथा बहमनी साम्राज्य का प्रभुत्व रहा। इस काल में दक्षिण भारत में न केवल शांति-व्यवस्था स्थापित रही, अपितु उद्योग एवं व्यापार का अभूतपूर्व विकास हुआ। कला की हर विधा को प्रोत्साहन दिया गया, भाषा और साहित्य का विकास हुआ और सुन्दर तथा भव्य नगरों का निर्माण हुआ। विजयनगर साम्राज्य के सबसे प्रतापी शासक कृष्णदेव राय की गणना भारत के महानतम शासकों में की जाती है। बहमनी साम्राज्य के इतिहास में सुल्तान फ़िरोज़ शाह सफलतम शासक था। बहमनी साम्राज्य के वज़ीर महमूद गावां ने बहमनी साम्राज्य को उसके वैभव तथा उसकी शक्ति की पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया था। किन्तु 16 वीं शताब्दी के प्रारम्भ से परिस्थितियां बदलने लगीं। समुद्र के रास्ते यूरोपीय शक्तियों के भारत में स्थापित हो जाने से और उत्तर भारत में मुगल शासन स्थापित हो जाने से इन दोनों ही दक्षिण भारतीय शक्तियों को हानि हुई।

पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में आपसी कलह तथा बहमनी शासकों की व्यक्तिगत दुर्बलता के कारण बहमनी साम्राज्य का विघटन हुआ और वह बीजापुर, गोलकुंडा, अहमदनगर, बीदर और बरार, इन 5 स्वतंत्र राज्यों में विभक्त हो गया। दूसरी ओर 1565 में बहमनी साम्राज्य से निकले मुस्लिम राज्यों की संयुक्त सेना ने तालीकोटा के युद्ध में विजयनगर के राम राय की सेना को पराजित कर मध्यकाल के सबसे शक्तिशाली तथा समृद्ध हिन्दू राज्य को लगभग नष्ट कर दिया।

अब भारत में भूमि पर आधारित एशियाई शक्तियों और समुद्र पर प्रभुत्व रखने वाली यूरोपीय शक्तियों के मध्य सत्ता हेतु संघर्ष प्रारंभ हो गया। अब विजयनगर तथा बहमनी साम्राज्य जैसी स्थानीय शक्तियां इस सत्ता के संघर्ष में पृष्ठभूमि में चली गईं।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य – दक्षिण भारत में विजयनगर साम्राज्य तथा बहमनी साम्राज्य के उदय से लेकर उनके उत्कर्ष और फिर उनके पतन तक के इतिहास से आपको परिचित कराना है। इस इकाई का अध्ययन कर आप –

8. 14 वीं शताब्दी में मुहम्मद बिन तुगलक़ के साम्राज्य के दक्षिणी भाग में विघटन की प्रक्रिया के रूप में विजयनगर साम्राज्य तथा बहमनी साम्राज्य के उदय की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
9. विजयनगर साम्राज्य के चारों राज्यवंशों के प्रमुख शासकों की प्रशासनिक, आर्थिक, सांस्कृतिक उपलब्धियों तथा उनकी दुर्बलताओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
10. विजयनगर साम्राज्य तथा बहमनी साम्राज्य के मध्य हुए संघर्ष की विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
11. समकालीन विदेशी यात्रियों के वृतांत में विजयनगर साम्राज्य के राजनीतिक, सैनिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
12. विजयनगर साम्राज्य के पतन के कारणों से परिचित हो सकेंगे।
13. बहमनी साम्राज्य के शासकों की प्रशासनिक, आर्थिक, सैनिक तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
14. बहमनी साम्राज्य के विघटन के कारणों से परिचित हो सकेंगे।

3.3 विजयनगर साम्राज्य

3.3.1 विजयनगर साम्राज्य के चार राज्यवंश

विजयनगर को मध्यकाल का प्रथम और महानतम हिन्दू साम्राज्य माना जाता है। इस साम्राज्य की नींव हरिहर तथा बुक्का ने 1336 में, मुहम्मद बिन तुगलक के शासनकाल में रखी थी। विजयनगर साम्राज्य पर चार राज्यवंशों ने शासन किया।

3.3.4.6 संगम राज्यवंश (1336-1485)

- संगम राज्यवंश के संस्थापक वारंगल तथा काकातीय राज्य में सामंत रह चुके हरिहर तथा बुक्का थे। दक्षिण भारत की अराजकतापूर्ण स्थिति का लाभ उठाकर इन दोनों भाइयों ने 1336 में तुंगभद्रा नदी के दक्षिणी किनारे पर विजयनगर की स्थापना की थी और अपने पिता 'संगम' के नाम पर 'संगम राज्यवंश' स्थापित किया। हरिहर प्रथम ने विजयनगर का निर्माण करवाया और प्राचीन नगर बादामी की किलेबंदी करवाई। उसने होयसल राज्य को जीत लिया।

बुक्का प्रथम (1356-1377) ने मदुराई के सुल्तान को पराजित किया था। उसने 1374 में बहमनी साम्राज्य की सेना को भी परास्त किया था। उसके साम्राज्य में तुंगभद्रा-कृष्णा नदी का दोआब, गोवा तथा उड़ीसा सम्मिलित थे। दक्षिण में उसके साम्राज्य का विस्तार सेतुबंध रामेश्वरम तक हो गया। उसने मालाबार के शासक को और जाफ़ना (श्री लंका) के शासक को भेंट देने के लिए विवश किया था। बुक्का राय ने चीन के शासक के पास अपना शिष्ट-मंडल भेजा था। बुक्का राय के उत्तराधिकारी हरिहर द्वितीय ने पूर्वी और पश्चिमी समुद्र तट तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया और समुद्र के मार्ग से होने वाले विदेश-व्यापार से लाभ उठाया।

इसी राज्यवंश के देवराय प्रथम (1406-1422) ने तुंगभद्रा नदी पर तथा हरिद्रा नदी पर बाँध बनवाए। उसने तुंगभद्रा से विजयनगर तक एक जल-प्रणाली का निर्माण कराया जिस से विजयनगर में जल का कोई अभाव नहीं रहा। 'हर विलासम' के रचयिता तेलगु कवि श्री नाथ को देवराय का संरक्षण प्राप्त था। निकोलो कॉंटी नामक इतालवी यात्री, देवराय प्रथम के शासनकाल में ही आया था। देवराय द्वितीय (1422-1446) ने अपने सेना में घुड़सवारी तथा तीरंदाजी में निष्णात 2000 मुस्लिम सैनिकों को भर्ती किया ताकि विजयनगर की सेना, बहमनी सेना के बेहतर घुड़सवारों तथा तीरंदाजों का मुकाबला कर सके। वह आन्ध्र तथा उड़ीसा में अपने साम्राज्य का विस्तार करने में सफल रहा। देवराय द्वितीय के शासनकाल में कला और साहित्य का विकास हुआ। संगम राज्यवंश ने साम्राज्य-विस्तार कर अपने साम्राज्य में तमिल प्रदेश और चेरों (केरल) कर लिया था। रामेश्वरम सहित लगभग पूरा दक्षिण भारत इसके अधिकार में आ चुका था। संगम राज्यवंश का अंतिम शासक विरूपाक्ष द्वितीय (1465-1485) था।

सालुव राज्यवंश (1485-1505)

संगम राज्यवंश के एक मंत्री नरसिंह सालुव ने 1485 में सालुव राज्यवंश की स्थापना की। इस राज्यवंश के नरसा नायक के शासनकाल में वास्कोडिगामा कालीकट के तट पर उतरा था। इम्मादि नरसिंह इस राज्यवंश का अंतिम शासक था।

3.3.4.7 तुलुव राज्यवंश (1505-1570)

तुलुव राज्यवंश की स्थापना वीर नरसिंह देव ने की थी।

महान शासक कृष्णदेव राय, वीर नरसिंह देव का उत्तराधिकारी था। कृष्णदेव राय के शासनकाल की चर्चा अन्यत्र की जाएगी।

3.3.1.4 अरविदु राज्यवंश (1570-1652)

अरविदु राज्यवंश विजयनगर साम्राज्य के पराभव का प्रतीक था और विजयनगर साम्राज्य का अंतिम राज्यवंश था। राज्यवंश का संस्थापक राम राय का भाई तिरुमल था। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक आते-आते विजयनगर साम्राज्य पूर्णतया विनष्ट हो गया।

3.3.2 विदेशी यात्रियों के वृतांतों में विजयनगर साम्राज्य

3.3.2.1 इब्न बतूता

मोरक्को का निवासी, इब्नबतूता 14 वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में दीर्घ काल तक भारत में रहा था। इब्नबतूता ने अपनी पुस्तक – ‘रहला’ में हरिहर प्रथम के शासनकाल का वर्णन किया है।

3.3.2.2 निकोलो डी कॉंटी

निकोलो कॉंटी नामक इतालवी यात्री देवराय प्रथम के शासनकाल में ही आया था। उसकी पुस्तक – ‘ट्रेवल्स ऑफ़ निकोलो कॉंटी’ में विजयनगर के वैभव तथा उसकी समृद्धि का वर्णन किया गया है। निकोलो कॉंटी विजयनगर साम्राज्य की नौ-सैनिक शक्ति का उल्लेख करता है। उसके अनुसार क्विलन, श्री लंका, पूलीकट, पेगू तथा तेन्सिरिम के शासक देरी द्वितीय को कर देते थे। देवराय द्वितीय ने श्री लंका पर तो कई बार आक्रमण किए थे और निकोलो कॉंटी की इस बात पर विश्वास किया जा सकता है कि श्री लंका का शासक देवराय का करद (कर देने वाला) था।

निकोलो कॉंटी ने विजयनगर का कुल घेरा 60 मील (96 किलोमीटर) का, और उसकी प्राचीर का विस्तार पर्वत श्रृंखला तक बताया है। वह नगर में सैनिकों की तथा सैनिक कार्य में निपुण व्यक्तियों का कुल योग 90 हजार बताता है। उसकी दृष्टि में विजयनगर का शासक, भारत का सबसे शक्तिशाली शासक था।

3.3.2.3 अब्दुरज्जाक

तैमूर राज्यवंश के, ईरान के शासक, शाहरुख के राजदूत के रूप में अब्दुरज्जाक, देवराय द्वितीय (1422-1446) के शासनकाल में विजयनगर आया था। वह विजयनगर साम्राज्य की समृद्धि देखकर आश्चर्यचकित रह गया था। अपने ग्रन्थ – ‘सदाइन वा मजमा-उल-बहरैन’ में वह लिखता है –

‘विजयनगर के शाही कोषागार में फ़र्श में गड्ढे करके उनमें पिघला सोना भरा जाता है।’

अनेक देशों में भ्रमण कर चुके अब्दुरज्जाक को भव्यता और समृद्धि की दृष्टि से विजयनगर शहर, विश्व के शीर्षस्थ नगरों में से एक लगा था। अब्दुरज्जाक ने विजयनगर के विदेश व्यापार, आयात-निर्यात आदि के विषय में विस्तार से लिखा है। कालीकट का बंदरगाह विजयनगर का सबसे समृद्ध बंदरगाह था। अब्दुरज्जाक बताता है कि विजय नगर साम्राज्य में कुल 300 बंदरगाह थे। अब्दुरज्जाक तो विजयनगर साम्राज्य के सैनिकों की कुल संख्या लाख बताता है। उसके अनुसार विजयनगर की सुरक्षा के लिए कुल सात विशाल किलों का घेरा बनाया गया था।

अब्दुरज्जाक विजयनगर के बाजारों को हेरात के बाजारों से भी भव्य बताता है। वह महलों तथा बाजारों की स्थापत्यकला और उनकी स्वच्छता से भी बहुत प्रभावित हुआ था। विजयनगर साम्राज्य के विस्तार का वर्णन करते हुए अब्दुरज्जाक कहता है इसका पूरा भ्रमण करने में कुल तीन महीनों का समय लग जाता है।

3.3.2.4 दुआर्तो बारबोसा

पुर्तगाली लेखक तथा अन्वेषक दुआर्तो बारबोसा ने अपनी पुस्तक – ‘एन अकाउंट ऑफ़ कंट्रीज बॉर्डरिंग दि इंडियन ओशन एंड देयर इन्हेबीटेंट्स’ में कृष्णदेव राय के शासनकाल में विजयनगर साम्राज्य के वैभव का उल्लेख किया है। बारबोसा के अनुसार विजयनगर के व्यापारिक जहाजों का निर्माण मालद्वीप में होता था।

3.3.2.5 फर्नाओ नुनीज़

फर्नाओ नुनीज़ एक पुर्तगाली व्यापारी तथा इतिहासकार था। वह अच्युत राय के शासनकाल में विजयनगर में तीन साल रहा था। उसने विजय नगर साम्राज्य के पहले तीन राज्यवंशों के इतिहास पर प्रकाश डाला है। विजयनगर साम्राज्य के प्रमुख नगरों के विषय में वह उपयोगी जानकारी उपलब्ध कराता है। विजयनगर साम्राज्य के सांस्कृतिक पहलुओं पर वह रोचक सामग्री देता है। महिलाओं की वेशभूषा और विजयनगर के शासकों की महिला-अंगरक्षकों तथा उनकी परिचारिकाओं के बारे में भी वह बताता है।

फर्नाओ नुनीज़ ने अपने वृत्तांत में विजयनगर के शासकों के, बहमनी साम्राज्य के साथ हुए युद्धों का विवरण दिया है और विजयनगर के शासकों के उड़ीसा के शासकों से हुए युद्धों का भी उल्लेख किया है।

3.3.2.6 डोमिंगो पेइस

डोमिंगो पेइस एक पुर्तगाली व्यापारी था जो कि एक लेखक तथा अन्वेषक भी था। डोमिंगो पेइस ने अपने यात्रा-वृत्तांत में कृष्णदेव राय के समय हम्पी नगर का विस्तार से वर्णन किया है। पेइस कतार-बद्ध भव्य भवनों, वृक्षों, उद्यानों तथा झीलों से सुसज्जित हम्पी नगर को रोम जितना विशाल और भव्य बताता है। पेइस कहता है कि किसी एक जगह पर खड़े होकर इस विशाल नगर का विहंगम दृश्य देखा ही नहीं जा सकता है। पेइस ने विजयनगर के बाज़ार की भव्यता और उसमें उपलब्ध सामग्री का भी विस्तार से उल्लेख किया है। पेइस ने बीजापुर के आदिलशाह तथा कृष्णदेव राय के मध्य रायचूर में हुए युद्ध का विशद वर्णन किया है और कृष्णदेव राय के पैदल सैनिकों, घुड़सवार सैनिकों तथा उसके लड़ाकू हाथियों की संख्या का उल्लेख भी किया है। कृष्णदेव राय के व्यक्तित्व, उसके दैनिक जीवन तथा उसके राज-काज की शैली पर भी पेइस ने विस्तार से चर्चा की है। कृष्णदेव राय की प्रमुख रानियों का भी वह उल्लेख करता है। पेइस, कृष्णदेव राय की न्याय-प्रियता की प्रशंसा करता है किन्तु उसके आकस्मिक क्रोध की वह आलोचना करता है।

विदेशी अतिथियों का स्वागत-सत्कार करने के लिए पेइस, कृष्णदेव राय की प्रशंसा करता है।

3.3.3 विजयनगर के शासकों का प्रशासन

3.3.3.1 भू-राजस्व प्रशासन

विजयनगर साम्राज्य में भूमि-कर नकदी और उपज के अंश, दोनों ही रूप में लिया जाता था। भू-राजस्व को ‘शिष्ट’ तथा नकदी द्वारा प्राप्त भू-राजस्व को ‘सिद्ध-दाय’ कहा जाता था। राजस्व निर्धारण हेतु भूमि को कई किस्मों में विभाजित किया जाता था। न्यूनतम भू-राजस्व – उपज का 1/6 भाग तथा अधिकतम - उपज का 1/3 भाग होता था किन्तु ब्राह्मणों से भू-राजस्व उपज का मात्र 1/20 और मंदिरों के स्वामित्व वाली खेती योग्य भूमि से उपज का मात्र 1/30 भाग लिया जाता था।

3.3.3.2 राज्य की ओर से कृषि को प्रोत्साहन

विजयनगर साम्राज्य में राज्य की ओर से कृषि-प्रोत्साहन की नीति अपनाई जाती थी. खेती की उन्नति तथा सिंचाई के साधनों में वृद्धि के लिए राज्य की ओर से पूंजी-निवेश किया जाता था. विजयनगर के शासकों की यह दूरगामी नीति थी क्योंकि वो जानते थे कि कृषि-विकास तथा सिंचाई के साधनों में वृद्धि से कृषि-उत्पादन में वृद्धि होगी और स्वाभाविक रूप से इस से भू-राजस्व में वृद्धि होगी.

देवराय प्रथम ने तुंगभद्रा नदी पर एक बाँध बनवाया और उस से नहर निकाल कर विजयनगर की जल-आपूर्ति की तथा आस-पास के क्षेत्रों की कृषि-योग्य भूमि की सिंचाई की व्यवस्था की. इस से सिंचाई-कर के रूप में राज्य को 350,000 पेदाओं की अतिरिक्त आय हुई. कृष्णदेव राय ने कृषि-विकास हेतु अनेक तालाबों तथा नहरों का निर्माण करवाया और जंगल साफ़ करवा कर कृषि-योग्य भूमि का विस्तार किया. इन के परिणाम स्वरूप भू-राजस्व में उल्लेखनीय वृद्धि हुई.

3.3.3.3 अन्य कर

भू-राजस्व की भाँति व्यवसायों तथा क्रय-विक्रय पर भी कर लगाए जाते थे.

नगरों में रहने वालों के मकानों पर भी कर लगाया जाता था. वेश्याओं को भी अपनी आय पर कर देना पड़ता था. अब्दुरज्जाक बताता है कि चुंगी के अधिकारियों द्वारा बिके हुए सामान की कुल कीमत का चालीसवां हिस्सा चुंगी के रूप में लिया जाता था. संपत्ति-कर, व्यवसाय-कर, युद्ध के समय सैन्य-कर, विवाह-कर आदि से भी राज्य को आय होती थी. कृष्णदेव राय ने विवाह-कर को समाप्त कर दिया था.

3.3.3.4 व्यापार

विजयनगर साम्राज्य में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार फलफूल रहा था. बर्मा, चीन, ईरान, ईराक, अरब देश, अफ्रीका में अबीसीनिया और यूरोप में पुर्तगाल से व्यापार होता था.

अब्दुरज्जाक ने विजयनगर के विदेश व्यापार, आयात-निर्यात आदि के विषय में विस्तार से लिखा है. कालीकट का बंदरगाह विजयनगर का सबसे समृद्ध बंदरगाह था. अब्दुरज्जाक बताता है कि विजय नगर साम्राज्य में कुल 300 बंदरगाह थे. निर्यात होने वाली वस्तुओं में कपड़ा, चावल, शोर, लोहा, चीनी एवं मशालें थीं और आयात की जाने वाली वस्तुओं में घोड़े, मोती, ताम्बा, मूंगा, पारा, मखमल, चीन की रेशम आदि प्रमुख थीं.

बारबोसा के अनुसार विजयनगर के व्यापारिक जहाजों का निर्माण मालद्वीप में होता था. विजयनगर साम्राज्य का मलक्का के साथ काली मिर्च का व्यापार होता था.

इतालवी यात्री बार्थेमा (1505) के अनुसार कैम्बे के निकट सूती कपड़ों का प्रचुर मात्रा में उत्पादन होता था और प्रति वर्ष विजयनगर के बंदरगाहों से सूती कपड़े और रेशम से लदे अनेक जहाज विदेशी बाजारों में बिक्री के लिए भेजे जाते थे.

3.3.3.5 सिक्के

विजयनगर साम्राज्य में सोने, चांदी और ताम्बे के सिक्के ढाले जाते थे. सोने के सिक्के - 'बराह' और 'पेदा' कहलाते थे. सोने-चांदी की मिश्रित धातु से बना - 'परतब' 'बराह' के आधे मूल्य के बराबर होता था और इसी मिश्रित धातु से बना - 'फनम' उसके चौथे भाग के मूल्य का होता था. चांदी का सिक्का - 'तार' कहलाता था और ताम्बे का सिक्का - 'दिजतेल' होता था.

बहुमूल्य वस्तुओं की खरीद-फरोख्त के लिए शासन द्वारा प्रमाणित मात्रा की (सील-बंद थैलियों में भरी) 'स्वर्ण-धूलि' का उपयोग भी किया जाता था. तटीय क्षेत्रों में व्यापार विनिमय के लिए विदेशी मुद्राएँ - पुर्तगाली - 'कुञ्जेदो', ईरानी - 'दीनार' तथा इतालवी - 'फ्लोरीन' और 'दुकत' भी उपयोग में लाई जाती थीं.

3.3.3.6 विजयनगर की अर्थ-व्यवस्था में मंदिरों की भूमिका

मंदिरों के पास अथाह संपत्ति होती थी और उस संपत्ति को बढ़ाने के लिए कृषि, उद्योग तथा व्यापार में उसका निवेश भी किया जाता था. मंदिरों की ओर से वस्त्र-उद्योग में प्रचुर मात्रा में धन-निवेश किया जाता था.

3.3.3.7 उद्योग एवं व्यवसाय

विजयनगर में वस्त्र-उद्योग का सर्वाधिक महत्व था. खानों से धातु तथा रत्न निकालना, धातु-शोधन तथा इत्र-निर्माण भी प्रमुख उद्योग थे. शिल्पियों तथा व्यापारियों के अलग-अलग संघ थे.

3.3.3. 8 अमीर और गरीब के मध्य खाई

विदेशी यात्रियों के वृतांतों से यह पता चलता है कि विजयनगर का आभिजात्य वर्ग वैभव और विलासिता का जीवन व्यतीत करता था जब कि आम प्रजा जीवन-यापन के लिए नित्य संघर्षरत रहती थी. प्रजा पर करों का बोझ बहुत अधिक था और अधीनस्थ शासकों तथा राज्य के अधिकारियों द्वारा करों की वसूली बहुत कठोरता के साथ की जाती थी.

3.3.3.9 न्याय-व्यवस्था

विजयनगर साम्राज्य में चार प्रकार के न्यायलय होते थे -

1. तिस्थिता
2. चल
3. मुद्रिता
4. शास्त्रिता

न्याय के सम्बन्ध में 'याज्ञवल्क्य स्मृति', 'पाराशर स्मृति' तथा माधव की न्याय संबंधी टीका में दी गयी व्यवस्थाओं को महत्त्व दिया जाता था. प्राण-दंड, दंड के रूप में अंग-भंग (हाथ अथवा पैर का काटा जाना) का प्रचलन था.

3.3.4 विजयनगर का महानतम शासक कृष्णदेव राय (1509-1529)

3.3.4.1 सैनिक उपलब्धियां

कृष्णदेव राय विजयनगर साम्राज्य का सबसे शक्तिशाली शासक था. सिंहासनारूढ़ होते समय उसे बहमनी साम्राज्य के उत्तराधिकारी राज्यों, उड़ीसा-राज्य तथा पुर्तगालियों के प्रतिरोध का सामना करना पड़ा. पुर्तगालियों की श्रेष्ठ नौ-सैनिक शक्ति को ध्यान में रखकर कृष्णदेव राय ने उनसे प्रायः मधुर सम्बन्ध रखे. उन्हीं के माध्यम से वह अरबी घोटों का

आयात करता था.सात साल के अनवरत संघर्ष के बाद कृष्णदेव राय ने उड़ीसा के गजपति नरेश से कृष्णा नदी तक के सभी क्षेत्र वापस जीत लिए. 1520 में कृष्णदेव राय ने बहमनी साम्राज्य के उत्तराधिकारी राज्यों – बीजापुर, गोलकुंडा, बरार, बीदर की संयुक्त सेनाओं को पराजित किया.

शिव समुद्र के युद्ध में उसने कावेरी नदी के प्रवाह को बदलकर अजेय समझे जाने वाले जल-दुर्ग को जीता था.कृष्णदेव राय की सेना में 10 लाख सैनिक थे. वह अपनी घुड़सवार सेना के लिए पुर्तगाली व्यापारियों के माध्यम से अरबी घोड़े आयात करता था. उसकी हस्ती-सेना भी अत्यंत शक्तिशाली थी जिसमें 651 लड़ाकू हाथी थे.अपने जीवन में उसने किसी भी युद्ध में पराजय का मुख नहीं देखा. मदुरै से लेकर कटक तक उसका प्रभुत्व था.कृष्णदेव राय पराजित शासकों के साथ मानवीयता तथा उदारतापूर्ण व्यवहार करता था.

3.3.4.2 महान निर्माता

कृष्णदेव राय ने विजयनगर के निकट नागलपुर की स्थापना की थी. उसने वहां सहस्र स्तंभों वाला मंडपम बनवाया था और अनेक गोपुरम भी बनवाए थे. उसके द्वारा बनवाया गया विठ्ठलस्वामी मंदिर कलाविदों द्वारा स्थापत्य कला की दृष्टि से अद्वितीय है. रामा स्वामी मंदिर का अलंकरण अत्यंत उत्कृष्ट है और इसमें रामायण की कथा का चित्रण भी है.

3.3.4.3 कला तथा साहित्य का संरक्षक

कृष्णदेव राय स्वयं महान लेखक तथा कवि था. उसका तेलगु महाकाव्य 'अमुक्त माल्यद' तेलगु साहित्य की अमूल्य निधि है. कृष्णदेव राय ने संस्कृत, कन्नड़ तथा तमिल के साहित्यकारों को भी अपना संरक्षण प्रदान किया था.

3.3.4.4 धार्मिक सहिष्णुता की नीति

स्वयं वैष्णव होते हुए भी कृष्णदेव राय ने अपने शासन में सभी धर्मावलम्बियों को अपने-अपने धर्म का पालन करने का अधिकार दे रखा था. जैन, बौद्ध, शैव तथा लिंगायत ही नहीं, मुसलमान, ईसाई और यहूदी भी अपना-अपना धर्म तथा अपनी-अपनी परम्पराओं का निर्वाह करने को स्वतंत्र थे. कृष्णदेव राय के साम्राज्य में व्यापार की दृष्टि से भी सभी धर्मावलम्बियों के साथ एक समान व्यवहार किया जाता था. उसकी सेना में घुड़सवारी में तथा तीरंदाजी में निष्णात, मुस्लिम सैनिकों की बड़ी संख्या में भर्ती की जाती थी.

3.3.4.5 एक शासक के रूप में कृष्णदेव राय का आकलन

कठिन परिस्थियों में सिंहासनारूढ़ होने के बावजूद उसने अपने साम्राज्य में आंतरिक शांति स्थापित की और उसे वाह्य-आक्रमणों से सुरक्षित रखा. बहमनी साम्राज्य के उत्तराधिकारी मुस्लिम राज्यों को पराजित कर वह मध्य-काल के सबसे शक्तिशाली हिन्दू शासक के रूप में प्रतिष्ठित हुआ. बहमनी सुल्तान महमूद शाह को कारगर से मुक्त करा उसने उसे सिंहासनारूढ़ किया जिसके कारण उसे 'यवनराज्य-स्थापनाचार्य' कहा गया.पुर्तगाली यात्री डोमिंगो पेइस ने कृष्णदेव राय के काल में हम्पी के वैभव, विजयनगर साम्राज्य में व्यापार के विकास, कृष्णदेव राय की सैनिक शक्ति आदि का विस्तार से उल्लेख किया है. कला और साहित्य के संरक्षक के रूप में कृष्णदेव राय की चर्चा पहले ही की जा चुकी है. उसके राज्य में 'अष्ट-दिग्गज' के रूप में आठ तेलगु विद्वान प्रतिष्ठित थे. 'आमुक्त माल्यद' में स्वयं उसके राजनीतिक तथा प्रशासकीय विचार संग्रहीत हैं. संस्कृत तथा तेलगु के महा-विद्वान पेड्डन को उसने 'आंध्र-पितामह' की उपाधि से विभूषित किया था. कृष्णदेव राय ने विजयनगर साम्राज्य की समृद्धि तथा उसके गौरव को केवल इतिहास के पन्नों में ही नहीं, अपितु जन-श्रुतियों और लोकगाथाओंके माध्यम से आज भी जीवित रखा है.कृष्णदेव राय के शासन की स्पष्ट

छाप अकबर के शासन पर देखी जा सकती है. कृष्णदेव राय और तेनाली रामा के रोचक प्रसंगों की छाप अकबर-बीरबल के किस्सों पर देखी जा सकती है.

3.3.4.6 हम्पी

तुंगभद्रा नदी के निकट स्थित हम्पी, मध्यकाल में बीजिंग के बाद विश्व का सबसे बड़ा था और भारत का सबसे समृद्ध नगर था. आज इसके 40 वर्ग किलोमीटर से भी अधिक क्षेत्रफल में फैले - मंदिरों, मठों, मंडपों, स्मारकों, महलों, बांधों आदि के 1600 से भी अधिक भग्नावशेष इसकी भव्यता और इसके सौन्दर्य की गाथा कहते हैं.

विरूपाक्ष मंदिर हम्पी का सबसे पुराना मंदिर है. विजयनगर को आदर्श हिन्दू राज्य के रूप में विकसित करने के पीछे कृष्णदेव राय के गुरु संत विद्यारण्य स्वामी का विशेष योगदान था. उनकी स्मृति में विरूपाक्ष मंदिर में उनकी भव्य मूर्ति स्थापित की गयी. हम्पी में ऐहोल-पट्टडकल स्थापत्य शैली के भवनों का प्राचुर्य है किन्तु इसके कमल महल, सार्वजनिक स्नान-गृह तथा हाथी खाने में इंडो-इस्लामिक स्थापत्य कला का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है.

3.4 बहमनी साम्राज्य

3.4.1 अलाउद्दीन हसन बहमन शाह

1347 में मुहम्मद बिन तुगलक के अमीरों (अमीरन-ए-सादाह) ने दकन में विद्रोह कर दिया और दौलताबाद के किले पर अधिकार कर इस्माइल अफ़गान को 'नासिरुद्दीन शाह' को दकन का सुल्तान घोषित कर दिया किन्तु बूढ़ा और अयोग्य नासिरुद्दीन शाह अधिक दिनों तक सुल्तान नहीं रहा और उसका स्थान 'ज़फ़र खान' उपाधि धारी हसन गंगू ने ले लिया. हसन गंगू 'अलाउद्दीन हसन बहमन शाह' के नाम से अगस्त, 1347 को बहमनी साम्राज्य की स्थापना की. अलाउद्दीन हसन बहमन शाह ने गुलबर्गा को अपनी राजधानी बनाया उसने अपने साम्राज्य को चार प्रान्तों – गुलबर्गा, दौलताबाद, बरार तथा बीदर में विभाजित किया.

3.4.2 ताज-उद-दीन फ़िरोज़ शाह (1397-1422)

3.4.2.1 विद्वानों का संरक्षक

फ़िरोज़ शाह को धर्म-शास्त्र की व्याख्याओं, कुरान की शिक्षाओं तथा न्यायशास्त्र में पारंगत था. वह एक श्रेष्ठ कवि तथा एक कुशल खुश-ख़तवीस (सुलेख में पारंगत) था. वह वनस्पति-विज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान, गणित तथा तर्कशास्त्र में भी रूचि रखता था. फ़िरोज़शाह बहमनी साम्राज्य को दकन का सांस्कृतिक केंद्र बनाने के लिए कटिबद्ध था. दिल्ली सल्तनत के विघटन के बाद दिल्ली दरबार के अनेक विद्वान दकन में आकर बस गए थे. सुल्तान ने इन विद्वानों को राज्याश्रय प्रदान किया. इन में ईरानी और तूगानी विद्वान भी सम्मिलित थे. वह स्वयं अरबी, फ़ारसी, तुर्की, तेलगु, कन्नड़ और मराठी में निष्णात था. फ़िरोज़ शाह सभी धर्मों का आदर करता था. फ़िरोज़ शाह दक्षिण को भारत की सांस्कृतिक राजधानी बनाने के लिए प्रयत्नशील रहा. फ़िरोज़ शाह ने पश्चिम-एशियाई देशों – ईरान, ईराक़ तथा अरब देशों के योग्य निवासियों को अपने अमीरों में सम्मिलित किया. इन विदेशी अमीरों को 'अफ़ाक़ी' कहा गया. आगे चलकर स्थानीय दक्कनी अमीरों और अफ़ाक़ी अमीरों के मध्य राजनीतिक प्रभुत्व की लड़ाई होती रही जो कि बहमनी साम्राज्य के पतन का एक मुख्य कारण बना.

3.4.2.2 एक कुशल प्रशासक

प्रशासनिक दृष्टि से फ़िरोज़ शाह दक्कनी ब्राहमणों की योग्यता को बहुत अधिकसम्मान देता था. उसने भू-राजस्व प्रशासन में उनके ज्ञान तथा उनके अनुभव का लाभ उठाने के लिए अपने भू-राजस्व प्रशासन का दायित्व लगभग पूरी

तरह उनको ही सौंप दिया था. दकनी हिन्दुओं के व्यापार के क्षेत्र में अनुभव का भी उसने लाभ उठाया था और अपने साम्राज्य में व्यापार के विकास तथा उसके विस्तार के लिए भी उसने उनकी सेवाएँ प्राप्त की थीं. उसने चौल तथा दाभोल के बंदरगाहों को विकसित करने का विशेष प्रयास किया था क्योंकि यही वो बंदरगाह थे जहाँ से कि फ़ारस की खाड़ी तथा लाल सागर जैसे सुदूर क्षेत्रों से व्यापारिक जहाजों के माध्यम से व्यापार होता था.

3.4.2.3 फ़िरोज़ शाह के सैनिक अभियान

फ़िरोज़ शाह ने विजयनगर के विरुद्ध तीन अभियान – 1398, 1406 तथा 1417 में किए थे. उसने अपने पहले अभियान में विजयनगर को घेरा तो था किन्तु इस अभियान में उसे कोई निर्णायक सफलता नहीं मिली थी. यद्यपि इतिहासकार फ़रिश्ता उसके इस अभियान को अत्यंत सफल बताता है. बरार पर आक्रमण करने वाले खेरला के गोंड राजा नरसिंह राय को उसने आत्म-समर्पण करने के लिए और अपनी बेटी का विवाह उसके साथ करने के लिए विवश किया. नरसिंह राय को अपना अमीर बनाने के बाद उसने खेरला उसे वापस लौटा दिया. तेलंगाना में प्रारंभिक सफलता मिलने के बावजूद वह अंत में वहां असफल रहा. कात्या वैमा के सेनापति अल्लादा रेड्डी ने बहमनी सेनापति अली खान को पराजित कर फ़िरोज़ शाह के तेलंगाना के अभियान को विफल कर दिया. फ़िरोज़ शाह का दूसरा विजयनगर अभियान सफल रहा और पराजित देवराय प्रथम को अपनी पुत्री का विवाह फ़िरोज़ शाह से करने के लिए विवश होना पड़ा. फ़िरोज़ शाह का तीसरा विजयनगर अभियान उसके लिए अत्यंत हानिकारक सिद्ध हुआ. विजयनगर की सेना ने बहमनी सेना को करारी शिकस्त दी. खुद फ़िरोज़ शाह को अपनी जान बचाने के लिए भागना पड़ा. विजयनगर की सेना ने उसके राज्य में घुसकर लूटमार और आगजनी की. अंत में विजयनगर की शर्तों पर फ़िरोज़ शाह को संधि करनी पड़ी. फ़िरोज़ शाह को अपने साम्राज्य के पूर्वी तथा दक्षिणी जिले विजयनगर साम्राज्य को सौंपने पड़े.

इस पराजय से फ़िरोज़ शाह अत्यंत हतोत्साहित हो गया. उसके शासन के अंतिम दो वर्ष एक फ़कीर की तरह गुजरे. अंत में 1422 में उसने अपने अमीरों के दबाव में आकर अपने भाई अहमद शाह के हक़ में अपना तख़्त छोड़ दिया.

3.4.3 अहमद शाह प्रथम

प्रसिद्ध सूफ़ी संत गेसू दराज़ के शागिर्द अहमद शाह प्रथम ने सुल्तान बनते ही दक्षिण भारत के पूर्वी तट पर बहमनी साम्राज्य का प्रभुत्व स्थापित करने के लिए प्रयास किया. उसने वारंगल पर चढ़ाई कर वहां के शासक को पराजित किया और उसकी हत्या कर वारंगल के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया और दक्षिण पर बेहतर नियंत्रण के उद्देश्य से अपनी राजधानी गुलबर्गा से बीदर को स्थानांतरित कर दी. इसके बाद उसने साम्राज्य-विस्तार के लिए मालवा, गोंडवाना तथा कोंकण की ओर अपने अभियान किए.

3.4.5 महमूद गावां

3.4.4.1 बहमनी साम्राज्य की सेवा में प्रवेश

ख्वाजा महमूद जिलानी, ईरान के गावां का रहने वाला था. वह इस्लाम के धर्म-शास्त्र, फ़ारसी भाषा और गणित का विद्वान था. वह एक प्रतिष्ठित कवि और लेखक भी था. वह बहमनी सुल्तान महमूद शाह तृतीय (1463-1482) का वज़ीर था. अपनी बुद्धिमत्ता और अपने प्रशासनिक कौशल से उसने बहमनी सुल्तानों, बहमनी सल्तनत की प्रजा का विश्वास तो प्राप्त किया ही, विदेशी राज्यों में उसका अत्यधिक सम्मान था. उसने बहमनी साम्राज्य के ईरान, ईराक़, मिस्र, तथा जीलान के शासकों के साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया था. वह एक सफल सेनानायक, कुशल प्रशासक, विद्वान तथा साहित्य व कला का संरक्षक था. बहमनी सुल्तान से महमूद गावां का प्रथम परिचय एक

ईरानी व्यापारी के रूप में हुआ था बहमनी सुल्तान ने अपने साम्राज्य में व्यापार का विकास करने में उसकी सेवाओं का लाभ उठाया एक सेनानायक के रूप में उसकी योग्यता से प्रभावित होकर सुल्तान हुमायूँ शाह ने अपने सेवा में लिया था वयस्क शासक निज़ाम शाह का संरक्षक बना और सत्ता की -हुमायूँ शाह की मृत्यु के बाद वह अल्प . वर्ष का बालक मुहम्मद शाह तृतीय 9 में मृत्यु के बाद 1463 निज़ाम शाह की . वास्तविक बागडोर उसके हाथ में रही . बनाया गया सुल्तान बना जिसका वज़ीर महमूद गावांरूसी यात्री अथनासियस निकितिन ने बीदर की यात्रा के अपने वर्णन में महमूद गावां के राजनीतिक प्रभाव तथा उसके वैभव का उल्लेख किया है वह बताता है कि उसके महल की . मशालची नियुक्त थे 10 बंद सैनिक तथा-हथियार 100 रक्षा करने के लिए

3.4.4.2 आंतरिक सुधार

महमूद गावां एक कुशल प्रशासक था. उसने बहमनी साम्राज्य को आठ प्रान्तों में विभाजित किया. प्रत्येक प्रान्त ('तरफ़') के प्रशासक को 'तरफ़दार' कहा जाता था उसको घुड़सवार सेना रखने के लिए अलग से धन दिया जाता था और उसका अपना वेतन नकदी व जागीर उसे दोनों ही रूपों में दिया जाता था. प्रान्त-पतियों अर्थात् तरफ़दारों द्वारा विद्रोह की सम्भावना को रोकने के लिए उसने उनकी शक्ति को कम किया और प्रान्तों के किलेदारों की नियुक्ति का अधिकार केन्द्रीय-शक्ति के पास ही रक्खा गया. सुल्तान के स्वामित्व की भूमि को 'खालसा' कहा जाता था. लगान-निर्धारण के लिए महमूद गावां ने भूमि की नाप-जोख की व्यवस्था को पुनर्प्रचलित किया. महमूद गावां के भू-राजस्व संबंधी सुधारों की छाप हमको राजा टोडरमल के भू-राजस्व विषयक सुधारों में दिखाई देती है.

3.4.4.3 आंतरिक तथा विदेश व्यापार को बढ़ावा

महमूद गावां व्यापार और वाणिज्य के विकास को सल्तनत के स्थायित्व के लिए आवश्यक समझता था. उसने ईरान, ईराक़, मिस्र आदि देशों से कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर उन से बहमनी साम्राज्य के लिए व्यापारिक सम्बन्ध भी बनाए. उसने चौल तथा दभोल के बंदरगाहों को विकसित कर वहां से फ़ारस की खाड़ी और लाल सागर से आने वाले और वहां जाने वाले व्यापारिक जहाजों के निर्बाध आवागमन की सुविधा उपलब्ध कर व्यापारिक साम्राज्य में गतिविधियों को बढ़ावा दिया. विजयनगर साम्राज्य से गोवा छीनकर उसने वहां से अरब देशों से होने वाले व्यापार का लाभ भी बहमनी साम्राज्य को उपलब्ध कराया.

3.4.4.4 एक सेनानायक के रूप में महमूद गावां की उपलब्धियां

बहमनी सल्तनत के लिए खेलना के राजा राव राणा शंकर राव सुर्वे तथा संगामेश्वर के राजा राव राणा नीलकांत राव सुर्वे बहुत बड़े सरदर बन गए थे. उनके जहाजी बेड़े, मक्का जाने वाले तीर्थ-यात्रियों तथा व्यापारियों को लूटते थे. महमूद गावां ने उनका दमन किया. महमूद गावां ने विजयनगर साम्राज्य से गोवा छीन लिया. विजयनगर के विरुद्ध अभियान के दौरान उसने कांची पर अधिकार कर लिया. उसने कोंकन, संगामेश्वर, उड़ीसा तथा विजयनगर के विरुद्ध सफल अभियानों का नेतृत्व किया. पश्चिमी समुद्र तट पर अधिकार करने के बाद बहमनी साम्राज्य के विदेश-व्यापार को विस्तार करने की अपरिमित संभावनाएं प्राप्त हुईं. कृष्णा-गोदावरी क्षेत्र पर भी बहमनी साम्राज्य का अधिकार कराने में महमूद गावां का ही योगदान था. इस से बहमनी साम्राज्य का विस्तार पूर्व में भी समुद्र तट तक हो गया. महमूद गावां ने गुजरात के शासक के साथ मिलकर मालवा के शासक द्वारा बरार को अपने अधिकार में करने के प्रयास को विफल कर दिया. महमूद गावां ने बहमनी साम्राज्य के लिए बीदर और दौलताबाद जैसे उपजाऊ क्षेत्रों पर अधिकार कर

साम्राज्य के राजस्व में वृद्धि की. उड़ीसा और विजयनगर के मध्य आपसी संघर्ष का भी महमूद गावां ने बहमनी साम्राज्य के लिए लाभ उठाया.

3.4.4.5 साहित्य, कला तथा शिक्षा का संरक्षक

महमूद गावां के पत्रों का संग्रह – ‘रियाजुल-इंशा’ का साहित्यिक तथा राजनीतिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्व है. उसने फ़ारसी उच्चारण पर – ‘मनाज़िर-उल-इंशा’ शीर्षक ग्रन्थ की रचना की थी. महमूद गावां ने बीदर में एक भव्य मदरसा स्थापित किया जिसे ‘महमूद गावां मदरसा’ के नाम से जाना जाता है. मेडो टेलर ने इस मदरसे को बहमनी साम्राज्य की सबसे भव्य इमारत कहा है. यह मदरसा बहमनी स्थापत्य कला के उत्कर्ष को दर्शाता है. 242 फुट लम्बे, 222 फुट चौड़े और 56 फुट ऊंचे इस तीन-मंजिला भवन के चारों कोनों में स्थित 100-100 फुट की मीनारें, इसका भव्य प्रवेश द्वार, इसका विशाल सभा-कक्ष, इसके नीले टाइल्स और इसके खूबसूरत गुम्बद, और मदरसे से लगी हुई जामा मस्जिद, समरकंद की इमारतों की याद दिलाते हैं. महमूद गावां के इस मदरसे में वैज्ञानिकों, दार्शनिकों और धर्म-विशेषज्ञों को उस्ताद के रूप में नियुक्त किया गया था. इस मदरसे में 1000 शिक्षकों तथा विद्यार्थियों के रहने की व्यवस्था थी. इस मदरसे में शिक्षकों तथा विद्यार्थियों के रहने, खाने-पीने की, तथा वस्त्र आदि की व्यवस्था, राज्य की ओर से की जाती थी. अपने समय की इस महान शिक्षण संस्था के पुस्तकालय में 3000 पांडुलिपियाँ संग्रहीत थीं. महमूद गावां के निमंत्रण पर इस मदरसे में ईरान तथा ईराक से आए अनेक विद्वान उस्ताद नियुक्त किए गए थे.

3.4.4.6 महमूद गावां का पतन

महमूद गावां ‘अफ़ाक़ी’ अमीर था अर्थात् वह एक विदेशी मूल का अमीर था. बहमनी साम्राज्य के स्थानीय अर्थात् दक्कनी अमीर, साम्राज्य में ‘अफ़ाक़ी’ अमीरों को घुसपैठिया मानते थे और उनके बढ़ते हुए राजनीतिक प्रभाव से बहुत नाराज़ रहते थे. बहमनी साम्राज्य में अमीरों के इन दो वर्गों में एक-दूसरे पर हावी होने के लिए निरंतर संघर्ष चलता रहता था. अहमदशाह प्रथम के शासनकाल में बहमनी साम्राज्य को गुजरात-राज्य से तीन बार हार का सामना करना पड़ा था. महमूद गावां इन पराजयों के लिए दक्कनी अमीरों की कायरता और उनके विश्वासघात को ज़िम्मेदार मानता था जब कि दक्कनी अमीर इन पराजयों के लिए महमूद गावां को ज़िम्मेदार ठहराते थे. अंततः महमूद गावां को दक्कनी अमीरों के असंतोष और उनके कोप का भाजन बनना पड़ा. महमूद गावां की उपलब्धियों से ईर्ष्या रखने वाले अमीरों ने उसके विरुद्ध साज़िश रची. इस षड्यंत्र में ज़रीफुल-मुल्क दक्कनी तथा मिफ़ताह हबाशी मुख्य थे. उन्होंने महमूद गावां की ओर से सुल्तान के विरुद्ध एक जाली दस्तावेज़ तैयार करवाया और उसे सुल्तान के सामने पेश कर दिया. नशे की हालत में क्रुद्ध सुल्तान ने महमूद गावां के प्राण-दंड का आदेश दे दिया अपने प्राण-दंड का आदेश सुनकर महमूद गावां विचलित नहीं हुआ उसका निम्न कथन उसकी चारित्रिक दृढ़ता और बहमनी साम्राज्य के प्रति उसकी निष्ठा को व्यक्त करता है – ‘मैं बूढ़ा हूँ और मुझे अपनी मृत्यु की कोई चिंता नहीं है, मौत तो एक न एक दिन आनी ही है, यह हमारी नियति है. मैं खुदा का शुक्रगुज़ार हूँ कि उसने मुझे इस राज्यवंश की सेवा में अपना जीवन अर्पित करने का अवसर प्रदान किया.’

और इस प्रकार 5 अप्रैल, 1481 में निर्दोष महमूद गावां की दुखद मृत्यु हुई. सुल्तान को बाद में अपनी गलती का एहसास हुआ. उसने अपने वज़ीर को सम्पूर्ण शाही सम्मान के साथ दफ़नाये जाने की व्यवस्था की किन्तु इस से बहमनी सल्तनत के विघटन को तो नहीं रोका जा सकता था. महमूद गावां की मृत्यु के साथ ही बहमनी सल्तनत में दलगत

संघर्ष उग्र हो गया और साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ हो गयी और शीघ्र ही बहमनी साम्राज्य 5 स्वतंत्र राज्यों – गोलकुंडा, बीजापुर, अहमदनगर, बरार तथा बीदर में विभाजित हो गया.

3.4.5 विजयनगर साम्राज्य तथा बहमनी साम्राज्य तथा उसके उत्तराधिकारी राज्यों के मध्य संघर्ष

3.4.5.1 14 वीं तथा 15 वीं शताब्दी में विजयनगर-बहमनी संघर्ष

तुंगभद्रा-कृष्णा के दोआब, कृष्णा-कावेरी घाटी तथा मराठवाड़ा पर प्रभुत्व स्थापित करने की होड़ में विजयनगर साम्राज्य तथा बहमनी साम्राज्य के मध्य आए दिन युद्ध होते रहते थे. इन क्षेत्रों का समुद्र-व्यापार तथा कृषि-उत्पादन की दृष्टि से अत्यंत महत्व था. 1367 में तुंगभद्रा-कृष्णा दोआब पर अधिकार करने के उद्देश्य से बुक्का प्रथम ने मुदकल के किले पर आक्रमण कर दिया. इसके जवाब में बहमनी सुल्तान ने विजयनगर पर आक्रमण कर बुक्का प्रथम को पराजित किया किन्तु दोनों पक्षों के मध्य युद्ध जारी रहा. दोनों पक्षों में युद्ध हुआ जिसमें पहली बार दोनों पक्षों द्वारा तोपों का प्रयोग हुआ. अपनी बेहतर घुड़सवार सेना और अधिक सक्षम तोपखाने के कारण बहमनी सेना की जीत हुई किन्तु यह निर्णायक सिद्ध नहीं हुई. अंत में दोनों पक्ष एक संधि के बाद तुंगभद्रा-कृष्णा दोआब को आपस में बांटने को तैयार हो गए.

हरिहर द्वितीय ने पूर्व में साम्राज्य-विस्तार की नीति अपनाई. सैनिक दृष्टि से उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि बहमनी साम्राज्य के अधिकार वाले गोवा तथा बेलगाँव को उनसे छीनकर उन पर अधिकार करना था. देवराय प्रथम (1406-1422) को बहमनी शासक फ़िरोज शाह ने तुंगभद्रा दोआब पर अधिकार करने के विवाद से हुए युद्ध में पराजित किया था उसे अपनी बेटी का उस से विवाह करने के लिए विवश किया. दोनों पक्षों में संधि हुई किन्तु वह स्थायी नहीं रही और अंततः देवराय प्रथम ने कृष्णा नदी के मुहाने तक के क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया.

3.4.5.2 कृष्णदेव राय द्वारा बहमनी राज्य के उत्तराधिकारी राज्यों पर विजय

कृष्णदेव राय के काल तक बहमनी साम्राज्य का 5 स्वतंत्र राज्यों – गोलकुंडा, बीजापुर, बीदर, बरार और अहमदनगर में विभाजन हो गया था. जब कृष्णदेव राय उड़ीसा के गजपति से युद्ध में उलझा हुआ था तो गोलकुंडा के शासक कुली कुतुब शाह ने पंगल तथा गुंटूर पर अधिकार कर लिया. उसने उड़ीसा के गजपति को कृष्णा तथा गोदावरी के मध्य का क्षेत्र भी उसे सौंपने के लिए विवश किया और विजयनगर के कई क्षेत्रों पर अधिकार करने की उसने चेष्टा की. किन्तु कृष्णदेव राय द्वारा सलुव तिम्मा के नेत्रित्व में भेजी गयी सेना ने उसे पराजित किया. कृष्णदेव राय ने 1512 में बीजापुर के इस्माइल आदिल खान को पराजित कर रायचूर के किले पर अधिकार कर लिया. 1520 में एक निर्णायक युद्ध में विजयनगर ने बीजापुर को पुनः परास्त किया और कृष्णदेव राय ने इस्माइल आदिल खान द्वारा गुलबर्गा के किले में कैद महमूद शाह द्वितीय को सिंहासनारूढ़ किया. कृष्णदेव राय को 'यवनराज्य-स्थापनाचार्य' की उपाधि दी गयी.

3.4.5.3 तालीकोटा का युद्ध

1565 का तालीकोटा का युद्ध विजयनगर साम्राज्य के लिए काल बनकर आया था. बहमनी साम्राज्य के उत्तराधिकारी मुस्लिम राज्यों – बीजापुर, गोलकुंडा, अहमदनगर, बीदर और बरार की संयुक्त सेना ने राम राय के नेतृत्व में विजयनगर की सेना को पराजित किया और राम राय को पकड़कर उसे मार डाला. विजयी सेना ने हम्पी में प्रवेश किया और फिर 5 महीनों तक लूटमार, आगजनी और विनाश की लीला चलती रही. वो हम्पी जो कि सारे विश्व में अपनी भव्यता, अपने महलों, अपने मंदिरों, अपनी झीलों, अपने उद्यानों और अपने किलों के लिए प्रसिद्ध था, आज वहां हमको केवल खंडहर ही देखने को मिलते हैं.

3.4.6 बहमनी साम्राज्य की सांस्कृतिक उपलब्धियां

3.4.6.1 स्थापत्य कला

बहमनी साम्राज्य की इमारतें मध्य कालीन स्थापत्य कला के उत्कर्ष को दर्शाती हैं. बहमनी सुल्तानों तथा उनके अधीनस्थ अधिकारियों ने अनेक भवनों का निर्माण करवाया था. इन में गुलबर्गा तथा बीदर के शाही महल, गुलबर्गा की जामी मस्जिद, सूफी संत गेसू दराज की मजार, चार प्रवेश द्वारों वाला फ़िरोज़ शाह का महल, मुहम्मद आदिल शाह का मक़बरा, दौलताबाद की चाँद मीनार, बीजापुर का गोल-गुम्बद, गोलकुंडा का किला तथा दौलताबाद का किला उल्लेखनीय हैं. बीजापुर का गोल गुम्बद तो मध्यकालीन स्थापत्य कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में गिना जाता है. बहमनी स्थापत्य कला में तुर्की, ईरानी, तूरानी, अरबी तथा हिन्दू स्थापत्य कला सुन्दर समन्वय है. मुग़ल काल की अनेक इमारतों में बहमनी स्थापत्य कला का प्रभाव देखा जा सकता है. सिकंदरा में स्थित अकबर के मकबरे के प्रवेश द्वार में बहमनी काल में बने हुए प्रवेश द्वारों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है.

3.4.6.2 बीदर की मीनाकारी

बीदर की मीनाकारी विश्व-प्रसिद्ध है. ताम्बे और चांदी पर पच्चीकारी की कला का नाम ही 'बीदरी कला' पड़ गया.

3.4.6.3 साहित्य का विकास

बहमनी साम्राज्य में साहित्य का उल्लेखनीय विकास हुआ. बहमनी शासक साहित्यकारों के पोषक थे और अनेक सुल्तान तो स्वयं साहित्यकार थे. इसी प्रकार बहमनी साम्राज्य के इतिहास का सबसे योग्य व्यक्ति महमूद गावां भी स्वयं साहित्यकार था और साहित्यकारों का पोषक भी था. प्रसिद्ध सूफी संत गेसू दराज बन्दानवाज़ ने 'किताब-उल-आशिकीन' की रचना की थी. गेसू दराज एक प्रतिष्ठित शायर भी थे और उनका दीवान भी काव्यात्मक दृष्टि से उच्च कोटि का है. शाहबुद्दीन अहमद दौलताबादी रचित – 'बहरे-मारवाज़' और मुल्ला दाउद बीदरी का इतिहास ग्रन्थ – तुहफ़त-उस-सलातीन भी उल्लेखनीय हैं. बहमनी शासकों ने फ़ारसी साहित्य को भी प्रोत्साहन दिया. दक्कनी उर्दू के विकास में उनका योगदान अमूल्य है. महमूद गावां स्वयं फ़ारसी का लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार था. उसने 'रियाजुल-इंशा' तथा 'मनासिर-उल-इंशा' की रचना की थी. बहमनी साम्राज्य के पतन के कारण

1. अधिकांश बहमनी सुल्तान विलासी थे और शासक के कर्तव्यों के प्रति प्रायः उदासीन रहते थे.
2. विजयनगर साम्राज्य से निरंतर युद्ध की स्थिति ने बहमनी साम्राज्य और विजयनगर साम्राज्य, दोनों को ही सामान रूप से हानि पहुंचाई. इस युद्ध की स्थिति के कारण बहमनी सुल्तान अपने राज्य का समुचित प्रबंध करने में प्रायः असफल रहे.

3. बहमनी सुल्तान स्वयं को ईरानी मूल का कहलाने में गर्व करते थे. उन्होंने अपने राज्य में विदेशी मूल के अमीरों को उच्च पदों पर नियुक्त किया था जो कि स्थानीय दक्कनी अमीरों को स्वीकार्य नहीं था. जब भी कोई दुर्बल सुल्तान तख्त पर बैठता था तब यह विदेशी-दक्कनी अमीरों का संघर्ष और मुखर हो जाता था. ईरानी अमीर महमूद गावां का पतन इसी विदेशी और दक्कनी अमीरों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का परिणाम था.
4. बहमनी सुल्तानों ने हिन्दू प्रजा के प्रति सहिष्णुता की नीति नहीं अपनाई थी. बहमनी साम्राज्य के पतन के लिए हिन्दू प्रतिरोध भी एक मुख्य कारण था.
5. महमूद गावां की मृत्यु के बाद केन्द्रीय शक्ति का स्थानीय शक्तियों पर से नियंत्रण उठ गया.
6. उत्तराधिकार के नियमों का स्पष्ट न होना भी बहमनी साम्राज्य के पतन का एक कारण था. शहजादों को सैनिक प्रशिक्षण तथा प्रशासनिक प्रशिक्षण दिए जाने की समुचित व्यवस्था नहीं थी इसलिए प्रायः नया सुल्तान प्रशासनिक और सैनिक मामलों में एक नौसिखिया ही होता था और अक्सर वह शक्तिशाली अमीरों के हाथों की कठपुतली बन कर रह जाता था.

3.5 सारांश

विजयनगर को मध्यकाल का प्रथम और महानतम हिन्दू साम्राज्य माना जाता है. इस साम्राज्य की नींव हरिहर तथा बुक्का ने 1336 में, मुहम्मद बिन तुगलक के शासनकाल में रखी थी. विजयनगर साम्राज्य पर चार राज्यवंशों ने शासन किया.

1. संगम राज्यवंश (1336-1485)
2. सालुव राज्यवंश (1485-1505)
3. तुलुव राज्यवंश (1505-1570)
4. अरविदु राज्यवंश (1570-1652)

बुक्का प्रथम संगम राज्यवंश का एक महान शासक था. उसके साम्राज्य में तुंगभद्रा-कृष्णा नदी का दोआब, गोवा तथा उड़ीसा सम्मिलित थे. हरिहर द्वितीय ने पूर्वी और पश्चिमी समुद्र तट तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया. इसी राज्यवंश के देवराय प्रथम (1406-1422) ने तुंगभद्रा नदी पर बाँध बनवाया था. देवराय द्वितीय के शासनकाल में कला और साहित्य का विकास हुआ. संगम राज्यवंश ने साम्राज्य-विस्तार कर अपने साम्राज्य में तमिल प्रदेश और चेरों (केरल) कर लिया था.

सालुव राज्यवंश के नरसा नायक के शासनकाल में वास्कोडिगामा कालीकट के तट पर उतरा था. तुलुव राज्यवंश का कृष्णदेव राय, एक महान शासक, सफल प्रशासक, विजेता, विद्वान लेखक, महान नगर एवं भवन निर्माता, कला और साहित्य का संरक्षक था. उसके शासनकाल में विजयनगर साम्राज्य अपनी उन्नति के शिखर पर पहुंचा था. 1565 में तालीकोटा के युद्ध में विजयनगर के राम राय को बहमनी साम्राज्य के उत्तराधिकारी राज्यों की संयुक्त सेना ने पराजित किया. इसके बाद विजयनगर साम्राज्य का पतन हो गया.

अरविदु राज्यवंश विजयनगर साम्राज्य का अंतिम राज्यवंश था. सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक आते-आते विजयनगर साम्राज्य पूर्णतया विनष्ट हो गया. विदेशी यात्रियों के वृतांतों में विजयनगर साम्राज्य के वैभव का विस्तार से वर्णन मिलता है. इब्नबतूता, निकोलो कोंटी, अब्दुरज्जाक, दुआर्तो बारबोसा, फर्नाओ नुनीज़ और डोमिंगो पेड्रस ने विभिन्न

शासकों के काल में विजयनगर साम्राज्य के कुशल प्रशासन, उसकी विशाल सेना, उसके वैभव, उसके नगरों, उसके शासकों की धार्मिक सहिष्णुता की नीति, उसके उन्नत व्यापार तथा उसकी कलात्मक उपलब्धियों की विस्तार से चर्चा की है. विजयनगर साम्राज्य में भूमि-कर नकदी और उपज के अंश, दोनों ही रूप में लिया जाता था. न्यूनतम भू-राजस्व – उपज का 1/6 भाग तथा अधिकतम - उपज का 1/3 भाग होता था. विजयनगर साम्राज्य में राज्य की ओर से कृषि-प्रोत्साहन की नीति अपनाई जाती थी. खेती की उन्नति तथा सिंचाई के साधनों में वृद्धि के लिए राज्य की ओर से पूंजी-निवेश किया जाता था. देवराय प्रथम ने तुंगभद्रा नदी तथा हरिद्रा नदी पर बाँध बनवाए. कृष्णदेव राय ने कृषिविकास - हेतु अनेक तालाबों तथा नहरों का निर्माण करवाया और जंगल साफ़ करवा कर कृषि .योग्य भूमि का विस्तार किया- भू-राजस्व की भाँति व्यवसायों तथा क्रय-विक्रय पर भी कर लगाए जाते थे. विजयनगर साम्राज्य में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार फल-फूल रहा था. कालीकट का बंदरगाह विजयनगर का सबसे समृद्ध बंदरगाह था. विजयनगर में वस्त्र-उद्योग का सर्वाधिक महत्व था. तुंगभद्रा नदी के निकट स्थित हम्पी मध्यकाल में बीजिंग के बाद विश्व का सबसे बड़ा , नगर था और भारत का सबसे समृद्ध नगर था .हम्पी के भग्नावशेष उसकी उत्कृष्ट कला के सजीव प्रमाण हैं .

1347 में हसन गंगू ने ‘अलाउद्दीन हसन बहमन शाह’ के नाम से अगस्त, 1347 को बहमनी साम्राज्य की स्थापना की. उसने गुलबर्गा को अपनी राजधानी बनाया और अपने साम्राज्य को चार प्रान्तों – गुलबर्गा, दौलताबाद, बरार तथा बीदर में विभाजित किया. फ़िरोज़ शाह बहमनी साम्राज्य का सबसे महान शासक था. वह एक कुशल प्रशासक तथा महान विजेता था. उसने चौल तथा दाभोल के बंदरगाहों को विकसित करने का विशेष प्रयास किया था. फ़िरोज़ शाह बहमनी साम्राज्य को दकन का सांस्कृतिक केंद्र बनाने के लिए कटिबद्ध था. फ़िरोज़ शाह सभी धर्मों का आदर करता था. ईरान से आया हुआ एक व्यापारी ख्वाजा महमूद गावां बहमनी सुल्तान महमूद शाह तृतीय (1463-1482) का वज़ीर था. वह एक सफल सेनानायक, कुशल प्रशासक, विद्वान तथा साहित्य व कला का संरक्षक था. महमूद गावां एक कुशल प्रशासक था. उसके भू-राजस्व संबंधी सुधारों की छाप हमको राजा टोडरमल के भू-राजस्व विषयक सुधारों में दिखाई देती है. महमूद गावां व्यापार और वाणिज्य के विकास को सल्लनत के स्थायित्व के लिए आवश्यक समझता था. उसने चौल तथा दभोल के बंदरगाहों को विकसित कर वहां से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा दिया.

महमूद गावां ने विजयनगर साम्राज्य से गोवा छीनकर उसने वहां से अरब देशों से होने वाले व्यापार का लाभ भी बहमनी साम्राज्य को उपलब्ध कराया. कृष्णा-गोदावरी क्षेत्र पर भी बहमनी साम्राज्य का अधिकार कराने में महमूद गावां का ही योगदान था. महमूद गावां के पत्रों का संग्रह – ‘रियाजुल-इंशा’ का साहित्यिक तथा राजनीतिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्व है यह मदरसा बहमनी स्थापत्य कला के .महमूद गावां ने बीदर में एक भव्य मदरसा स्थापित किया . पांडुलिपियाँ संग्रहीत थी 3000 अपने समय की इस महान शिक्षण संस्था के पुस्तकालय में .उत्कर्ष को दर्शाता है . महमूद गावां अमीरों ‘अफ़ाक़ी’ साम्राज्य में ,बहमनी साम्राज्य के स्थानीय अर्थात् दक्कनी अमीर .अमीर था ‘अफ़ाक़ी’ महमूद गावां की मृत्यु के साथ ही .पतन हुआ दक्कनी अमीरों की साज़िश के तहत उसका .को घुसपैठिया मानते थे बहमनी सल्लनत में दलगत संघर्ष उग्र हो गया और साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ हो गयी .

तुंगभद्रा-कृष्णा के दोआब, कृष्णा-कावेरी घाटी तथा मराठवाड़ा पर प्रभुत्व स्थापित करने की होड़ में विजयनगर साम्राज्य तथा बहमनी साम्राज्य के मध्य आए दिन युद्ध होते रहते थे. हरिहर द्वितीय ने बहमनी साम्राज्य के अधिकार वाले गोवा तथा बेलगाँव को उनसे छीनकर उन पर अधिकार कर लिया. देवराय प्रथम (1406-1422) को बहमनी

शासक फ़िरोज़ शाह ने तुंगभद्रा दोआब पर अधिकार करने के विवाद से हुए युद्ध में पराजित किया था। कृष्णदेव राय के काल तक बहमनी साम्राज्य का 5 स्वतंत्र राज्यों – गोलकुंडा, बीजापुर, बीदर, बरार और अहमदनगर में विभाजन हो गया था। 1520 में एक निर्णायक युद्ध में विजयनगर ने बीजापुर को परास्त किया और कृष्णदेव राय ने इस्माइल आदिल खान द्वारा गुलबर्गा के किले में कैद महमूद शाह द्वितीय को सिंहासनारूढ़ किया। का तालीकोटा का 1565 – बहमनी साम्राज्य के उत्तराधिकारी मुस्लिम राज्यों .युद्ध विजयनगर साम्राज्य के लिए काल बनकर आया था बीदर और बरार की संयुक्त सेना ने राम राय के नेतृत्व में विजयनगर की सेना को ,अहमदनगर ,गोलकुंडा ,बीजापुर .पराजित किया

बहमनी सुल्तानों तथा उनके अधीनस्थ अधिकारियों ने अनेक भवनों का निर्माण करवाया था। इन में गुलबर्गा तथा बीदर के शाही महल, गुलबर्गा की जामी मस्जिद, सूफी संत गेसू दराज़ की मज़ार, चार प्रवेश द्वारों वाला फ़िरोज़ शाह का महल, मुहम्मद आदिल शाह का मक़बरा, दौलताबाद की चाँद मीनार, बीजापुर का गोल-गुम्बद, गोलकुंडा का किला तथा दौलताबाद का किला उल्लेखनीय हैं। बीजापुर का गोल गुम्बद तो मध्यकालीन स्थापत्य कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में गिना जाता है। बीदर की मीनाकारी विश्व-प्रसिद्ध है। बहमनी शासक साहित्यकारों के पोषक थे और अनेक सुल्तान तो स्वयं साहित्यकार थे। इसी प्रकार बहमनी साम्राज्य के इतिहास का सबसे योग्य व्यक्ति महमूद गावां भी स्वयं साहित्यकार था और साहित्यकारों का पोषक भी था। शाहबुद्दीन अहमद दौलताबादी रचित – ‘बहरे-मारवाज़’ और मुल्ला दाउद बीदरी का इतिहास ग्रन्थ – तुहफ़त-उस-सलातीन भी उल्लेखनीय हैं। महमूद गावां स्वयं फ़ारसी का लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार था। उसने ‘रियाजुल-इंशा’ तथा ‘मनासिर-उल-इंशा’ की रचना की थी।

बहमनी साम्राज्य के पतन का एक मुख्य कारण अधिकांश बहमनी सुल्तानों का विलासी होना था। विजयनगर साम्राज्य से निरंतर युद्ध की स्थिति ने बहमनी साम्राज्य और विजयनगर साम्राज्य, दोनों को ही सामान रूप से हानि पहुंचाई। इस युद्ध की स्थिति के कारण बहमनी सुल्तान अपने राज्य का समुचित प्रबंध करने में प्रायः असफल रहे। उत्तराधिकार के नियमों का स्पष्ट न होना भी बहमनी साम्राज्य के पतन का एक कारण था। शहजादों को सैनिक प्रशिक्षण तथा प्रशासनिक प्रशिक्षण दिए जाने की समुचित व्यवस्था नहीं थी। विदेशी और दक्कनी अमीरों का आपसी संघर्ष बहमनी साम्राज्य के पतन का एक प्रमुख कारण था। बहमनी सुल्तानों ने हिन्दू प्रजा के प्रति सहिष्णुता की नीति नहीं अपनाई थी। महमूद गावां की हत्या बहमनी साम्राज्य के विघटन का मुख्य कारण था।

3.6 पारिभाषिक शब्दावली

हेरात – ईरान का प्रसिद्ध नगर

सिद्धदाय – विजयनगर साम्राज्य में नगदी के रूप में प्राप्त राजस्व

‘बराह’ तथा ‘पोर्दा’ – विजयनगर साम्राज्य में प्रचलित सोने के सिक्के

अफ़ाक्री अमीर – ईरान तथा ईराक़ आए देशों से बहमनी साम्राज्य में नियुक्त अमीर

दक्कनी अमीर – बहमनी साम्राज्य में नियुक्त दक्षिण भारतीय अमीर

खालसा – सुल्तान के स्वामित्व वाली भूमि

अभ्यास प्रश्न

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए

1. विदेशी यात्रियों द्वारा विजयनगर साम्राज्य का वृतांत
2. महमूद गावां का बहमनी साम्राज्य के उत्थान में योगदान
3. विजयनगर और बहमनी साम्राज्य के मध्य संघर्ष

3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 3.3.2 विदेशी यात्रियों के वृतांतों में विजयनगर साम्राज्य
2. देखिए 3.4.4 महमूद गावां
3. देखिए 3.4.5 विजयनगर साम्राज्य तथा बहमनी साम्राज्य तथा उसके उत्तराधिकारी राज्यों के मध्य संघर्ष

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

- मेजर, आर. एच - 'इंडिया इन दि फ़िफ्थीन्थ सेंचुरी, लन्दन, 1857
- सेवेल, आर. - 'ए फॉरगॉटन एम्पायर (विजयनगर), लन्दन, 1900
- इलियट, एच. एम., डाउसन, जे - 'हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया एज टोल्ड बाय इट्स ओन हिस्टोरियंस', 8 भागों में, लन्दन, 1867
- रिज़वी, ए. ए. एस. - 'आदि तुर्क कालीन भारत' अलीगढ़, 1956
- मजूमदार, आर. सी. (संपादक) - 'दि डेल्ही सलतनत' बॉम्बे, 1980
- शेरवानी, एच. के. - 'दि ग्रेट वज़ीर महमूद गावां' बॉम्बे, 1942
- शेरवानी, एच. के. - 'दि बहमनी किंगडम' बॉम्बे, 1947
- महालिंगम, टी. वी. - 'एडमिनिस्ट्रेशन एंड सोशल लाइफ़ अंडर विजयनगर एम्पायर', मद्रास, 1951
- महालिंगम, टी. वी. - 'इकनोमिक लाइफ़ इन दि विजयनगर एम्पायर', मद्रास, 1951
- कामथ, एस. यू. - 'कृष्णदेव राय एंड हिज़ टाइम्स' बैंगलोर, 2009

3.9 निबंधात्मक प्रश्न

शासक के रूप में कृष्णदेव राय का आकलन कीजिए

ब्लॉक चार

इकाई एक: सल्तनत काल में राज्य तथा संप्रभुता

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 दिल्ली सल्तनत में धर्म, खलीफ़ा, सुल्तान की शक्तियाँ और राज्य का स्वरूप
 - 1.3.1 मुस्लिम राज्य में सुल्तान के पद का सृजन
 - 1.3.2 इस्लाम में शासक की शक्ति पर प्रतिबन्ध की व्यवस्था
 - 1.3.3 मुस्लिम राज्यों का धर्म-तंत्रात्मक एवं सैनिक स्वरूप
 - 1.3.4 दिल्ली सल्तनत एक मुस्लिम राज्य
 - 1.3.5 एक सैनिक राज्य के रूप में दिल्ली सल्तनत
 - 1.3.6 दिल्ली के सुल्तान और खिलाफ़त (खलीफ़ा का साम्राज्य)
 - 1.3.7 धर्मतन्त्रात्मक राज्य और उलेमा
 - 1.3.8 सर्वोच्च शासक के रूप में सुल्तान
- 1.4 दिल्ली के विभिन्न सुल्तानों द्वारा पोषित राजत्व का सिद्धांत
 - 1.4.1 बलबन का राजत्व का सिद्धांत
 - 1.4.2 अलाउद्दीन का राजत्व का सिद्धांत
 - 1.4.3 मुहम्मद बिन तुगलक़ का राजत्व का सिद्धांत
 - 1.4.4 सैयद राज्यवंश में राजत्व के सिद्धांत का लुप्त हो जाना
 - 1.4.5 अफगान राजत्व का सिद्धांत
 - 1.4.5.1 बहलोल लोदी द्वारा पोषित राजत्व का सिद्धांत
 - 1.4.5.2 सिकंदर लोदी द्वारा राजत्व के दैविक सिद्धांत की स्थापना
 - 1.4.5.3 राजत्व के दैविक सिद्धांत को स्थापित करने में इब्राहीम लोदी की असफलता
- 1.5 सुल्तान और बादशाह (पादशाह) में अंतर
- 1.6 सारांश
- 1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 1.8 पारिभाषिक शब्दावली
- 1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ
- 1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

मुस्लिम राज्य मुख्यतः शरा के कानून के अनुसार संचालित होता है. और उसमें न्याय-वितरण तथा शांति-व्यवस्था की स्थापना शरा के मुताबिक ही की जाती है. 622 ईसवी में हजरत मुहम्मद द्वारा प्रथम मुस्लिम-राज्य की स्थापना की गयी थी. यह 'मुस्लिम उम्मा' की राजनीतिक एकता का प्रतिनिधित्व करता था. हजरत मुहम्मद के बाद उनके 'राशिदुन' शागिर्दों द्वारा 632 ईसवी में खिलाफत की स्थापना की गयी. हजरत मुहम्मद स्वयं शरा के सदस्यों के निर्णय का सम्मान करते थे. उनका यह विचार था कि बहुमत का निर्णय किसी एक अकेले व्यक्ति द्वारा लिए गए निर्णय से श्रेष्ठ होता है.

इस्लाम में शासक को कभी भी पूर्ण संप्रभुता प्राप्त शासक के अनियंत्रित अधिकार नहीं दिए गए हैं. मुस्लिम शासक को कुरान शरीफ की शिक्षाओं के विरुद्ध जाकर कुछ भी करने का अधिकार नहीं है. दिल्ली सल्तनत का स्वरूप धर्मतन्त्रात्मक होने के साथ-साथ एक सैनिक-राज्य का भी था. इसके स्वरूप में धर्मतन्त्रात्मक राज्य और सैनिक राज्य दोनों का ही समावेश था. सैनिक-राज्य के रूप में भी इसकी प्रेरणा का श्रोत धर्म ही था. इसकी राजनीतिक तथा प्रशासनिक संस्थाएं सैद्धांतिक रूप से कुरान शरीफ की शिक्षाओं पर आधारित शरियत पर आधारित थीं और दिल्ली के सुल्तान, धार्मिक तथा राजनीतिक दृष्टि से, विश्व भर के मुसलमानों के आध्यात्मिक गुरु एवं राजनीतिक प्रभु - खलीफा का, स्वयं को प्रतिनिधि मात्र मानते थे, न कि पूर्ण संप्रभुता प्राप्त शासक. दिल्ली के सुल्तान उसके प्रति अपनी निष्ठा तो व्यक्त करते ही थे, साथ ही साथ उसके द्वारा स्वयं को उसके नायब के रूप औपचारिक मान्यता प्रदान किए जाने के लिए भी सतत प्रयत्नशील रहते थे. खलीफा से शासक के रूप में मान्यता प्राप्त करना तो एक औपचारिकता मात्र थी किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से दिल्ली के सुल्तान पूर्ण स्वतंत्र शासक के रूप में शासन करने में सक्षम थे.

सुल्तान पद की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करने के लिए बलबन ने ईरान और प्राचीन भारत में प्रचलित राजत्व के दैविक सिद्धांत को अपने ढंग से विकसित किया. राजत्व के दैविक सिद्धांत के अनुसार शासक का आदेश, ईश्वरीय आदेश की प्रतिध्वनि होता था. अलाउद्दीन खिलजी यह मानता था कि सुल्तान का पद ईश्वरीय कृति है और सुल्तान पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है. वह यह भी कहता था कि सुल्तान की सत्ता को कोई चुनौती नहीं दे सकता और सुल्तान का वचन ही कानून है. मुहम्मद बिन तुगलक ने स्वयं को उलेमाओं के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रखा था और खलीफा की आधीनता स्वीकार करने की कोई औपचारिकता नहीं निभाई थी किन्तु बाद में अपना जनाधार सशक्त बनाने के लिए उसने खलीफा से मान्यता प्राप्त करने की औपचारिकता निभाई थी.

बहलोल लोदी ने अफगान राजत्व के सिद्धांत का पोषण कर अपने अमीरों को सल्तनत में हिस्सेदार बनाया था किन्तु उसके पुत्र सिकंदर लोदी और उसके पौत्र इब्राहीम लोदी ने एक बार फिर से राजत्व के दैविक सिद्धांत को लागू कर अपने अमीरों को असंतुष्ट कर दिया था जो कि अंततः लोदी राज्यवंश के पतन का एक मुख्य कारण बना.

बाबर द्वारा मुगल साम्राज्य की स्थापना से भारत में शताब्दियों के बाद 'पादशाह' अथवा 'बादशाह' के रूप में पूर्ण संप्रभुता प्राप्त शासक अस्तित्व में आया. सुल्तान जहाँ सैद्धांतिक रूप से खलीफ़ा नायब था, वहाँ बादशाह एक पूर्ण संप्रभुता प्राप्त शासक था.

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य – दिल्ली सल्तनतकाल में राज्य के स्वरूप तथा उसके शासक- सुल्तान, की संप्रभुता पर चर्चा करना है. इसके लिए इस्लाम के उदय के समय हज़रत मुहम्मद की धर्म गुरु के साथ एक शासक के रूप में प्रतिष्ठा से लेकर ख़िलाफ़त और विभिन्न सल्तनत की स्थापना से भी आपको अवगत कराया जाएगा. इस इकाई का अध्ययन कर आप –

- दिल्ली सल्तनत के धर्म-तंत्रात्मक स्वरूप से परिचित हो सकेंगे.
- दिल्ली सल्तनत के एक सैनिक राज्य के रूप से भी आप परिचित हो सकेंगे. 3. सुल्तान के अधिकार और उस पर शरियत के नियमों का पालन करते हुए अपने कर्तव्यों के निर्वाहन से अवगत हो सकेंगे.
- दिल्ली सल्तनत के विभिन्न सुल्तानों द्वारा खलीफ़ा से सुल्तान के रूप में मान्यता प्राप्त करने के प्रयासों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे.
- बलबन, अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद बिन तुगलक़ द्वारा पोषित राजत्व के सिद्धांत के अतिरिक्त अफ़ग़ान राजत्व के सिद्धांत से परिचित हो सकेंगे.
- बाबर द्वारा मुगल साम्राज्य की स्थापना से शासक के पूर्ण संप्रभुता प्राप्त 'पादशाह' के रूप में प्रतिष्ठित होने की जानकारी प्राप्त करने के साथ-साथ 'पादशाह' और 'सुल्तान' के मध्य अंतर को समझने में सक्षम हो सकेंगे.

1.3 दिल्ली सल्तनत में धर्म, खलीफ़ा, सुल्तान की शक्तियाँ और राज्य का स्वरूप

1.3.1 मुस्लिम राज्य में सुल्तान के पद का सृजन

मध्यकालीन सामंतवादी यूरोप के राज्यों की तुलना में मुस्लिम राज्यों में धर्म और राज्य आपस में, अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे. 'उलेमाओं' को मुस्लिम समुदाय (उम्मा) के नेता खलीफ़ा को सलाह देने का दायित्व सौंपा गया था. 9 वीं शताब्दी तक खलीफ़ा ही मुसलमानों का धर्म-गुरु और शासक था और बाद में 'अमीर' अथवा 'सुल्तान' कहा जाने वाला सेनानायक राजनीतिक तथा सैनिक दृष्टि से मुसलमानों का शासक बन गया किन्तु खलीफ़ा अब भी मुसलमानों का आध्यात्मिक गुरु बना रहा.

मुस्लिम राजनीतिक सिद्धांत मूलतः कुरान शरीफ़ की शिक्षाओं, हज़रत मुहम्मद द्वारा स्थापित राजनीतिक व्यवस्था की परंपरा और यूनानी राजनीतिक विचारधारा पर आधारित था. मुस्लिम धर्म-विज्ञानियों ने मुस्लिम राजनीतिक सिद्धांत का विकास किया जिसका कि मुस्लिम विधि-वेत्ताओं ने विस्तार किया और राज्य के वैधानिक आधार को परिभाषित किया. यूनानी दार्शनिकों को इस बात का श्रेय जाता है कि उन्होंने राज्य के औचित्य को जिस

प्रकार स्थापित किया था, उसे मुसलमानों ने राज्य की अवधारणा के विषय में लगभग वैसा का वैसा ही अपना लिया था.

1.3.2 इस्लाम में शासक की शक्ति पर प्रतिबन्ध की व्यवस्था

इस्लाम में शासक को कभी भी पूर्ण संप्रभुता प्राप्त शासक के अनियंत्रित अधिकार नहीं दिए गए हैं. मुस्लिम शासक को कुरान शरीफ की शिक्षाओं के विरुद्ध जाकर कुछ भी करने का अधिकार नहीं है.

हजरत मुहम्मद इस्लाम के पैगम्बर होने के साथ-साथ अपने अनुयायियों के शासक भी बन गए थे अतः किंचित ऐसी संस्थाओं का विकास किया गया जिनमें धर्म के निर्वहन और राज्य के सञ्चालन दोनों का समावेश हो. हजरत मुहम्मद प्रत्येक धार्मिक, प्रशासनिक अथवा कैसी भी समस्या के समाधान के लिए अपने विश्वस्त एवं योग्य अनुयायियों से विचार-विमर्श अवश्य करते थे. अतः मुस्लिम राज्यों के गठन के बाद यह व्यवस्था की गयी कि इस्लाम की शिक्षाओं के अनुरूप राज्य-सञ्चालन में शासक को सलाह देने के लिए धर्म और न्याय के जानकारों की नियुक्ति की जाए.

1.3.3 मुस्लिम राज्यों का धर्म-तंत्रात्मक एवं सैनिक स्वरूप

धर्मतन्त्रात्मक राज्य वह होता है जिसकी कि समस्त कार्य-प्रणाली धार्मिक सिद्धांतों पर आधारित होती है और सैनिक-राज्य वह होता है जो कि अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए मुख्यतः अपनी सैनिक-शक्ति पर निर्भर रहता है.

दिल्ली सल्तनत का स्वरूप धर्मतन्त्रात्मक होने के साथ-साथ एक सैनिक-राज्य का भी था. इसके स्वरूप में धर्मतन्त्रात्मक राज्य और सैनिक राज्य दोनों का ही समावेश था. सैनिक-राज्य के रूप में भी इसकी प्रेरणा का श्रोत धर्म ही था. इसकी राजनीतिक तथा प्रशासनिक संस्थाएं सैद्धांतिक रूप से कुरान शरीफ की शिक्षाओं पर और शरियत पर आधारित थीं और दिल्ली के सुल्तान, धार्मिक तथा राजनीतिक दृष्टि से, विश्व भर के मुसलमानों के आध्यात्मिक गुरु एवं राजनीतिक प्रभु - खलीफ़ा का, स्वयं को प्रतिनिधि मात्र मानते थे, न कि पूर्ण संप्रभुता प्राप्त शासक.

प्रत्येक मुस्लिम राज्य, खलीफ़ा की संप्रभुता को स्वीकार करता था, और उसका शासक खलीफ़ा के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करता था और उसके नायब के रूप में उस राज्य पर शासन करने का अधिकार, उस से (खलीफ़ा से) प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता था.

1.3.4 दिल्ली सल्तनत एक मुस्लिम राज्य

दिल्ली सल्तनत में इस्लाम राज्य-धर्म था और राज्य का यह प्रथम कर्तव्य था कि वह इस्लाम का प्रचार-प्रसार करे. धार्मिक क़ानून, नागरिक क़ानून से ऊपर थे. और चूँकि उलेमा सामान्यतः मुस्लिम क़ानून की व्याख्या करते थे इसलिए राज्य में उनका प्रभाव, उनका दबदबा, बहुत अधिक था.

दिल्ली सल्तनत की स्थापना तुर्कों ने की थी और अधिकांश समय तक तुर्क ही दिल्ली के सुल्तान रहे थे किन्तु तुर्कों ने दिल्ली सल्तनत में तुर्की सभ्यता से अधिक विकसित और परिष्कृत ईरानी सभ्यता को अपनाया था. दिल्ली के सुल्तानों ने अपने राज्य को ईरान के बादशाहों के राज्य के अनुरूप बनाने का हर संभव प्रयास किया था.

दिल्ली सल्तनत में राजभाषा के रूप में फ़ारसी को मान्यता दी गयी और साहित्य के क्षेत्र में भी फ़ारसी साहित्य को प्रोत्साहन व संरक्षण प्रदान किया गया. अधिकांश इतिहास-ग्रन्थ भी फ़ारसी भाषा में ही लिखे गए. दरबार में ईरानी दरबार के अदब-क्रायदे लागू किए गए और दरबार को भव्य बनाने के लिए भी ईरान के शासकों के दरबारों से प्रेरणा ली गयी. दिल्ली सल्तनत की स्थापत्य-कला में और अन्य ललित कलाओं में भी ईरानी प्रभाव देखा जा सकता है.

सैद्धांतिक रूप से सुल्तान से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह शरियत के नियमों का पालन करेगा और राज्य में कर भी वही लगाएगा जो कि शरियत द्वारा संस्तुत होंगे. किन्तु व्यवहार में ऐसा होता नहीं था. दिल्ली सल्तनत में शरियत के नियमों में किंचित बदलाव किए गए थे. दिल्ली सल्तनत की बहु-संख्यक प्रजा गैर-मुस्लिम थी और भारत की राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति भी उन मुस्लिम राज्यों से भिन्न थी जहाँ के लिए मुस्लिम विधि-वेत्ताओं ने शरियत पर आधारित नियम बनाए थे. दिल्ली सल्तनत में पूरी तरह से शरियत के नियमों को लागू कर पाना संभव ही नहीं था. शरियत के नियमों में परिवर्तन किया जाना सुल्तान के व्यक्तित्व, उसकी प्रतिभा, उसके व्यक्तिगत निर्णय, उसकी शक्ति और तत्कालीन - राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सैनिक परिस्थितियों पर निर्भर करता था.

भारत के पूर्व विदेशी आक्रमणकारियों – कुषाण, शक और हूण भारत में अपने धर्म का प्रचार-प्रसार करने के उद्देश्य से नहीं आए थे किन्तु मुस्लिम आक्रमणकारियों का भारत पर आक्रमण करने का एक प्रमुख उद्देश्य इस्लाम का प्रसार करना था, 'दार-उल-हर्ब' को 'दार-उल-इस्लाम' में परिवर्तित करना था और इसके लिए उन्होंने अपनी सैनिक शक्ति के बल पर भारतीय शासकों को पराजित किया, फिर अपनी सत्ता स्थापित की और इस्लाम को अपना राज्य-धर्म घोषित किया. उनका प्रशासन, उनकी न्याय-व्यवस्था आदि के नियम इस्लाम की शिक्षाओं पर आधारित थे किन्तु अपने शासन को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए, आंतरिक विद्रोहों का दमन करने के लिए तथा अपने साम्राज्य का विस्तार कर इस्लाम की पताका को और भी बड़े क्षेत्र में फहराने के लिए उन्हें अपने सैन्य-बल का ही आश्रय लेना होता था.

1.3.5 एक सैनिक राज्य के रूप में दिल्ली सल्तनत

सल्तनत काल में सेनायकों को ही सूबेदार, इक्तेदार आदि बनाया जाता था. राज्य की आय का मुख्य भाग सेना के रख-रखाव पर खर्च किया जाता था और राजस्व-नीति को तत्कालीन सैनिक व्यय की आवश्यकता के अनुसार निर्धारित किया जाता था.

सुल्तान स्वयं सेना का प्रमुख होता था और एक शासक के रूप में उसका सफल अथवा असफल होना मुख्यतः उसकी सैनिक प्रतिभा पर निर्भर करता था. बलबन और अलाउद्दीन जैसे सुल्तानों ने सैनिक-संगठन पर बहुत अधिक ध्यान दिया. उन्होंने उसमें आवश्यक सुधार किए जिसके कारण वे एक ओर आंतरिक विद्रोहों का दमन करने में सफल रहे तो दूसरी ओर अपने राज्य को बाह्य-आक्रमणों से सुरक्षित रखने में भी सफल रहे.

1.3.6 दिल्ली के सुल्तान और खिलाफ़त (खलीफ़ा का साम्राज्य)

सैद्धांतिक दृष्टि से खलीफ़ा, समस्त विश्व के मुसलमानों का लौकिक तथा आध्यात्मिक प्रमुख होता था। किसी भी मुस्लिम राज्य का शासक, चाहे उसका राज्य कहीं भी स्थित हो, वह पूर्ण संप्रभुता प्राप्त शासक नहीं होता था अपितु वह केवल खलीफ़ा का नायब होता था। खलीफ़ा की शक्ति और उसके प्रभाव में पहले की अपेक्षा बहुत कमी आने के बावजूद दिल्ली के सुल्तान उसके प्रति अपनी निष्ठा तो व्यक्त करते ही थे, साथ ही साथ उसके द्वारा स्वयं को उसके नायब के रूप में औपचारिक मान्यता प्रदान किए जाने के लिए भी सतत प्रयत्नरत रहते थे।

दिल्ली के सुल्तानों में इल्तुतमिश प्रथम था जिसको कि खलीफ़ा से सुल्तान के रूप में मान्यता प्राप्त हुई थी। उसने अपने सिक्कों पर स्वयं को खलीफ़ा के नायब के रूप में अंकित करवाया था। अलाउद्दीन खिलजी ने खुद को सुल्तान के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए खलीफ़ा से किसी औपचारिक मान्यता प्राप्त करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया। उसके पुत्र मुबारक खिलजी ने न तो खलीफ़ा से अपने पद की औपचारिक मान्यता प्राप्त करने का प्रयास किया और न ही उसके प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की। इसके विपरीत उसने स्वयं ही 'खलीफ़ा' की उपाधि धारण कर ली।

इल्तुतमिश के बाद आमतौर पर दिल्ली के सुल्तानों ने अपने पद के लिए खलीफ़ा से मान्यता प्राप्त करने का प्रयास नहीं किया किन्तु जब कोई राजनीतिक संकट आता था और सुल्तान की अपनी प्रतिष्ठा में कमी आती थी तो वह खलीफ़ा से मान्यता प्राप्त कर अपनी मुस्लिम प्रजा में फिर से सम्मान प्राप्त करने का प्रयास करता था। वह मुहम्मद बिन तुगलक़ जिसने अपने राज्यारोहण के समय खलीफ़ा की सत्ता के प्रति कोई भी निष्ठा व्यक्त नहीं की थी, उसने अपने विरुद्ध हो रहे अनवरत विद्रोहों को शांत करने के लिए और अपनी मुस्लिम प्रजा में अपनी खोई हुई साख को पुनर्स्थापित करने के लिए शक्तिहीन खलीफ़ा से खुद को सुल्तान के रूप में मान्यता दिए जाने के लिए प्रमाणपत्र निर्गत किए जाने की प्रार्थना की थी।

'तारीख-ए-फ़िरोज़शाही' में जियाउद्दीन बर्नी ने खलीफ़ा द्वारा मुहम्मद बिन तुगलक़ को प्रमाणपत्र दिए जाने का विस्तार से उल्लेख किया है। जब खलीफ़ा का राजदूत हाजी सैद सैसे उसकी ओर से सुल्तान के लिए प्रमाणपत्र, खिलअत आदि लेकर आया तो सुल्तान, उसके उमरा, उलेमा, सूफ़ी दरवेशों आदि ने उसका भव्य स्वागत किया। सुल्तान तो उसका स्वागत करने के लिए नंगे पैर चलकर गया। जुम्मे की नमाज़ में खलीफ़ा का नाम खुतबे में पढ़ा गया और खलीफ़ा के नाम के अंकित टंके भीड़ में लुटाए गए।

फ़िरोज़ शाह तुगलक़ ने भी खलीफ़ा से सुल्तान के रूप में मान्यता प्राप्त करने के लिए, उसके पास अपना राजदूत भेजा था। फ़िरोज़ शाह तुगलक़ पर यह आरोप था कि उसने मुहम्मद बिन तुगलक़ की मृत्यु के बाद अनैतिक तरीके से उसके वास्तविक उत्तराधिकारी को हटाकर, तख़्त पर अधिकार कर लिया था। इस कलंक से उबरने के लिए उसे सुल्तान के रूप में खलीफ़ा द्वारा मान्यता दिया जाना उसके लिए बहुत उपयोगी हो सकता था।

किन्तु फ़िरोज़ शाह तुगलक़ के बाद दिल्ली के किसी और सुल्तान ने अपने पद की प्रतिष्ठा हेतु खलीफ़ा से औपचारिक मान्यता प्राप्त करने का कोई प्रयास नहीं किया। उल्लेखनीय बात यह है कि स्वयं को खलीफ़ा का नायब कहलाने से एक शासक के रूप में दिल्ली के सुल्तानों की शक्ति में कोई कमी नहीं आती थी, खलीफ़ा से शासक के

रूप में मान्यता प्राप्त करना तो एक औपचारिकता मात्र थी और व्यावहारिक दृष्टि से वो पूर्ण स्वतंत्र शासक के रूप में शासन करने में सक्षम थे.

1.3.7 धर्मतन्त्रात्मक राज्य और उलेमा

इस्लाम के धर्म-शास्त्र के ज्ञाता, उलेमा कहलाते थे और इस्लाम के अनुसार नियमों तथा क़ानून की व्याख्या करने का और उनके विषय में फ़तवा निर्गत करने अधिकार केवल उन्हें ही प्राप्त था. सुल्तान शरियत के नियमों की व्याख्या किए जाने के लिए तो उनसे परामर्श करता ही था, इसके अतिरिक्त वह राज्य की अन्य नीतियों के निर्माण व उनके सञ्चालन हेतु भी उनके परामर्श और उनके मार्ग-दर्शन को महत्व देता था. उलेमा स्वयं को अत्यधिक प्रभावशाली समझते थे और यह मानते थे कि राज्य के प्रत्येक विषय में, चाहे वह धर्म से सम्बंधित हो अथवा अन्य विषयों से सम्बंधित, सुल्तान उनसे परामर्श किए बिना कोई कार्य नहीं करगा और न ही कोई निर्णय लेगा.

दिल्ली के किंचित साहसी सुल्तान ऐसे थे जिन्होंने राज्य के प्रत्येक विषय में उलेमाओं के हस्तक्षेप किए जाने का प्रतिरोध किया और प्रत्येक विषय में, विशेषकर धर्म से इतर विषयों में उनसे परामर्श करना आवश्यक नहीं समझा. अलाउद्दीन खिलजी ने सफलतापूर्वक उलेमाओं की निर्बाध शक्ति का प्रतिरोध किया और प्रायः उनसे परामर्श करना भी आवश्यक नहीं समझा. मुहम्मद बिन तुगलक़ दूसरा ऐसा सुल्तान था जिसने कि उलेमाओं द्वारा संचालित होने से इंकार करने का साहस दिखाया था और उनकी कट्टर नीतियों से प्रभावित होकर राज्य-कार्य करना आवश्यक नहीं समझा था. इसका परिणाम यह हुआ कि उसे अपने शासन काल में उलेमाओं के असहयोग तथा विरोध का सामना करना पड़ा.

फ़िरोज़ शाह तुगलक़ ने उलेमाओं को राज्य के प्रत्येक विषय में हस्तक्षेप करने की छूट दे दी थी. उलेमाओं ने फ़िरोज़ शाह को कट्टर नीतियां अपनाने के लिए प्रेरित किया था. फ़िरोज़ शाह की गैर-मुस्लिमों के प्रति असहिष्णुता की नीति, उनके पूजा-स्थलों का विध्वंस, ब्राह्मणों पर जज़िया लगाया जाना आदि के लिए उसके शासनकाल में उलेमाओं के बढ़ते हुए प्रभाव को ज़िम्मेदार माना जा सकता है. फ़िरोज़ शाह तुगलक़ के जन-कल्याणकारी कार्य केवल मुस्लिम समुदाय तक सीमित थे. उसने मुसलमानों की तुलना में गैर-मुस्लिमों पर करों का बोझ भी अधिक डाला था और तलवार के बल पर तथा लालच देकर अन्य धर्मावलम्बियों को इस्लाम में दीक्षित होने के लिए बाध्य अथवा प्रेरित भी किया था. उलेमाओं की इस संकीर्ण विचारधारा का अनुपालन करने का राज्य पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था.

1.3.8 सर्वोच्च शासक के रूप में सुल्तान

मुस्लिम धर्म-तंत्र के अनुसार किसी भी मुस्लिम राज्य में सर्वोच्च शक्ति शरियत के क़ानून में निहित होती थी. सामान्यतया शरियत के नियमों का पालन करते हुए राज्य के प्रमुख के रूप में सुल्तान की शक्ति अपरिमित होती थी. उसमें सभी वैधानिक, प्रशासनिक तथा न्याय सम्बन्धी शक्तियां निहित होती थीं. राज्य में उसका आदेश ही क़ानून होता था. वह अपनी सेना का सर्वोच्च सेनानायक होता था. वह अपने सभी मंत्रियों, अमीरों तथा अन्य अधिकारियों की नियुक्ति करता था. किन्तु उसकी निरंकुश शक्ति पर अंकुश केवल मुस्लिम क़ानून लगा सकते थे क्योंकि सुल्तान चाहते हुए भी शरा के नियमों की अवहेलना नहीं कर सकता था. सैद्धांतिक दृष्टि से सुल्तान सहारा के नियमों के अनुसार ही

राज्य-सञ्चालन के लिए बाध्य था किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से अनेक शक्तिशाली सुल्तान कानून की व्याख्या के लिए उलेमाओं पर निर्भर रहने के स्थान पर स्वयं उनकी व्याख्या करते थे.

दिल्ली सल्तनत में उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नहीं था. यह आवश्यक नहीं था कि सुल्तान का सबसे बड़ा बेटा या उसकी पुत्री ही उसकी उत्तराधिकारी हो. हांलाकि एक प्रकार से यह परंपरा बन गयी थी कि सुल्तान के बाद उसका बड़ा बेटा ही उसका उत्तराधिकारी बने. वैसे सुल्तान को अपना उत्तराधिकारी घोषित करने का अधिकार था किन्तु राज्य के प्रभावशाली अमीर उसके निर्णय को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं थे. इस्लाम की परंपरा के अनुसार कोई भी बौद्धिक एवं शारीरिक रूप से सक्षम मुसलमान शासक-पद के लिए अपनी दावेदारी प्रस्तुत कर सकता था. उत्तराधिकार की इस अस्पष्ट व्यवस्था के कारण सुल्तान की मृत्यु के उपरांत सिंहासन प्राप्त करने के लिए उत्तराधिकार के युद्ध और भयंकर रक्तपात होना एक आम बात हो गयी थी. राज्य में अमीरों की प्रभावशाली उपस्थिति भी सुल्तान की निरंकुशता पर नियंत्रण लगाने में काफी हद तक सफल रहती थी. दिल्ली सल्तनत काल में सुल्तान के व्यक्तिगत चरित्र, उसकी योग्यता और उसकी शक्ति पर ही उसकी प्रतिष्ठा निर्भर करती थी.

1.4 दिल्ली के विभिन्न सुल्तानों द्वारा पोषित राजत्व का सिद्धांत

1.4.1 बलबन का राजत्व का सिद्धांत

दिल्ली सल्तनत के विभिन्न सुल्तानों ने अपनी शक्ति के अनुसार परंपरागत राजत्व के सिद्धांत में परिवर्तन और संशोधन किए थे. गियासुद्दीन बलबन पहला सुल्तान था जिसने कि राजत्व के कबीलाई सिद्धांत में आमूल परिवर्तन किया था. बलबन स्वयं एक शम्सी अमीर (शमसुद्दीन इल्तुतमिश द्वारा नियुक्त अमीर) और चहलगानी (इल्तुतमिश के चालीस अमीरों का दल) का एक प्रमुख सदस्य था. उसने इल्तुतमिश, रुकनुद्दीन फ़िरोज़, रज़िया, बहराम शाह और नासिरुद्दीन महमूद के काल में सल्तनत में चहलगानी के प्रभाव का स्वयं अनुभव किया था. सुल्तान बनते ही उसने सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा में अत्यंत वृद्धि की. बलबन अमीरों की अवसरवादिता और उनकी महत्वाकांक्षा से भलीभांति अवगत था. मिन्हाज-उद-दीन सिराज के अनुसार नासिरुद्दीन महमूद के शासनकाल के अंतिम दिनों में सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा और गरिमा इतनी कम हो गयी थी कि क्या अमीर और क्या प्रजा, किसी के भी दिल में न तो सुल्तान का कोई खौफ़ था और न ही उसके लिए कोई इज्जत. अनेक अमीर अपने लिए स्वतंत्र राज्यों की स्थापना में प्रयत्नरत थे और कुछ तो अपने दिल में सुल्तान बनने की महत्वाकांक्षा भी पाल रहे थे. दूसरी ओर राजपूत प्रतिरोध और उत्तर-पश्चिम से मंगोल आक्रमण भी सल्तनत की कठिनाइयाँ बढ़ा रहे थे.

सुल्तान पद की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करने के लिए बलबन ने ईरान और प्राचीन भारत में प्रचलित राजत्व के दैविक सिद्धांत को अपने ढंग से विकसित किया. राजत्व के दैविक सिद्धांत के अनुसार शासक का आदेश, ईश्वरीय आदेश की प्रतिध्वनि होता था. लखनौती में तुगरिल के विद्रोह का दमन कर विद्रोहियों को ज़िन्दा खूंटियों में टंगवाकर उसने अपने पुत्र बुगरा खान से कहा था – ‘सुल्तान का न तो कोई समकक्ष हो सकता है और न ही कोई उसका मित्र अथवा सम्बन्धी हो सकता है. सुल्तान रिश्तों और दोस्ती से बहुत ऊपर होता है.’

बलबन का राजत्व का सिद्धांत इस्लाम के राजत्व की कबीलाई अवधारणा से भिन्न था. बलबन ने राजद्रोह को धर्म-द्रोह की संज्ञा दी थी. बलबन ने प्रजा और अमीरों में सुल्तान के प्रति श्रद्धा और भय, दोनों का ही भाव एक साथ उत्पन्न करने के लिए अपने दरबार को भव्य बनाया, दरबार में शिष्टाचार और गरिमा के नए मापदंड स्थापित किए. उसने सुल्तान के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए 'सिजदा' और 'पैबोस' जैसे अभिवादन अनिवार्य कर दिए. उसने आम लोगों से मिलना-जुलना छोड़कर 'शानदार पृथक्कीकरण' (स्प्लेंडिड आइसोलेशन) की नीति अपनाई थी.

बलबन ने राजत्व के दैविक सिद्धांत को विकसित करते समय केवल सुल्तान के अपरिमित अधिकारों की ही व्यवस्था नहीं की थी, इसके साथ उसने सुल्तान के लिए भी उच्च आदर्श, पवित्र आचरण और अपने कर्तव्यों के प्रति समर्पण की भावना भी सम्मिलित की थी. यह वह सुल्तान था जिसने दरबार में अपने बड़े बेटे के शहीद होने का समाचार बिना कोई आंसू बहाए सुना था. सुल्तान को एक आम इन्सान की तमाम कमजोरियों से रहित एक महामानव के रूप में प्रस्तुत करने के लिए उसने हर संभव प्रयास किया था. वह अपने आचरण से खुद को 'नियाबते खुदाई' (पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि) और 'ज़िल्ले अल्लाह' (ईश्वर का प्रतिबिम्ब) के रूप में प्रतिष्ठित करने में सफल रहा था. बलबन का राजत्व का सिद्धांत पूर्ववर्ती कौटिल्य और परवर्ती मेकियावेली द्वारा पोषित राजत्व के सिद्धांत से मिलता-जुलता है.

बलबन का राजत्व का सिद्धांत यद्यपि इस्लाम के परंपरागत राजत्व के सिद्धांत से भिन्न था किन्तु उसने कभी भी इस्लाम की शिक्षाओं के विरुद्ध कार्य नहीं किया और खुद को खलीफ़ा के प्रतिनिधि के रूप में प्रतिष्ठित करने में कभी सकोच नहीं किया. बलबन देश-विदेश में इस्लाम के संरक्षक के रूप में विख्यात था. बलबन अपने राजत्व के सिद्धांत के माध्यम से आम प्रजा से लेकर खास अमीरों के मध्य सुल्तान के प्रति श्रद्धा और भय की भावना का संचार करने में सफल रहा था.

1.4.2 अलाउद्दीन का राजत्व का सिद्धांत

जलालुद्दीन खिलजी ने अपने पूर्व-स्वामी सुल्तान बलबन के प्रति अपना सम्मान व्यक्त करते हुए, सुल्तान बनने के बाद भी उसके द्वारा बनवाए गए लाल महल में प्रवेश नहीं किया था. यह विनम्रता उसके लिए घातक सिद्ध हुई क्योंकि अलाउद्दीन खिलजी जैसे उसके अमीरों ने इसके लिए उसे सुल्तान के पद की गरिमा को कम करने का दोषी माना था.

अलाउद्दीन खिलजी की दृष्टि में सुल्तान, पृथ्वी पर खुदा का प्रतिनिधि था. के. एम. अशरफ़ अलाउद्दीन के राजत्व के सिद्धांत की व्याख्या इन शब्दों में करते हैं – 'दिल्ली का सुल्तान सैद्धांतिक रूप से असीमित शक्ति का निरंकुश शासक था, वह किसी क़ानून को मानने के लिए बाध्य नहीं था, स्वयं उसके अतिरिक्त, उसके कार्यों को न तो नियंत्रित करने का, और न ही उसका मार्ग-दर्शन करने का, किसी अन्य को अधिकार था.'

अलाउद्दीन कहा करता था – 'मैं नहीं जानता कि अमुक कार्य विधि-सम्मत है अथवा गैर-कानूनी है. मैं तो वही करता हूँ जो मुझे राज्य के भले के लिए उचित लगता है या संकट के निवारण के लिए उपयुक्त लगता है. मैं नहीं जानता कि क़यामत के दिन मेरा क्या हशर होगा.'

अलाउद्दीन के राजत्व के सिद्धांत के मुख्य बिंदु निम्न हैं -

1. सुल्तान का पद ईश्वरीय कृति है.
2. सुल्तान पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है.
3. सुल्तान की सत्ता को कोई चुनौती नहीं दे सकता.
4. सुल्तान का वचन ही कानून है.
5. सुल्तान किसी से भी सलाह लेने के लिए बाध्य नहीं है.
6. धार्मिक विषय में सुल्तान का निर्णय ही सर्वोपरि है. उलेमाओं को उसे धार्मिक विषयों के निष्पादन में उसका मार्ग-दर्शन करने का कोई अधिकार नहीं है.
7. सुल्तान को अपनी प्रजा के कल्याण के प्रति समर्पित होना चाहिए.

अलाउद्दीन स्वयं में सर्वोच्च सेनानायक, सर्वोच्च प्रशासक, सर्वोच्च न्यायाधीश और शासक था. अलाउद्दीन खिलजी एक नए धर्म का प्रवर्तक बनना चाहता था किन्तु फिर उसने स्वयं को उलेमाओं के प्रभाव से सर्वथा मुक्त कर स्वतंत्र रूप से कार्य करना प्रारंभ कर दिया. अलाउद्दीन का यह विचार था कि राज्य में स्थायित्व तथा उसे संगठित करने के लिए शासक का निरंकुश होना आवश्यक है. उसने अमीरों की महत्वाकांक्षा और उनकी स्वातंत्र्य-प्रियता को कुचलने के लिए कठोर क्रम उठाए. उसने बहुत से अमीरों की संपत्तियां ज़ब्त कर लीं, उनके आने-जाने, आपस में मिलने-जुलने, शराब की महफ़िलें सजाने पर पाबंदियां लगा दीं और उनकी गतिविधियों पर दृष्टि रखने के लिए गुप्तचर नियुक्त कर दिए. एक शासक के रूप में उसने मुस्लिम कानून से हटकर अपने अत्यधिक कठोर कानून बनाए और उसने उलेमाओं से राज्य के मामले में हस्तक्षेप करने के सभी अधिकार छीन लिए. अलाउद्दीन ने अपने कार्यों से यह जतला दिया कि उसे राज्य-सञ्चालन हेतु अथवा शासक बने रहने के लिए उलेमाओं के सहयोग तथा उनके समर्थन के कोई आवश्यकता नहीं है.

1.4.3 मुहम्मद बिन तुगलक़ का राजत्व का सिद्धांत

मुहम्मद बिन तुगलक़ अलाउद्दीन खिलजी की भाँति ही राजनीति में धर्म की मिलावट किए जाने के विरुद्ध था. अलाउद्दीन खिलजी की ही तरह उसने सिंहासनारूढ़ होते समय खलीफ़ा का अनुमोदन प्राप्त करने का कोई प्रयास नहीं किया और न ही शासन में उलेमाओं को किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने की अनुमति प्रदान की. उसने धर्म-निरपेक्ष न्याय-व्यवस्था की स्थापना हेतु अनिवार्य रूप से केवल उलेमाओं की न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति की परंपरा का भी निर्वाह नहीं किया. सुल्तान ने अपने शासनकाल के प्रारंभ में अपनी सत्ता की प्रतिष्ठा के लिए खलीफ़ा की मान्यता को कोई महत्ता नहीं दी थी. उसने कठमुल्लों को राज्य के मामलों में हस्तक्षेप करने से रोका था और नियुक्तियों में धर्म को आधार बनाने के स्थान पर योग्यता के आधार पर क्या मुसलमान और क्या हिन्दू, सबको नियुक्त किया था किन्तु बाद में उलेमाओं का समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से उसने अपनी छवि एक निष्ठावान मुस्लिम शासक की बनाने की कोशिश की थी और उसने खुद को सुल्तान के रूप में खलीफ़ा की मान्यता प्राप्त करने के लिए उसके प्रतिनिधि का भव्य स्वागत भी किया था.

1.4.4 सैयद राज्यवंश में राजत्व के सिद्धांत का लुप्त हो जाना

1414 में दिल्ली की सत्ता खिज़्र खान सैयद के अधिकार में आई. उसको स्वयं को सुल्तान कहलाने में कोई रूचि नहीं थी. 37 वर्षों तक सैयद राज्यवंश (1414-1451) का उत्तर भारत पर नाम मात्र का शासन रहा. इस समय दिल्ली सल्तनत पूरी तरह विघटित हो चुकी थी. सैयद राज्यवंश दिल्ली सल्तनत के इतिहास का एक प्रभावहीन तथा दुर्बल राज्यवंश था. सैयदों को स्वयं को सुल्तान कहलाने का अधिकार भी प्राप्त नहीं हुआ था. तैमूर ने पंजाब, दिल्ली आदि पर आक्रमण करने के बाद अपने वतन लौटते समय खिज़्र खान सैयद को मुल्तान का सूबेदार नियुक्त किया था. तुगलक वंश के पतन के बाद खिज़्र खान ने सिंध और लाहौर पर भी अधिकार कर लिया और 1414 में उसने दिल्ली की अराजकतापूर्ण स्थिति का लाभ उठाकर उस पर भी अधिकार कर लिया किन्तु उसकी वैधानिक स्थिति तैमूर के - 'सैयत-ए-आला' की ही रही, सुल्तान की नहीं. दिल्ली पर अधिकार करने के बाद खिज़्र खान सैयद ने अपने नाम पर नहीं, अपितु तैमूर के उत्तराधिकारी शाहरुख मिर्जा के नाम पर खुतबा पढ़वाया. उसके शासनकाल में ढाले गए सिक्कों पर उसका नाम नहीं, अपितु पूर्व तुगलक शासकों का ही नाम अंकित किया गया.

1.4.5 अफगान राजत्व का सिद्धांत

1.4.5.1 बहलोल लोदी द्वारा पोषित राजत्व का सिद्धांत

अफगान जाति प्राचीन काल से आजतक कबीलाई व्यवस्था पर विश्वास करती आई है और इसके लिए कुनबा तथा बिरादरी का महत्व राज्य तथा शासक दोनों से ही अधिक महत्वपूर्ण रहा है. इसके अतिरिक्त अफगान प्रकृति से ही उग्र, स्वतंत्रता-प्रिय तथा स्वाभिमानी होते हैं. उन्हें किसी के आधीन होकर जीवन बिताना स्वीकार्य नहीं है, इसकी तुलना में अपनी स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए उन्हें लड़ते-लड़ते मर जाना स्वीकार्य होता है. दूसरी जाति की आधीनता की तो बात ही क्या, उन्हें तो अपनी बिरादरी के भी किसी व्यक्ति की आधीनता स्वीकार्य नहीं होती है. इस परिप्रेक्ष्य में हम समझ सकते हैं कि अफगानों को राजत्व का दैविक सिद्धांत कभी मान्य नहीं हो सकता. अफगान अमीर सुल्तान को न तो पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि मान सकते थे और न ही उसकी आज्ञा को ईश्वर का आदेश मान सकते थे. सुल्तान को ईश्वर का प्रतिनिधि मानना तो दूर वो तो उसे अपना स्वामी मानने को भी तैयार नहीं हो सकते थे. अफगान राजत्व का सिद्धांत पूर्णतया लोकतान्त्रिक था. सुल्तान की नियुक्ति अमीरों के द्वारा चुने जाने पर निर्भर निर्भर करती थी. और इस दृष्टि से सुल्तान अमीरों के प्रति उत्तरदायी था.

अफगान राजत्व का सिद्धांत – 'ट्राइबल कांसेप्ट ऑफ़ किंगशिप' अर्थात् राजत्व की कबीलाई अवधारणा थी. इसमें सुल्तान अमीरों का मुखिया होता था. उसे हम अमीरों का अमीर अथवा 'अमीर-उल-उमरा' कह सकते थे. अफगान अपने सुल्तान को 'मसनद-ए-आली' भी कहते थे जो कि अमीरों के मध्य से ही चुना जाता था. सुल्तान और अमीरों, सभी के लिए कबीला और बिरादरी महत्वपूर्ण होता था. अमीरों का अस्तित्व सुल्तान पर निर्भर नहीं होता था. अमीर तो कबीला बनाता था और अमीर अपने से ही एक अमीर को अपना मुखिया अथवा अपना सुल्तान बनाते थे. इस प्रकार अमीर-सुल्तान सम्बन्ध में पलड़ा अमीरों की ओर ही झुकता था अर्थात् कोई भी निर्णय लेने में उनकी राय का महत्व सुल्तान की राय से अधिक हुआ करता था.

फ़रिश्ता के अनुसार बहलोल लोदी के लिए इतना ही पर्याप्त था कि सल्तनत के साथ उसका अपना नाम जुड़ जाता। उसे अपने साथियों पर हुकूमत करने की कोई इच्छा नहीं थी। बहलोल लोदी ने जब दिल्ली के तख्त पर अधिकार करने का प्रयास किया तो उसे अफगान अमीरों के सहयोग की आवश्यकता पड़ी। पूर्वी अफगानिस्तान में स्थित रोह के अफगानों को अपने अभियान में सम्मिलित होने का आमंत्रण देते हुए बहलोल लोदी ने उन्हें लिखा था – ‘प्रभुसत्ता नाम-मात्र को मुझमें अवश्य निहित रहेगी किन्तु हम जो भी क्षेत्र जीतेंगे उनमें हम भाइयों की बराबर की हिस्सेदारी रहेगी.’ बहलोल लोदी आजीवन अपने अमीरों के सरदार, उनके मुखिया और उनके बड़े भाई की भूमिका निभाता रहा। उसने उनका मालिक, उनका आक्रा बनने की कभी कोशिश नहीं की। वह अपने अमीरों के सामने शाही तख्त पर भी नहीं बैठता था। उसने जागीरों और संपत्ति के वितरण में भी उन्हें हिस्सेदार ही समझा। वह शक्ति के विकेंद्रीकरण में विश्वास करता था। अफगान राजत्व का सिद्धांत अफगानिस्तान के लिए तो उपयुक्त था किन्तु भारत जैसे देश में जहाँ अनेक जातियाँ थीं और जहाँ राजत्व के दैविक सिद्धांत की परंपरा थी, उसकी उपयुक्तता संदेहास्पद थी। इसीलिए बहलोल लोदी के उत्तराधिकारी सिकंदर लोदी और उसके उत्तराधिकारी इब्राहीम लोदी ने अफगान राजत्व के सिद्धांत का अनुगमन नहीं किया।

1.4.5.2 सिकंदर लोदी द्वारा राजत्व के दैविक सिद्धांत की स्थापना

सिकंदर लोदी को राज्यारोहण के समय अमीरों के प्रतिरोध के कारण बहुत कठिनाई हुई थी। सुल्तान बनते ही उसने यह निश्चय कर लिया कि वह अपने अफगान अमीरों की स्वच्छंदता तथा उदंडता को नियंत्रित करेगा। उसने राजत्व के सिद्धांत का स्वरूप बदलकर उसे तुर्क राजत्व के सिद्धांत के समान बना दिया। अब सुल्तान अमीरों का अमीर नहीं, अपितु उनका स्वामी था। सिकंदर लोदी ने अपने पिता के समय में सुल्तान के पद की खोई हुई गरिमा तथा प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित किया और दरबार में सुल्तान के समक्ष कोर्निश जैसा अभिवादन आवश्यक कर दिया। अब सुल्तान के समक्ष सबको खड़ा रहना पड़ता था और अमीरों को शाही फ़रमान का सम्मान करते हुए उसे मीलों पैदल चलकर ग्रहण करना पड़ता था। सिकंदर लोदी ने अमीरों की महत्वाकांक्षा कुचलने के लिए उनके आर्थिक साधनों को सीमित कर दिया तथा उनकी गतिविधियों पर नज़र रखने के लिए अपने गुप्तचर नियुक्त कर दिए। उसने शक्ति के केन्द्रीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ की और इस प्रकार अमीरों की राज्य में हिस्सेदारी की परंपरा को समाप्त कर दिया। इस से यह प्रतीत होने लगा था कि सिकंदर लोदी ने अपने अमीरों की स्वच्छंद प्रकृति पर नियंत्रण स्थापित कर लिया है। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं था। सिकंदर की शक्ति से भयभीत होकर अफगान अमीरों ने ऊपरी तौर पर उसके द्वारा राजत्व के सिद्धांत में परिवर्तन को स्वीकार कर लिया था किन्तु वो पुनः अफगान राजत्व के सिद्धांत को प्रतिष्ठित करने का अवसर देख रहे थे।

1.4.5.3 राजत्व के दैविक सिद्धांत को स्थापित करने में इब्राहीम लोदी की असफलता

सिकंदर लोदी की मृत्यु होते ही अफगान अमीर अफगान राजत्व के सिद्धांत को पुनर्प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयत्नशील हो गए। किन्तु इब्राहीम लोदी ने भी अपने पिता सिकंदर लोदी की ही भांति अमीरों के दमन की नीति अपनाई और उसने भी राजत्व के सिद्धांत को तुर्कों तथा हिन्दुओं के राजत्व के दैविक सिद्धांत के अनुरूप ढालना

चाहा. वह पूर्ण निरंकुश शासक बनने के लिए कटिबद्ध था. उसने अफगानी परंपरा को समाप्त कर अपने अमीरों को दरबार में हाथ बांधकर और सर झुककर खड़े रहने के लिए बाध्य किया. बहलोलोली अमीरों के और सिकंदरी अमीरों ने नवयुवक सुल्तान की दमनकारी नीतियों का विरोध किया. सुल्तान अमीरों के दिल में अपने कोप का भय स्थापित कर उनकी विद्रोह करने हिम्मत तोड़ना चाहता था. लेकिन ज्यों-ज्यों सुल्तान ने शक्ति के केन्द्रीकरण के प्रयासों को गति प्रदान की और ज्यों-ज्यों उसने अफगान अमीरों की स्वच्छंदता का दमन करने का प्रयास किया, उसकी पकड़ अपनी सल्तनत पर से तथा अपने अमीरों पर से कमजोर होती चली गयी.

इब्राहीम लोदी को अपनी अव्यवहारिक नीति का मूल्य चुकाना पड़ा. उसका राज्य विघटित होने लगा. अनेक अमीर उसके विरुद्ध हो गए. इब्राहीम लोदी से कुपित पंजाब के सूबेदार दौलत खान लोदी ने तो बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित भी कर दिया. इस प्रकार सिकंदर लोदी तथा इब्राहीम लोदी ने अफगान राजत्व के सिद्धांत में परिवर्तन करने के प्रयास में लोदी राज्य वंश के पतन के द्वार खोल दिए.

1.5 सुल्तान और बादशाह (पादशाह) में अंतर

1526 में पानीपत के प्रथम युद्ध में इब्राहीम लोदी को पराजित कर, ज़हीरुद्दीन बाबर ने हिंदुस्तान में मुग़ल साम्राज्य की स्थापना की. उसने स्वयं को 'पादशाह' (बादशाह) के रूप में प्रतिष्ठित किया. 'पादशाह' अथवा 'बादशाह' व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक, दोनों ही रूप से – पूर्ण संप्रभुता-प्राप्त शासक था. यह प्राचीन भारतीय इतिहास के 'सम्राट' के समरूप था. दिल्ली के सुल्तान को तो खलीफ़ा की नाम-मात्र की आधीनता स्वीकार कर उसके प्रतिनिधि अथवा उसके नायब के रूप में सल्तनत पर शासन करना होता था, इसके लिए कुछ सुल्तानों ने खलीफ़ा से अपने पद हेतु मान्यता भी प्राप्त की थी किन्तु 'पादशाह' अथवा 'बादशाह' को अपने पद को वैधानिकता प्रदान करने के लिए खलीफ़ा से किसी प्रकार की मान्यता प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं थी. इस प्रकार दिल्ली सल्तनत के पतन के साथ ही भारत में कई शताब्दियों बाद मुग़ल शासकों के रूप में एक बार फिर से पूर्ण संप्रभुता प्राप्त शासकों का उदय हुआ.

1.6 सारांश

622 ईसवी में हज़रत मुहम्मद द्वारा प्रथम मुस्लिम-राज्य की स्थापना की गयी थी. यह मुस्लिम उम्मा (राष्ट्र) की राजनीतिक एकता का प्रतिनिधित्व करता था. हज़रत मुहम्मद के बाद उनके 'राशिदुन' शागिर्दों द्वारा 632 ईसवी में ख़िलाफ़त की स्थापना की गयी. मुस्लिम राजनीतिक सिद्धांत मूलतः कुरान शरीफ़ की शिक्षाओं, हज़रत मुहम्मद द्वारा स्थापित राजनीतिक व्यवस्था की परंपरा और यूनानी राजनीतिक विचारधारा पर आधारित था. इस्लाम में शासक को कभी भी पूर्ण संप्रभुता प्राप्त शासक के अनियंत्रित अधिकार नहीं दिए गए हैं. मुस्लिम शासक को कुरान शरीफ़ की शिक्षाओं के विरुद्ध जाकर कुछ भी करने का अधिकार नहीं है.

दिल्ली सल्तनत के स्वरूप में धर्मतन्त्रात्मक राज्य और सैनिक राज्य दोनों का ही समावेश था. सैनिक-राज्य के रूप में भी इसकी प्रेरणा का श्रोत धर्म ही था. इसकी राजनीतिक तथा प्रशासनिक संस्थाएं सैद्धांतिक रूप से कुरान शरीफ़ की शिक्षाओं पर आधारित शरियत पर आधारित थीं और दिल्ली के सुल्तान, धार्मिक तथा राजनीतिक दृष्टि से,

विश्व भर के मुसलमानों के आध्यात्मिक गुरु एवं राजनीतिक प्रभु - खलीफ़ा का, स्वयं को प्रतिनिधि मात्र मानते थे, न कि पूर्ण संप्रभुता प्राप्त शासक.दिल्ली सल्तनत में इस्लाम राज्यधर्म था और राज्य का यह प्रथम कर्तव्य था कि वह - और चूंकि उलेमा सामान्यतः मुस्लिम क़ानून .नागरिक क़ानून से ऊपर थे ,धार्मिक क़ानून .प्रसार करे-इस्लाम का प्रचार बहुत अधिक था ,उनका दबदबा ,की व्याख्या करते थे इसलिए राज्य में उनका प्रभाव था .

सैद्धांतिक रूप से सुल्तान से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह शरियत के नियमों का पालन करेगा और राज्य में कर भी वही लगाएगा जो कि शरियत द्वारा संस्तुत होंगे. किन्तु व्यवहार में ऐसा होता नहीं था. बहु-संख्यक गैर-मुस्लिम प्रजा वाली दिल्ली सल्तनत में पूरी तरह से शरियत के नियमों को लागू कर पाना संभव ही नहीं था. शरियत के नियमों में परिवर्तन किया जाना सुल्तान के व्यक्तित्व, उसकी प्रतिभा, उसके व्यक्तिगत निर्णय, उसकी शक्ति और तत्कालीन - राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सैनिक परिस्थितियों पर निर्भर करता था.सुल्तान स्वयं सेना का प्रमुख होता था और एक शासक के रूप में उसका सफल अथवा असफल होना मुख्यतः उसकी सैनिक प्रतिभा पर निर्भर करता था.

दिल्ली के सुल्तानों में इल्तुतमिश प्रथम था जिसको कि खलीफ़ा से सुल्तान के रूप में मान्यता प्राप्त हुई थी. अलाउद्दीन खिलजी ने खुद को सुल्तान के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए खलीफ़ा से किसी औपचारिक मान्यता प्राप्त करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया.मुहम्मद बिन तुगलक़ ने भी अपने शासनकाल के अंतिम चरण में खलीफ़ा से खुद को सुल्तान के रूप में मान्यता दिए जाने के लिए प्रमाणपत्र निर्गत किए जाने की प्रार्थना की थी.फ़िरोज़ शाह तुगलक़ ने भी खलीफ़ा से सुल्तान के रूप में मान्यता प्राप्त करने के लिए, उसके पास अपना राजदूत भेजा था.

उल्लेखनीय बात यह है कि स्वयं को खलीफ़ा का नायब कहलाने से एक शासक के रूप में दिल्ली के सुल्तानों की शक्ति में कोई कमी नहीं आती थी.इस्लाम के धर्म-शास्त्र के ज्ञाता, उलेमा कहलाते थे. सुल्तान शरियत के नियमों की व्याख्या किए जाने के लिए तो उनसे परामर्श करता ही था, इसके अतिरिक्त वह राज्य की अन्य नीतियों के निर्माण व उनके सञ्चालन हेतु भी उनके परामर्श और उनके मार्ग-दर्शन को महत्व देता था.

अलाउद्दीन खिलजी ने सफलतापूर्वक उलेमाओं की निर्बाध शक्ति का प्रतिरोध किया. मुहम्मद बिन तुगलक़ ने भी उलेमाओं द्वारा संचालित होने से इंकार करने का साहस दिखाया था. फ़िरोज़ शाह तुगलक़ ने उलेमाओं को राज्य के प्रत्येक विषय में हस्तक्षेप करने की छूट दे दी थी. दिल्ली सल्तनत में उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नहीं था. इस्लाम की परंपरा के अनुसार कोई भी बौद्धिक एवं शारीरिक रूप से सक्षम मुसलमान शासक-पद के लिए अपनी दावेदारी प्रस्तुत कर सकता था. राज्य में अमीरों की प्रभावशाली उपस्थिति सुल्तान की निरंकुशता पर नियंत्रण लगाने में काफी हद तक सफल रहती थी. सुल्तान बलबन ने अमीरों की शक्ति को नियंत्रित किया. और राजत्व के दैविक सिद्धांत की स्थापना की. अलाउद्दीन खिलजी की दृष्टि में सुल्तान, पृथ्वी पर खुदा का प्रतिनिधि था. वह मानता था कि सुल्तान की सत्ता को कोई चुनौती नहीं दे सकता और सुल्तान का वचन ही क़ानून है.

सैयदों को स्वयं को सुल्तान कहलाने का अधिकार भी प्राप्त नहीं हुआ था. खिज़्र खान सैयद की वैधानिक स्थिति तैमूर के - 'सैयत-ए-आला' की ही रही, सुल्तान की नहीं. अफगान राजत्व का सिद्धांत – ट्राइबल कांसेप्ट ऑफ़

किंगशिप' अर्थात् राजत्व की कबीलाई अवधारणा थी. इसमें सुल्तान अमीरों का मुखिया होता था. बहलोल लोदी आजीवन अपने अमीरों के सरदार, उनके मुखिया और उनके बड़े भाई की भूमिका निभाता रहा. उसने उनका मालिक, उनका आक्रा बनने की कभी कोशिश नहीं की. सिकंदर लोदी ने राजत्व के सिद्धांत का स्वरूप बदलकर उसे तुर्क राजत्व के सिद्धांत के समान बना दिया. अब सुल्तान अमीरों का अमीर नहीं, अपितु उनका स्वामी था. उसने अमीरों की महत्वाकांक्षा कुचलने के लिए उनके आर्थिक साधनों को सीमित कर दिया तथा उनकी गतिविधियों पर नज़र रखने के लिए अपने गुप्तचर नियुक्त कर दिए. उसने शक्ति के केन्द्रीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ की और इस प्रकार अमीरों की राज्य में हिस्सेदारी की परंपरा को समाप्त कर दिया.

इब्राहीम लोदी ने भी अपने पिता सिकंदर लोदी की ही भांति अमीरों के दमन की नीति अपनाई और उसने भी राजत्व के सिद्धांत को तुर्कों तथा हिन्दुओं के राजत्व के दैविक सिद्धांत के अनुरूप ढालना चाहा. ज्यों-ज्यों सुल्तान ने शक्ति के केन्द्रीकरण के प्रयासों को गति प्रदान की और ज्यों-ज्यों उसने अफगान अमीरों की स्वच्छंदता का दमन करने का प्रयास किया, उसकी पकड़ अपनी सल्तनत पर से तथा अपने अमीरों पर से कमजोर होती चली गयी. इस प्रकार सिकंदर लोदी तथा इब्राहीम लोदी ने अफगान राजत्व के सिद्धांत में परिवर्तन करने के प्रयास में लोदी राज्य वंश के पतन के द्वार खोल दिए. 1526 में पानीपत के प्रथम युद्ध में इब्राहीम लोदी को पराजित कर, बाबर ने हिंदुस्तान में मुग़ल साम्राज्य की स्थापना की. उसने स्वयं को 'पादशाह' के रूप में प्रतिष्ठित किया. 'पादशाह' व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक, दोनों ही रूप से – पूर्ण संप्रभुता-प्राप्त शासक था. दिल्ली के सुल्तान को तो खलीफ़ा की नाम-मात्र की आधीनता स्वीकार कर उसके प्रतिनिधि अथवा उसके नायब के रूप में सल्तनत पर शासन करना होता था किन्तु 'पादशाह' को अपने पद को वैधानिकता प्रदान करने के लिए खलीफ़ा से किसी प्रकार की मान्यता प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं थी.

अभ्यास प्रश्न

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए

1. दिल्ली सुल्तानों द्वारा खलीफ़ा से मान्यता प्राप्त करने के प्रयास
2. बलबन का राजत्व का सिद्धांत
3. अफगान राजत्व का सिद्धांत

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 2.3.6 दिल्ली के सुल्तान और खिलाफ़त
2. देखिए 2.4.1 बलबन का राजत्व का सिद्धांत
3. देखिए 2.4.5 अफगान राजत्व का सिद्धांत

1.8 पारिभाषिक शब्दावली

मुस्लिम उम्मा – मुस्लिम समुदाय

'राशिदुन' – जिनका कि उचित मार्ग-दर्शन किया गया हो

शुरा – विभिन्न विषयों पर निर्णय लेने के लिए धर्म और क़ानून के जानकारों की गठित सभा
शरियत – मुस्लिम क़ानून
ख़िलाफ़त – ख़लीफ़ा का साम्राज्य
उलेमा - शरिया क़ानून का जानकार
दार-उल-हर्ब – विधर्मियों का देश
ख़िलअत – औपचारिक वेशभूषा
दार-उल-इस्लाम – आस्तिकों अर्थात् मुसलमानों का देश
सिज्दा – साष्टांग प्रणाम
पैबोस – चरण चूमना
रैयत-ए-आला – जागीरदार, प्रजाजन में विशिष्ट
बहलोली अमीर – बहलोल लोदी द्वारा नियुक्त अमीर
सिकंदरी अमीर – सिकंदर लोदी द्वारा नियुक्त अमीर
पादशाह – बादशाह

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

इलियट, एच. एम., डाउसन, जे – ‘हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया एज टोल्ड बाय इट्स ओन हिस्टोरियंस’, 8 भागों में, लन्दन, 1867

मजूमदार, आर. सी. (संपादक) – ‘दि डेल्ही सल्तनत’ बॉम्बे, 1980

सैयद, एम. एच. – ‘हिस्ट्री ऑफ़ डेल्ही सल्तनत’ नई दिल्ली, 2005

चंद्रा, सतीश – ‘हिस्ट्री ऑफ़ मिडिवल इंडिया’, हैदराबाद, 2007

ईश्वरी प्रसाद – ‘ए हिस्ट्री ऑफ़ मिडिवल इंडिया’ दिल्ली, 2018

रिजवी, एस. ए. ए. – ‘तुगलक़कालीन भारत, भाग 1 तथा भाग 2,

अलीगढ़, 1956

रिजवी, एस. ए. ए. – ‘खलजीकालीन भारत’, नई दिल्ली, 2016

हुसेन. ए. एम. – ‘दि तुगलक़ डायनेस्टी’ कलकत्ता, 1963

इब्न बतूता – ‘दि रहला’ (अंग्रेज़ी अनुवाद – हुसेन, एम) बड़ौदा, 1953

जैक्सन, पीटर – ‘दि डेल्ही सल्तनत: पॉलिटिकल एंड मिलिट्री हिस्ट्री’ केम्ब्रिज, 2003

कुरैशी, आई. एच. – ‘दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ़ दि डेल्ही सल्तनत’ नई दिल्ली, 1996

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. दिल्ली सल्तनत में धर्म की महत्ता और उसके गुण-दोष की विवेचना कीजिए.

ब्लॉक चार

इकाई दो: सल्तनतकालीन सैनिक तथा प्रशासनिक प्रणाली

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 सल्तनतकालीन सैन्य-प्रणाली
 - 2.3.1 दिल्ली सल्तनत की सेना
 - 2.3.2 सैनिकों की भर्ती
 - 2.3.3 सेना के प्रमुख अंग
 - 2.3.4 किले
 - 2.3.5 अस्त्र-शस्त्र बनाने के कारखाने
 - 2.3.6 अस्त्र-शस्त्र के निर्माण में तथा रणनीति में सुधार की उपेक्षा
- 2.4 दिल्ली सल्तनत की प्रशासनिक प्रणाली
 - 2.4.1 खलीफ़ा की सर्वोच्चता
 - 2.4.2 सुल्तान – दिल्ली सल्तनत का सर्वोच्च प्रशासक
 - 2.4.3 दिल्ली सल्तनत के सर्वोच्च न्यायाधीश के रूप में सुल्तान
 - 2.4.4 सर्वोच्च सेनानायक के रूप में सुल्तान
 - 2.4.5 दिल्ली सल्तनत का केन्द्रीय प्रशासन
 - 2.4.5.1 शक्ति का केन्द्रीकरण
 - 2.4.5.2 सुल्तान का मंत्रिमंडल
 - 2.4.5.3 मजलिस-ए-खल्वत
 - 2.4.6 कर प्रणाली
 - 2.4.6.1 खराज
 - 2.4.6.1.1 लगान व्यवस्था
 - 2.4.6.1.2 मसाहत (भूमि का मापन)
 - 2.4.6.1.3 नहरों का निर्माण और सिंचाई कर
 - 2.4.6.2 खम्स
 - 2.4.6.3 जज़िया
 - 2.4.6.4 ज़कात
 - 2.4.6.5 अन्य कर
 - 2.4.7 न्याय-व्यवस्था
 - 2.4.7.1 न्याय-व्यवस्था का आधार
 - 2.4.7.2 न्याय-वितरण
 - 2.4.8 व्यापार

2.4.9 दिल्ली सल्तनत का प्रांतीय प्रशासन

2.4.9.1 इक्ता तथा इक्तेदार

2.4.9.2 शिक, परगना तथा ग्राम का प्रशासन

- 2.5 सारांश
- 2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 2.7 पारिभाषिक शब्दावली
- 2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ
- 2.9 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

दिल्ली सल्तनत एक मुस्लिम राज्य था और उसका सुल्तान सैद्धांतिक रूप से खलीफ़ा के प्रतिनिधि अथवा नायब के रूप में सल्तनत पर शासन करता था किन्तु वास्तव में वह असीमित शक्तियों को धारण करने वाला एक निरंकुश शासक था. सुल्तान सल्तनत का सर्वोच्च प्रशासक, सर्वोच्च सेनानायक और सर्वोच्च न्यायाधीश था.

दिल्ली सल्तनत में विभिन्न जातियों, राष्ट्रीयताओं तथा धर्मों के सैनिक थे जिनमें कि एकता और संगठन का अभाव था. आम तौर पर सेना में अधिकांश सैनिक अस्थायी होते थे और उन्हें वेतन के स्थान पर लूट में हिस्सा मिलता था.

गैर-मुस्लिम शक्तियों के विरुद्ध सैनिक अभियानों को 'जिहाद' का नाम दिया जाता था. सेना के तीन प्रमुख अंग थे – पैदल सैनिक, घुड़सवार और हस्ति-सेना, दिल्ली सल्तनत में तोपखाना नहीं होता था किन्तु अन्य प्रकार के आग्नेय अस्त्र अवश्य होते थे. एशिया और यूरोप के अनेक देशों में युद्ध में तोपों का प्रचुर मात्रा में उपयोग होने लगा था. किन्तु दिल्ली सल्तनत में युद्ध में तोपों का प्रयोग अब तक नहीं किया जा रहा था. पानीपत के प्रथम युद्ध में बाबर की इब्राहीम लोदी पर विजय का एक बड़ा कारण उसका सक्षम तोपखाना था. शासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए के सुल्तान निम्न मंत्री नियुक्त करता था.– वज़ीर, दीवान-ए-आरिज़, दीवान-ए-इंशा, दीवान-ए-रिसालत, सद्र-उस-सुदूर तथा क्राज़ी-उल-क्रज़ात. सुल्तान के विशिष्ट परामर्शदाताओं को 'मजलिस-ए-खल्वत' के नाम से जाना जाता था. सल्तनत के प्रमुख अधिकारी, वज़ीर से लेकर अन्य मंत्रियों के काम में उनका हाथ बटाते थे. राजस्व एकत्र करने के लिए मुख्य चार कर थे – खराज, खराज, खम्स, जज़िया और ज़कात. खानों से मिलने वाले खनिज तथा गड़े हुए धन के मिलने पर भी कर लगाया जाता था. राज्य की आय का मुख्य श्रोत भू-राजस्व था. खराज, खम्स, जज़िया और ज़कात. किन्तु इनके अतिरिक्त सिंचाई कर, चारागाह कर, व्यापार कर, चुंगी, न्याय-व्यवस्था - कुरान, शरियत, हदीस, न्याय-व्यवस्था कुरान, शरियत, हदीस, इज्मा और क़यास पर आधारित थी. किन्तु बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा को निष्पक्ष न्याय प्राप्त नहीं होता था.

सल्तनत काल में उद्योग तथा व्यापार उन्नत दशा में था और व्यापार संतुलन भारत के पक्ष में होने के कारण भारत की समृद्धि निरंतर बढ़ रही थी। दिल्ली सल्तनत का स्थानीय शासन इत्तों, शिकों, दिल्ली सल्तनत के प्रांतीय प्रशासन के अंतर्गत – इत्तों, शिकों, परगनों और ग्रामों का प्रशासन आता था। इनमें इत्तों, शिकों और परगनों के प्रशासन का स्वरूप लगभग केन्द्रीय शासन के समान ही होता था किन्तु ग्राम-प्रशासन स्वायत्त शासित था। इनमें न्याय का दायित्व ग्राम-पंचायतों का होता था। किन्तु इनमें कानूनगो, पटवारी और कारकुन की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य – दिल्ली सल्तनतकाल की सैन्य-प्रणाली तथा प्रशासनिक प्रणाली के प्रमुख तत्वों की चर्चा तथा उनके गुण-दोषों की विवेचना करना है। इस इकाई का अध्ययन कर आप –

15. सैद्धांतिक रूप से खलीफ़ा के नायब होने के बावजूद दिल्ली सल्तनत में सुल्तान की अपरिमित शक्ति से परिचित हो सकेंगे तथा सर्वोच्च प्रशासक, सर्वोच्च सेनानायक तथा सर्वोच्च न्यायाधीश के रूप में उसके अधिकारों से अवगत हो सकेंगे।
16. एक सैनिक राज्य के रूप में दिल्ली सल्तनत के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
17. दिल्ली सल्तनत के सैनिक संगठन और उसके मुख्य अंगों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
18. दिल्ली सल्तनत की सैन्य प्रणाली की दुर्बलताओं और उसके कारण दिल्ली सल्तनत के पतन के कारणों से अवगत हो सकेंगे।
19. सुल्तान को दिल्ली सल्तनत के सर्वोच्च प्रशासक के रूप में उसका हाथ बटाने के लिए उसके मंत्रिमंडल और प्रमुख अधिकारियों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
20. दिल्ली सल्तनत की कर-प्रणाली की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
21. दिल्ली सल्तनत न्याय-व्यवस्था से अवगत हो सकेंगे।
22. इत्तों के प्रशासन अर्थात् प्रांतीय प्रशासन तथा उसके अंग – शिकों, परगनों तथा ग्राम-प्रशासन के मुख्य बिन्दुओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

2.3 सल्तनतकालीन सैन्य-प्रणाली

2.3.1 दिल्ली सल्तनत की सेना

दिल्ली सल्तनत में यद्यपि सैद्धांतिक रूप से सुल्तान ही सर्वोच्च सेनानायक तथा सैन्य-विभाग का प्रमुख होता था किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से 'आरिज़-ए-मुमालिक' मुख्य सैन्य-प्रशासक होता था। नव-विजित क्षेत्र में, चारों ओर से शत्रु-राज्यों से घिरे रहने के कारण सल्तनत काल में सेना का अत्यधिक महत्व था। सुल्तान को अपने संसाधनों का एक बड़ा भाग एक विशाल सेना के रख-रखाव में व्यय करना पड़ता था। अलाउद्दीन खिलजी जैसे महान विजेता सुल्तान के काल में उसके सैनिकों की संख्या लगभग 5 लाख थी।

सेना में तुर्क, ईरानी, अफ़गान, मंगोल, भारतीय मुस्लिम और हिन्दू भी होते थे किन्तु बहुसंख्यक सैनिक मुसलमान ही होते थे जो कि 'जिहाद' के नाम पर हिन्दुओं के विरुद्ध सैनिक-अभियानों में उत्साह के साथ भाग लेते थे. दिल्ली सल्तनत के सैनिकों में जातीय भिन्नता, सांस्कृतिक भिन्नता, भाषागत भिन्नता और धार्मिक भिन्नता भी इतनी अधिक थी कि उनमें एकता और संगठन का सर्वथा अभाव था. फिर दिल्ली सल्तनत का हिन्दू सैनिक, 'जिहाद' के नाम पर किए जाने वाले सैनिक-अभियानों के दौरान हिन्दुओं का रक्तपात और मंदिरों का विध्वंस किस प्रकार सहन कर सकता था?

दिल्ली सल्तनत के अधिकांश सैनिक भाड़े के टट्टू होते थे जिनकी भर्ती पूर्णरूपेण अस्थायी होती थी. इनको वेतन के रूप में नक़द कुछ भी नहीं, बल्कि लूट का एक हिस्सा मिलता था. अब यदि सैनिक-अभियान असफल रहता था तो कुछ लूटने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था और सैनिक अपनी जान हथेली पर लेकर लड़ने के बाद अगर जीवित बचा तो खाली हाथ लौट आता था. युद्ध पर आधारित राज्य (क्रीग स्टेट) में कभी स्थायित्व नहीं हो सकता. शिवाजी का क्रीग स्टेट तो एक सीमा तक सफल रहा था किन्तु पेशवा बाजी राव प्रथम के बाद मराठों के क्रीग स्टेट को भी उन्हीं असफलताओं के दौर से गुजरना पड़ा था जैसा कि दिल्ली सल्तनत को गुजरना पड़ा था.

सल्तनत काल में गैर-मुस्लिम शक्तियों के विरुद्ध सैनिक-अभियानों को 'जिहाद' का नाम दे दिया जाता था. प्रारंभिक दौर में 'जिहाद' के नाम पर अनेक हिन्दू शक्तियों को पराजित करने में सुल्तानों को सफलता भी मिली किन्तु बाद में हिन्दू-प्रतिरोध इतना सशक्त हो गया कि 'जिहाद' के नाम पर हिन्दू शक्तियों को पराजित करना बहुत कठिन हो गया. दक्षिण में विजयनगर साम्राज्य का उदय और उत्तर में राजपूत शक्ति का पुनरुत्थान अब 'जिहाद' के नाम पर किए जाने वाले सैनिक अभियानों का प्रतिरोध करने में सफल हो रहा था.

2.3.2 सैनिकों की भर्ती

आम तौर पर इक्तेदार और अमीर अपने-अपने लिए सैनिकों की भर्ती किया करते थे. सभी इक्तेदारों का और अमीरों का, यह कर्तव्य था कि आवश्यकता पड़ने पर वो अपनी सैनिक टुकड़ियाँ सुल्तान की सेवा में प्रस्तुत करें. अनेक सैनिकों की भर्ती केवल सैनिक अभियानों, वाह्य-आक्रमणों और आंतरिक विद्रोहों के समय की जाती थी. यह अलाउद्दीन खिलजी ही था जिसने मंगोल आक्रमणों को रोकने के लिए और उत्तर तथा दक्षिण भारत में साम्राज्य-विस्तार के लिए एक स्थायी सेना का गठन किया था जिसे 'खासखेल' कहा जाता था. आम तौर पर सैनिक अभियानों के लिए भर्ती किए गए सैनिकों को वेतन के स्थान पर लूटे गए माल का एक हिस्सा मिलता था.

फ़िरोज़ शाह तुगलक़ ने सेना में अपने गुलामों की भर्ती भी की थी. सल्तनत काल में सैनिकों के लिए सैन्य-प्रशिक्षण का कोई प्रबंध नहीं था. किन्तु सजग और शक्तिशाली सुल्तानों के शासनकाल में सेना का नियमित निरीक्षण होता था किन्तु फ़िरोज़ शाह तुगलक़ जैसे सुल्तानों ने सैनिक अनुशासन में ढील देकर सैनिकों के निरीक्षण की सर्वथा उपेक्षा की थी.

2.3.3 सेना के प्रमुख अंग

सेना के तीन प्रमुख अंग थे –

1. पैदल सैनिक – इनको 'पायक' कहा जाता था. इनके मुख्य अस्त्र-शस्त्र थे – तलवार, भाला और तीर-कमान.
2. घुड़सवार – घुड़सवार सेना दिल्ली सल्तनत की सेना का प्रमुख अंग थी. 'सवार' के पास एक घोड़ा होता था और 'दो-अस्पा' सवार के पास दो घोड़े होते थे. चूंकि भारत में अच्छी नस्ल के घोड़े उपलब्ध नहीं थे इसलिए उन्हें अरब देशों से ऊंची कीमत पर आयात किया जा सकता था. 10 घुड़सवारों के सरदार को 'सरखेल', 10 'सरखेलों' के सरदार को 'सिपहसालार', 10 'सिपहसालारों' के सरदार को 'मलिक' और 10 'मलिकों' के सरदार को 'खान' कहा जाता था. 'अमीर-ए-आखुर' अश्व-शाला का अध्यक्ष होता था. अलाउद्दीन खिलजी ने अपने घुड़सवार सैनिकों का वेतन 234 टंके वार्षिक निर्धारित किया था जिसमें घोड़े के रख-रखाव का खर्चा भी शामिल था. घुड़सवार सैनिक इतने वेतन में अपना गुजारा और अपने घोड़े का खर्च आसानी से चला सकें इसके लिए ही अलाउद्दीन खिलजी ने बाज़ार-नियंत्रण की नीति अपनाई थी.
3. हस्ति-सेना – हस्ति-सेना रखने का अधिकार केवल सुल्तान को था. हाथियों को युद्ध के लिए प्रशिक्षित किया जाता था. उन्हें दुश्मन के किले की दीवारों और किले के फाटकों को तोड़ने के लिए और शत्रु-सेना को कुचलने के लिए प्रशिक्षित किया जाता था. सैनिक अभियानों के समय अस्त्र-शस्त्र और खाद्य सामग्री तथा अन्य आवश्यक सामग्री ढोकर ले जाने में भी उनकी सेवाएँ ली जाती थीं. 'शहना-ए-पील' हस्ति-शाला का अध्यक्ष होता था. दिल्ली सल्तनत में तोपखाना तो नहीं होता था किन्तु अन्य प्रकार के आग्नेय अस्त्र अवश्य होते थे. इनमें सबसे प्रमुख था – 'बलिस्ता'. यह बिना बारूद के यांत्रिकी पद्धति से पत्थर फेंकने वाला एक विशाल यंत्र होता था इस से सुलगते हुए पत्थर के गोले, जलते हुए तीर, सांप आदि शत्रुओं पर बरसाए जाते थे. युद्ध में 'फ़लाखून', 'गरगज़, और 'सबात' का भी प्रयोग होता था. नौ-सेना – सैनिक अभियानों में नदियाँ पार करने में और माल ढोने में नावों का भी उपयोग होता था किन्तु सुल्तान की कोई सुसज्जित और प्रशिक्षित नौ-सेना नहीं थी. नौ-सेना का अधिकारी 'मीर-ए-बहर' होता था.

2.3.4 किले

सल्तनत काल में सामरिक दृष्टि से किलों का अत्यधिक महत्व था. राजधानी से लेकर प्रत्येक महत्वपूर्ण नगर में और सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानों में किलों का निर्माण किया जाता था. सुल्तान बलबन ने मंगोल आक्रमणों को विफल करने के लिए अपने साम्राज्य में किलों की श्रृंखला तैयार करवाई थी जिनमें अस्त्र-शस्त्र और खाद्यान्न, जल आदि की पर्याप्त व्यवस्था होती थी. गियासुद्दीन तुगलक़ का तो मक़बरे का निर्माण भी एक किले के रूप में हुआ है.

2.3.5 अस्त्र-शस्त्र बनाने के कारखाने

दिल्ली सल्तनत मूलतः युद्ध पर आधारित राज्य था और इसके शासक प्रायः युद्ध में रत रहते थे. युद्ध के लिए आवश्यक अस्त्र-शस्त्र का निर्माण शासन की देख-रेख में कारखानों में किया जाता था.

2.3.6 अस्त्र-शस्त्र के निर्माण में तथा रणनीति में सुधार की उपेक्षा

दिल्ली सल्तनत की स्थापना से लेकर पानीपत के प्रथम युद्ध तक दिल्ली के सुल्तानों की रणनीति और उनके अस्त्र-शस्त्र लगभग एक से ही रहे. बलबन और अलाउद्दीन खिलजी को छोड़कर, दिल्ली के सुल्तान मंगोल आक्रमणों को

रोक पाने में प्रायः विफल रहे. मंगोलों के उत्तर-पश्चिम से हो रहे आक्रमणों को रोकने के लिए उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में समुचित प्रबंध किया जाना चाहिए था किन्तु दिल्ली के सुल्तान हर बार मंगोलों को दिल्ली की सीमा तक बढ़ने देते थे फिर किलों में छुपकर उनका कायरता पूर्ण तरीके से सामना करने का नाटक करते थे. मुहम्मद बिन तुगलक की सैन्य-शक्ति तो इतनी क्षीण हो गयी थी कि उसने मंगोलों का वीरतापूर्वक मुकाबला करने के स्थान पर अपनी राजधानी ही दिल्ली से दौलताबाद स्थानांतरित करने का निश्चय कर लिया था.

तैमूर को भी दिल्ली के प्रवेश द्वार तक बढ़ते रहने से किसी ने नहीं रोका था. 1398-99 में तैमूर के आक्रमण को रोक पाने में भी तत्कालीन दिल्ली का सुल्तान पूर्णतया विफल रहा था. 17 दिसंबर, 1398 को पानीपत के निकट तुगलक सुल्तान नसीरुद्दीन महमूद की सेना तथा तैमूर की सेना के मध्य युद्ध हुआ. सुल्तान को अपनी विशाल हस्ति-सेना की विनाशकारी शक्ति पर बहुत भरोसा था किन्तु तैमूर ने अपने ऊंटों की पीठ पर लकड़ियों का ढेर बाँध कर और फिर उनमें आग लगाकर उन्हें हाथियों के सामने दौड़ा दिया. दौड़ती आग से भयभीत हाथी पलट कर अपनी सेना को ही रौंदते हुए भाग खड़े हुए. कुछ ही समय में तैमूर की सेना की तुगलक सेना के विरुद्ध निर्णायक विजय प्राप्त हुई. मंगोलों की रणनीति की ही भांति तैमूर की रणनीति दिल्ली सुल्तानों की रणनीति से कहीं अधिक श्रेष्ठ थी.

इस बीच एशिया और यूरोप के अनेक देशों में युद्ध में तोपों का प्रचुर मात्रा में उपयोग होने लगा था. यहाँ तक कि दक्षिण-भारत के विजयनगर तथा बहमनी राज्य भी युद्ध में तोपों का उपयोग करने लगे थे किन्तु दिल्ली सल्तनत में युद्ध में तोपों का प्रयोग अब तक नहीं किया जा रहा था. पानीपत के प्रथम युद्ध में बाबर की इब्राहीम लोदी पर विजय का एक बड़ा कारण उसका सक्षम तोपखाना था. दूसरी ओर दिल्ली के सुल्तान अभी भी सैकड़ों साल पुरानी रणनीति अपना रहे थे. दिल्ली के सुल्तानों की सेना, उजबेगों तथा मुगलों द्वारा अपनाई गयी 'तुलुगमा' रणनीति से सर्वथा अनभिज्ञ थी.

दिल्ली सल्तनत के सैनिकों के लिए युद्ध में आत्म-रक्षा का समुचित प्रबंध किए जाने की कोई व्यवस्था नहीं थी. कवच, शिरस्त्राण का उपयोग, आम सैनिक के लिए तो स्वप्न में भी संभव नहीं था. पानीपत के प्रथम युद्ध में इब्राहीम लोदी के अधिकांश सैनिक तो बिना जूतों के, नंगे पैर लड़ रहे थे. जहाँ एक ओर दिल्ली सल्तनत की सैन्य-प्रणाली प्रारंभिक काल में भारत में विजय पर विजय प्राप्त करने का कारण बनी वहीं परवर्ती काल में उसका पिछड़ापन दिल्ली सल्तनत के विघटन और अंततः उसके पतन के लिए उत्तरदायी हुआ.

2.4 दिल्ली सल्तनत की प्रशासनिक प्रणाली

2.4.1 खलीफ़ा की सर्वोच्चता

दिल्ली सल्तनत में इस्लाम राज्य-धर्म था और वह एक मुस्लिम राज्य था. सैद्धांतिक रूप से दिल्ली सल्तनत की प्रशासनिक प्रणाली, कुरान शरीफ की शिक्षाओं पर आधारित थी और उसी से निर्देशित होती थी. प्रत्येक मुस्लिम राज्य में सैद्धांतिक दृष्टि से खलीफ़ा ही सर्वोच्च शासक होता था और दुनिया भर के सभी मुस्लिम राज्यों के शासक उसके आधीन होते थे और उनकी हैसियत खलीफ़ा के साम्राज्य – ‘ख़िलाफ़त’ के एक सूबेदार से अधिक नहीं होती थी. यदि ‘ख़िलाफ़त’ का कोई सूबेदार स्वयं को एक स्वतंत्र शासक के रूप में स्थापित भी कर लेता था तो वह एक शासक के रूप में खलीफ़ा की संस्तुति और उसके द्वारा मान्यता प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता था और खुद को उसका नायब अथवा उसका प्रतिनिधि ही कहता था. दिल्ली सल्तनत में सुल्तानों ने आम तौर पर खलीफ़ा की औपचारिक सत्ता स्वीकार करने में किसी प्रकार का विरोध व्यक्त नहीं किया.

2.4.2 सुल्तान – दिल्ली सल्तनत का सर्वोच्च प्रशासक

दिल्ली सल्तनत का मुख्य प्रशासक स्वयं सुल्तान होता था. सुल्तान पूर्णरूपेण स्वतंत्र तथा सर्व-शक्तिमान शासक के रूप में अपनी इच्छा को ही क़ानून के रूप में लागू करने में सक्षम था. हालांकि मुस्लिम राज्यों में वंशानुगत उत्तराधिकार की कोई व्यवस्था नहीं थी और शासक को अपना उत्तराधिकारी घोषित करने का कोई अधिकार नहीं था फिर भी दिल्ली सल्तनत में सुल्तान, अपनी मृत्यु से पूर्व अपना उत्तराधिकारी घोषित कर देता था और उसके अनुचर, उसके अमीर, सामान्यतः उसकी इच्छा का सम्मान व अनुपालन करते थे.

सैद्धांतिक रूप से शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से सक्षम कोई भी मुसलमान सुल्तान के पद के दावेदारी कर सकता था किन्तु 15 वीं शताब्दी से पहले तक यह आप्रवासी तुर्कों तक ही सीमित रहा. बाद में अफ़ग़ान भी सुल्तान के पद पर आसीन हुए. मुख्य प्रशासक के रूप में सुल्तान का यह कर्तव्य समझा जाता था कि वह अपनी सल्तनत पर कुरान शरीफ़ की शिक्षाओं के अनुरूप शासन करे. मुस्लिम क़ानून की स्वयं व्याख्या करने का सुल्तान को अधिकार था. सुल्तान आजीवन शासक के पद पर बने रहने का अधिकारी था. बिना रक्त-रंजित क्रान्ति के, अथवा पारिवारिक, या दरबारी षड्यंत्र के, सुल्तान को अपदस्थ नहीं किया जा सकता था.

2.4.3 दिल्ली सल्तनत के सर्वोच्च न्यायाधीश के रूप में सुल्तान

दिल्ली सल्तनत में सर्वोच्च प्रशासक तथा अपनी मुस्लिम प्रजा का धर्म-प्रमुख होने के साथ-साथ सुल्तान, सर्वोच्च न्यायाधीश भी होता था. न्यायाधीश के रूप में उसकी शक्तियां असीमित थीं और उसकी इन शक्तियों पर न तो कोई बंधन था और न ही किसी प्रकार का कोई नियंत्रण. यदि सुल्तान सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली होता था तो उसका हर वचन अपने आप में क़ानून होता था. अलाउद्दीन खिलजी जैसा शक्तिशाली सुल्तान कहता था – ‘सुल्तान का वचन ही क़ानून है.’

2.4.4 सर्वोच्च सेनानायक के रूप में सुल्तान

दिल्ली सल्तनत में सुल्तान ही सैन्य-प्रशासन का प्रमुख अर्थात् सर्वोच्च सेनानायक होता था. सुल्तान एक निरंकुश शासक भी था और सर्वोच्च सेनानायक भी था. राज्य की समस्त शक्तियां एक अकेले सुल्तान में केन्द्रित थीं. यह सुल्तान की अपनी इच्छा पर निर्भर करता था कि वह अपनी असीमित शक्तियों को अपने अधीनस्थों में किस प्रकार वितरित करे.

2.4.5 दिल्ली सल्तनत का केन्द्रीय प्रशासन

2.4.5.1 शक्ति का केन्द्रीकरण

यूँ तो दिल्ली सल्तनत एक मुस्लिम राज्य था जिसका कि स्वरूप मूलतः लोकतान्त्रिक होता है और वह शक्ति के विभाजन के सिद्धांत पर आधारित होता है किन्तु परिस्थितियों के अनुसार दिल्ली सल्तनत में शक्ति के केन्द्रीकरण पर बल दिया गया था. हिन्दू प्रतिरोध और उत्तर-पश्चिम से हो रहे मंगोल आक्रमणों के कारण सुल्तान को जहाँ अपनी सेना को शक्तिशाली बनाए रखना पड़ता था, वहीं उसे शक्ति के केन्द्रीकरण की नीति को भी अपनाना पड़ता था.

2.4.5.2 सुल्तान का मंत्रिमंडल

शासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए के सुल्तान निम्न मंत्री नियुक्त करता था. –

1. **वज़ीर** – यह सुल्तान का प्रधानमंत्री होता था और उसके साथ ही यह वित्त-मंत्री भी होता था. वज़ीर प्रशासनिक विषयों में सुल्तान का प्रमुख सलाहकार भी होता था. वज़ीर, नागरिक-प्रशासन के साथ-साथ सैन्य-प्रशासन का कार्य भी देखता था. वज़ीर के कार्यालय को ‘दीवान-ए-विज़ारत’ कहा जाता था. कभी-कभी वज़ीर इतना शक्तिशाली हो जाता था कि वह सुल्तान के स्थान पर तख्तनशीन भी हो जाता था. उदाहरण के लिए नासिरुद्दीन महमूद का वज़ीर, बलबन, उसकी मृत्यु के बाद खुद सुल्तान बन बैठा था.

2. **दीवान-ए-आरिज़ अथवा आरिज़-ए-मुमालिक** – सेना के रख-रखाव और उस पर नियंत्रण रखने का दायित्व ‘दीवान-ए-आरिज़’ का होता था. यह मुगलकाल के ‘मीरबक्शी’ के समकक्ष होता था. इसकी भूमिका वर्तमान रक्षा-मंत्री से कहीं अधिक होती थी. वज़ीर के बाद इसका ही पद सबसे महत्वपूर्ण होता था. सैनिकों की भर्ती, सेना के लिए घोड़ों की खरीद-फ़रोख्त, उनके रख-रखाव, सैनिक अनुशासन, सैनिकों के भोजन, कपड़े, उनके रहने की व्यवस्था, सैनिक अभियानों तथा युद्ध के समय प्रत्येक आवश्यक सामग्री की आपूर्ति, अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण तथा उनके रख-रखाव, सेना का नियमित निरीक्षण, सैनिकों की सैन्य-क्षमता का परीक्षण आदि उसके दायित्व थे.

3. **दीवान-ए-इंशा** – शाही पत्र-व्यवहार, शाही फ़रमान आदि का दायित्व इस मंत्री का होता था. ‘दबीर-ए-ममालिक’ विभाग इसके आधीन होता था. इस विभाग की कार्रवाही अत्यंत गोपनीय होती थी. और ‘दीवान-ए-इंशा’ के पद पर सुल्तान द्वारा अपना कोई अत्यंत विश्वस्त व्यक्ति ही नियुक्त किया जाता था.

4. **दीवान-ए-रिसालत** – ए. बी. एम. हबीबुल्ला के अनुसार यह विदेश मंत्री होता था और कूटनीतिक पत्र-व्यवहार, विभिन्न राज्यों को भेजे जाने वाले राजदूतों की नियुक्ति, उनको सौंपे जाने वाले कार्य, राज्य में आने वाले विदेशी राजदूतों से संपर्क आदि का दायित्व उसी का होता था. दिल्ली के सुल्तान मध्य-एशिया के विभिन्न राज्यों से मधुर

सम्बन्ध बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहते थे और इस कार्य में 'दीवान-ए-रिसालत' की महत्वपूर्ण भूमिका रहती थी.

5..सद्र-उस-सुदूर – इसका दायित्व, समाज को इस्लाम की मूलभूत शिक्षाओं के अनुरूप धार्मिक-सामाजिक जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित करना, धार्मिक संस्थाओं की देखभाल करना और धार्मिक विवादों निबटारा करना होता था और साथ ही खैरात के रूप में जरूरतमंदों की राज्य की ओर से सहायता करना तथा विद्वानों को वित्तीय सहायता देना, तालिब-ए-इल्म को वजीफ़ा देना भी इसके दायित्वों में सम्मिलित था.

6..क्राज़ी-उल-क्रज़ात – सुल्तान के बाद यह राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश होता था और न्याय-विभाग का प्रमुख भी यही होता था.

सुल्तान को यह अधिकार था कि वह चाहे अपने मंत्रियों से उनके मंत्रालय के विषय में सलाह ले अथवा न ले, उनके मंत्रालय के कार्यों में हस्तक्षेप करे या उनको ही विभाग के कार्यों का निष्पादन करने दे. मंत्रियों की नियुक्ति, उनका कार्य-काल और उनके अधिकार आदि सब सुल्तान की अपनी मर्ज़ी पर निर्भर करते थे. यह कहना उचित होगा कि व्यावहारिक दृष्टि से उपरोक्त मंत्री, सुल्तान के मंत्री कम और सचिव, अधिक थे.

2.4.5.3 मजलिस-ए-खल्वत

सुल्तान के विशिष्ट परामर्शदाताओं को 'मजलिस-ए-खल्वत' के नाम से जाना जाता था. इसमें सुल्तान के मंत्री, उसके अपने घनिष्ठ मित्र, विश्वस्त अधिकारी, और उलेमा सम्मिलित होते थे. किन्तु 'मजलिस-ए-खल्वत' की सलाह मानने के लिए भी सुल्तान बाध्य नहीं था.

2.4.5.4 सुल्तान के अन्य प्रमुख अधिकारी

1. बरीद-ए-मुमालिक – यह गुप्तचर विभाग का प्रमुख होता था.
2. दीवान-ए-अमीर कोही – यह कृषि विभाग का प्रमुख होता था.
3. दीवान-ए-खैरात – यह अधिकारी दान-पुण्य के वितरण का कार्य देखता था.
4. दीवान-ए-इश्तिहकाक – यह पेंशन विभाग का प्रमुख होता था
5. सर-ए-जांदार – यह शाही अंगरक्षक विभाग का प्रमुख होता था.
6. दीवान-ए-बंदगान – यह गुलामों के विभाग का प्रमुख होता था.
7. अमीर-ए-शिकार – यह शाही परिवार के लिए शिकार करने की व्यवस्था करता था.
8. अमीर-ए-आखुर – यह अश्वशाला का अध्यक्ष होता था.
9. शहना-ए-पील – शाही हस्तिशाला का यह अध्यक्ष होता था.
10. अमीर-ए-मुत्सर्रिफ़ – यह शाही कारखानों का अध्यक्ष होता था.
11. दीवान-ए-रियासत – अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में इस अधिकारी का दायित्व बाज़ार नियंत्रण का सफल सञ्चालन होता था.
12. दीवान-ए-मुस्तखराज़ – अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में यह भू-राजस्व विभाग का अध्यक्ष होता था.

13. दीवान-ए-नज़र – मुहम्मद बिन तुगलक ने उपहारों के वितरण के लिए इस अधिकारी की नियुक्ति की थी.
14. मुशरिफ़ – यह शाही महालेखाकार होता था और राज्य की आय-व्यय का लेखा-जोखा रखता था.
15. मुस्तौफ़ी – यह मुशरिफ़ के लेखे-जोखे की जांच-पड़ताल करता था.
16. खज़ीन – यह कोषाध्यक्ष होता था.
17. बारबक – यह दरबार की शानो-शौकत बनाए रखने और शाही रस्मों के कुशल सञ्चालन का दायित्व संभालता था.
18. अमीर-ए-हाजिब – सुल्तान से हर मिलने वाले की जांच-पड़ताल का दायित्व इस अधिकारी का होता था.
19. अमीर-ए-मजलिस – शाही दावतों और उत्सवों के सफल आयोजन का दायित्व इस अधिकारी का होता था.
20. कोतवाल – दिल्ली और सभी प्रमुख नगरों में नियुक्त कोतवाल का दायित्व अपने नगर में शांति एवं व्यवस्था बनाए रखना था. अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में दिल्ली का कोतवाल अला-उल-मुल्क था जिससे परामर्श लेने में सुल्तान भी कोई संकोच नहीं करता था.
21. पुलिस – दिल्ली सल्तनत में अलग से कोई पुलिस विभाग नहीं था. स्थानीय अधिकारियों को अपनी सेना की सहायता से ही अपने-अपने क्षेत्र में शान्ति-व्यवस्था बनाए रखने की ज़िम्मेदारी होती थी. शहर कोतवाल के पास पुलिस के अधिकार होते थे किन्तु वह मूलतः एक सैन्य-अधिकारी होता था.

2.4.6 कर प्रणाली

2.4.6.1 खराज

खराज – यह भू-राजस्व होता था जो कि भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में राज्य की आय का मुख्य साधन होता था. आम तौर पर यह कर उपज का एक तिहाई भाग होता था किन्तु अलाउद्दीन खिलजी ने इसे बढ़ाकर उपज का आधा कर दिया था. खराज का निर्धारण सामान्यतः अनुमान पर आधारित था किन्तु अलाउद्दीन खिलजी और सिकंदर लोदी जैसे सुल्तानों ने भूमि की नाप-जोख किए जाने के पश्चात कर-निर्धारण की व्यवस्था की थी. मुसलमान कृषकों से अपेक्षाकृत भू-राजस्व कम लिया जाता था और यह 'उश्र' कहलाता था. यह सामान्यतः उपज का 10% होता था. खालसा भूमि सुल्तान की निजी संपत्ति होती थी और इस से प्राप्त भू-राजस्व, सुल्तान के निजी खज़ाने में जाता था. अधीनस्थ शासक एक निश्चित राशि सुल्तान को देते थे और फिर उन्हें अपनी प्रजा से प्राप्त शेष भू-राजस्व अपने पास रखने का अधिकार था. विद्वानों तथा अन्य व्यक्तियों को इनाम में दी गयी भूमि पर किसी प्रकार का कोई कर नहीं लगाया जाता था.

2.4.6.1.1 लगान व्यवस्था

बंटाई लगान-व्यवस्था में फ़सल तैयार होने पर सरकारी अधिकारी कुल उपज में से राज्य का हिस्सा गल्ले के रूप में वसूल करते थे. इसे 'गल्ला-बकशी' भी कहते थे. कुछ स्थानों पर लगान वसूल करने के लिए 'खेत-बंटाई' की विधि भी अपनाई जाती थी. अलाउद्दीन खिलजी को अपने सैनिकों की अनाज की आवश्यकता की पूर्ती के लिए प्रचुर मात्रा में अनाज की आवश्यकता होती थी इसलिए वह किसानों से अनाज के रूप में ही लगान वसूलता था.

2.4.6.1.2 मसाहत (भूमि का मापन)

सल्तनत काल में अलाउद्दीन खिलजी पहला सुल्तान था जिसने कि लगान-निर्धारण के लिए कृषि-योग्य भूमि की नाप-जोख की प्रणाली लागू की थी. किन्तु गियासुद्दीन तुगलक ने इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया.

2.4.6.1.3 नहरों का निर्माण और सिंचाई कर

फ़िरोज़ शाह तुगलक ने किसानों को सिंचाई की सुविधा देने के लिए राज्य की ओर से नहरों के निर्माण में अत्यधिक धन का निवेश किया था. उसने यमुना, घग्घर और सतलज पर 5 बड़ी नहरों का निर्माण कर साम्राज्य के एक बड़े कृषि-भूमि क्षेत्र को सिंचाई की सुविधाओं से समृद्ध किया था. इन नहरों में 'राजवाही' और 'उलुगखानी' प्रमुख थीं. उलेमाओं की सहमति से उसने 'हक-ए-शर्ब' के रूप में किसानों से कुल उपज का 10% भाग प्राप्त किया था.

2.4.6.2 खम्स

1. खम्स – सैनिक अभियानों में सैनिकों को शत्रु-क्षेत्र में खुलेआम लूटने की छूट थी और इस लूट में राज्य का हिस्सा – 20 प्रतिशत होता था किन्तु अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद बिन तुगलक ने खम्स की दर बढ़ाकर 80% कर दी थी.

2.4.6.3 जज़िया

जज़िया – यह गैर-मुस्लिमों से लिया जाने वाला धार्मिक कर था. मुस्लिम राज्यों में रहने वाले गैर-मुस्लिम 'जिम्मी' कहलाते थे और उन्हें अपमानजनक स्थिति में यह कर देना पड़ता था. ब्राह्मण, अपंग, भिखारियों आदि से जज़िया नहीं लिया जाता था किन्तु फ़िरोज़ शाह तुगलक ने ब्राह्मणों पर भी जज़िया लगा दिया था. सामान्यतः जज़िया – अमीरों से 40 टका वार्षिक, माध्यम वर्ग से 20 टका वार्षिक और निर्धनों से 10 टका वार्षिक वसूला जाता था.

2.4.6.4 ज़कात

ज़कात – यह मुसलमानों से लिया जाने वाला धार्मिक कर था. यह सामान्यतः व्यक्ति की आय का 2.5% होता था. ज़कात के रूप में वसूली गयी राशि मुस्लिम समाज के कल्याण हेतु खर्च की जाती थी.

2.4.6.5 अन्य कर

1. सिंचाई कर – जिन कृषकों को नाहर आदि से अपने खेतों में सिंचाई करने की सुविधा थी उनसे उनकी उपज का 10% सिंचाई कर के रूप में लिया जाता था.
2. व्यापार कर – बाज़ार में वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर भी कर लगाए जाने की व्यवस्था थी. व्यापार कर – सामान्यतः गैर-मुस्लिमों से वस्तु के मूल्य का 5% और मुसलमानों से वस्तु के मूल्य का 2.5% वसूला जाता था. घोड़ों के क्रय-विक्रय पर सभी से उसके मूल्य का 5% कर के रूप में वसूला जाता था.
3. चुंगी – नगर में माल ले जाने के लिए व्यापारियों को चुंगी देनी पड़ती थी.
4. अबवाब – अतिरिक्त कर को अबवाब कहा जाता था. अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को देखते हुए सुल्तान को कितने भी अबवाब लगाने का अधिकार था. अलाउद्दीन खिलजी ने चारागाह कर भी लगाया था. गड़े हुए

खजाने के मिलने पर राज्य की ओर से 20% कर लिया जाता था. और खानों से निकलने वाले खनिजों पर भी राज्य की ओर से 20% कर लगाया जाता था.

2.4.7 न्याय-व्यवस्था

2.4.7.1 न्याय-व्यवस्था का आधार

सल्तनत काल में न्याय-व्यवस्था का मुख्य श्रोत - मुस्लिम क़ानून था जो कि क़ुरान, शरियत, हदीस (पैगम्बर के कथन), क़ुरान शरियत, हदीस (पैगम्बर के कथन), इज़्मा (मुस्लिम विधि-वेत्ताओं द्वारा मुस्लिम क़ानून की व्याख्या) और क़यास (तर्क के आधार पर क़ानून विषयक निष्कर्ष निकालना) पर आधारित था.

2.4.7.2 न्याय-वितरण

सुल्तान, राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश होता था. दीवान-ए-मजालिस तथा दीवान-ए-ममालिक उसे विधि-सम्मत परामर्श देते थे. सुल्तान के बाद क़ाज़ी-उल-क़ज़ात सबसे बड़ा न्यायाधीश होता था. धार्मिक विवादों का निबटारा सद्र-उस-सुदूर करता था. इत्कों और शिकों में भी क़ाज़ी और सद्र होते थे. गाँवों में न्याय करने का दायित्व पचायतों का होता था. सल्तनत में दंड-व्यवस्था अत्यंत कठोर थी. विद्रोही की सज़ा प्राण-दंड थी. अपराधी का अंग-भंग किया जाना, काल-कोठरी में डाला जाना और कोड़े लगाया जाना एक आम बात थी.

दिल्ली सल्तनत में बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा को निष्पक्ष न्याय का लाभ नहीं मिल पाता था. न्याय के कठघरे में यदि मुसलमान के विरुद्ध हिन्दू खड़ा होता था तो सामान्यतः निर्णय मुसलमान के पक्ष में ही जाता था. फ़िरोज़ शाह तुगलक़ ने तो अनेक हिन्दू अपराधियों को यह लालच दिया था कि यदि वो इस्लाम में दीक्षित हो जाएं तो उन्हें अपराध-मुक्त कर दिया जाएगा. इसके अतिरिक्त हिन्दू और हिन्दू के ही मध्य विवाद में हिन्दू-न्यायशास्त्र से पूर्णतया अनभिज्ञ क़ाज़ी वर्ग से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती थी कि वो दोनों पक्षों को उचित न्याय दिलवा सकेंगे.

2.4.8 व्यापार

सल्तनत काल में सूती वस्त्र का निर्यात प्रचुर मात्रा में होता था. लोहा, अनाज, जड़ी-बूटी, मसाले, शक्कर, नील आदि का भी निर्यात होता था और आयातित वस्तुओं में घोड़े, अस्त्र-शस्त्र, गुलाम, मेवे, फल, शराब आदि सम्मिलित थे. चूंकि सल्तनत काल में व्यापार-संतुलन भारत के पक्ष में था इसलिए लाभ के रूप में प्रचुर मात्रा में सोना, चांदी, हीरे-जवाहरात सल्तनत में आते थे. दिल्ली, थड्डा, अन्हिलवाड़, वाराणसी, लाहौर, सोनारगांव, देवल (यह अंतर्राष्ट्रीय बंदरगाह था) सल्तनत काल के प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र थे.

2.4.9 दिल्ली सल्तनत का प्रांतीय प्रशासन

2.4.9.1 इक्ता तथा इक्तेदार

सुल्तान इल्तुतमिश ने अपने साम्राज्य को इत्कों (प्रांतों) में विभाजित किया था. इत्कों का शासन का दायित्व इक्तेदारों को सौंपा जाता था. इक्तेदार को 'नायब वली' अथवा 'मुक्ती' भी कहा जाता था. प्रत्येक इक्तेदार के पास एक निश्चित संख्या में सैनिक टुकड़ी होती थी जिसको आवश्यकता पड़ने पर उसे सुल्तान के अभियानों के लिए प्रस्तुत करना होता

था. इक्तेदार अपने इक्ते का मुख्य प्रशासक भी होता था. इक्तेदार का पद वंशानुगत नहीं होता था. उसकी नियुक्ति और उसका कार्य-काल सुल्तान की इच्छा पर निर्भर करता था. सुल्तान बलबन के शासनकाल से इक्तेदारों के वित्तीय भ्रष्टाचार पर नज़र रखने के लिए तथा उसको रोकने के लिए 'ख्वाजा' के पद का सृजन किया गया.

2.4.9.2 शिक, परगना तथा ग्राम का प्रशासन

प्रशासनिक सुविधा के लिए इक्ते को शिक अर्थात् जिलों में और जिलों को परगनों में विभाजित किया जाता था. शिक का प्रशासनिक अधिकारी 'शिकदार' कहलाता था. परगना में मुख्य अधिकारी होते थे – 'मुशरिफ़', 'आमिल' (भू-राजस्व तथा अन्य कर एकत्र करने वाला अधिकारी), 'अमीन' (भूमि की नाप-जोख करने वाला अधिकारी), 'कानूनगो' (भू-राजस्व तथा उपज के पुराने अभिलेख की देख-रेख करने वाला अधिकारी) तथा 'कारकुन' (लिपिक). सबसे छोटी प्रशासनिक इकाई ग्राम होती थी. ग्राम्य-प्रशासन का दायित्व पंचायत का होता था इसमें ग्राम-प्रधान, चौधरी, खुत और मुक़द्दम की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी. किन्तु शासन की ओर से भू-राजस्व तथा ज़मीन की नाप-जोख से अभिलेखों की देख-रेख का दायित्व 'पटवारी' का होता था.

2.5 सारांश

दिल्ली सल्तनत में यद्यपि सैद्धांतिक रूप से सुल्तान ही सर्वोच्च सेनानायक तथा सैन्य-विभाग का प्रमुख होता था किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से 'आरिज़-ए-मुमालिक' मुख्य सैन्य-प्रशासक होता था. दिल्ली सल्तनत की सेना में तुर्क, ईरानी, अफ़गान, मंगोल, भारतीय मुस्लिम और हिन्दू भी होते थे किन्तु बहुसंख्यक सैनिक मुसलमान ही होते थे. दिल्ली सल्तनत के सैनिकों में एकता और संगठन का सर्वथा अभाव था. दिल्ली सल्तनत के अधिकांश सैनिकों की भर्ती पूर्णरूपेण अस्थायी होती थी. इनको वेतन के रूप में लूट का एक हिस्सा मिलता था. सल्तनत काल में गैर-मुस्लिम शक्तियों के विरुद्ध सैनिक-अभियानों को 'जिहाद' का नाम दे दिया जाता था. आम तौर पर इक्तेदार और अमीर अपने-अपने लिए सैनिकों की भर्ती किया करते थे. अधिकांश सैनिकों की भर्ती केवल सैनिक अभियानों, वाह्य-आक्रमणों और आंतरिक विद्रोहों के समय की जाती थी. यह अलाउद्दीन खिलजी ही था जिसने एक स्थायी सेना का गठन किया था. सल्तनत काल में सैनिकों के लिए सैन्य-प्रशिक्षण का कोई प्रबंध नहीं था.

सेना के तीन प्रमुख अंग थे –

1. पैदल सैनिक
2. घुड़सवार – घुड़सवार सेना दिल्ली सल्तनत की सेना का प्रमुख अंग थी.
3. हस्ति-सेना – हस्ति-सेना रखने का अधिकार केवल सुल्तान को था. हाथियों को युद्ध के लिए प्रशिक्षित किया जाता था.

दिल्ली सल्तनत में तोपखाना नहीं होता था किन्तु अन्य प्रकार के आग्नेय अस्त्र अवश्य होते थे. इनमें सबसे प्रमुख थे – 'बलिस्ता' 'फ़लाखून', 'गरगज़ और 'सबात'. सैनिक अभियानों में नदियाँ पार करने में और माल ढोने में नावों का भी उपयोग होता था. नौ-सेना का अधिकारी 'मीर-ए-बहर' होता था. सल्तनत काल में सामरिक दृष्टि से किलों का अत्यधिक महत्व था. एशिया और यूरोप के अनेक देशों में युद्ध में तोपों का प्रचुर मात्रा में उपयोग होने लगा था. किन्तु

दिल्ली सल्तनत में युद्ध में तोपों का प्रयोग अब तक नहीं किया जा रहा था. पानीपत के प्रथम युद्ध में बाबर की इब्राहीम लोदी पर विजय का एक बड़ा कारण उसका सक्षम तोपखाना था. दिल्ली सल्तनत में सुल्तानों ने आम तौर पर खलीफ़ा की औपचारिक सत्ता स्वीकार करने में किसी प्रकार का विरोध व्यक्त नहीं किया. दिल्ली सल्तनत का सर्वोच्च प्रशासक स्वयं सुल्तान होता था. सुल्तान पूर्णरूपेण स्वतंत्र तथा सर्वशक्तिमान शासक के रूप में अपनी इच्छा को ही क़ानून के रूप में लागू करने में सक्षम था.

दिल्ली सल्तनत में सर्वोच्च प्रशासक तथा अपनी मुस्लिम प्रजा का धर्म-प्रमुख होने के साथ-साथ सुल्तान, सर्वोच्च न्यायाधीश भी होता था. न्यायाधीश के रूप में उसकी शक्तियां असीमित थीं. दिल्ली सल्तनत में सुल्तान ही सर्वोच्च सेनानायक होता था.

शासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए के सुल्तान निम्न मंत्री नियुक्त करता था. -

1. वज़ीर – यह सुल्तान का प्रधानमंत्री होता था और उसके साथ ही यह वित्त-मंत्री भी होता था.
2. दीवान-ए-आरिज़ अथवा आरिज़-ए-मुमालिक – सेना के रख-रखाव और उस पर नियंत्रण रखने का दायित्व 'दीवान-ए-आरिज़' का होता था.
3. दीवान-ए-इंशा – शाही पत्र-व्यवहार, शाही फ़रमान आदि का दायित्व इस मंत्री का होता था. 'दबीर-ए-ममालिक' विभाग इसके आधीन होता था.
4. दीवान-ए-रिसालत – यह विदेश मंत्री होता था.
5. सद्र-उस-सुदूर – इसका दायित्व, समाज को इस्लाम की मूलभूत शिक्षाओं के अनुरूप धार्मिक-सामाजिक जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित करना, धार्मिक संस्थाओं की देखभाल करना और धार्मिक विवादों निबटारा करना होता था.
6. क़ाज़ी-उल-क़ज़ात – सुल्तान के बाद यह राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश होता था और न्याय-विभाग का प्रमुख भी यही होता था.

मंत्रियों की नियुक्ति, मंत्रियों का कार्य-काल और उनके अधिकार आदि सब सुल्तान की अपनी मर्जी पर निर्भर करते थे. सुल्तान के विशिष्ट परामर्शदाताओं को 'मजलिस-ए-खल्वत' के नाम से जाना जाता था. सुल्तान के अन्य प्रमुख अधिकारी थे - बरीद-ए-मुमालिक, दीवान-ए-अमीर कोही, दीवान-ए-खैरात, दीवान-ए-इशितहकाक़, सर-ए-जांदार, दीवान-ए-बंदगान, अमीर-ए-शिकार, अमीर-ए-आखुर, शहना-ए-पील, दीवान-ए-रियासत, मुशरिफ़, मुस्तौफ़ी, खज़ीन, बारबक, अमीर-ए-हाजिब, अमीर-ए-मजलिस, कोतवाल. दिल्ली सल्तनत में अलग से कोई पुलिस विभाग नहीं था. स्थानीय अधिकारियों को अपनी सेना की सहायता से ही अपने-अपने क्षेत्र में शान्ति-व्यवस्था बनाए रखने की ज़िम्मेदारी होती थी.

सुल्तान को परम्परागत दृष्टि से केवल चार कर – खराज, खम्स, मुख्य कर चार थे -

1. **खराज** – यह भू-राजस्व होता था. मुसलमान कृषकों से अपेक्षाकृत भू-राजस्व कम लिया जाता था और यह 'उश्र' कहलाता था.

खालसा भूमि सुल्तान की निजी संपत्ति होती थी और इस से प्राप्त भू-राजस्व, सुल्तान के निजी खज़ाने में जाता था.

अधीनस्थ शासक एक निश्चित राशि सुल्तान को देते थे और फिर उन्हें अपनी प्रजा से प्राप्त शेष भू-राजस्व अपने पास रखने का अधिकार था. बंटाई लगानव्यवस्था में- फसल तैयार होने पर सरकारी अधिकारी कुल उपज में से राज्य का हिस्सा गल्ले के रूप में वसूल करते थे .भी कहते थे 'बक्शी-गल्ला' इसे .

सल्तनत काल में अलाउद्दीन खिलजी पहला सुल्तान था जिसने कि लगान-निर्धारण के लिए कृषि-योग्य भूमि की नाप-जोख की प्रणाली लागू की थी. फ़िरोज़ शाह तुगलक़ ने किसानों को सिंचाई की सुविधा देने के लिए राज्य की ओर से नहरों के निर्माण में अत्यधिक धन का निवेश किया था. उलेमाओं की सहमति से उसने 'हक़-ए-शर्ब' (सिंचाई कर) के रूप में किसानों से कुल उपज का 10% भाग प्राप्त किया था.

2. **ख़म्स** – सैनिक अभियानों में सैनिकों को शत्रु-क्षेत्र में खुलेआम लूटने की छूट थी और इस लूट में राज्य का हिस्सा – 20 प्रतिशत होता था.

3. **जज़िया** – यह गैर-मुस्लिमों से लिया जाने वाला धार्मिक कर था. फ़िरोज़ शाह तुगलक़ ने ब्राह्मणों पर भी जज़िया लगा दिया था.

4. **ज़कात** – यह मुसलमानों से लिया जाने वाला धार्मिक कर था. यह सामान्यतः व्यक्ति की आय का 2.5% होता था.

अन्य करों में सिंचाई कर था. यह उपज का 10% होता था. बाज़ार में वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर भी कर लगाए जाने की व्यवस्था थी. नगर में माल ले जाने के लिए व्यापारियों को चुंगी देनी पड़ती थी. अतिरिक्त कर को अबवाब कहा जाता था. अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को देखते हुए सुल्तान को कितने भी अबवाब लगाने का अधिकार था.

सल्तनत काल में न्याय-व्यवस्था का मुख्य श्रोत - मुस्लिम क़ानून था जो कि क़ुरान, शरियत, हदीस, जो कि क़ुरान, शरियत, हदीस, इज़्मा और क़यास पर आधारित था.

सुल्तान, राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश होता था. सुल्तान के बाद क़ाज़ी-उल-क़ज़ात सबसे बड़ा न्यायाधीश होता था. धार्मिक विवादों का निबटारा सद्र-उस-सुदूर करता था. इत्तों और शिकों में भी क़ाज़ी और सद्र होते थे. गाँवों में न्याय करने का दायित्व पचालातों का होता था. सल्तनत में दंड-व्यवस्था अत्यंत कठोर थी. दिल्ली सल्तनत में बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा को निष्पक्ष न्याय का लाभ नहीं मिल पाता था.

सल्तनत काल में सूती वस्त्र का निर्यात प्रचुर मात्रा में होता था. लोहा, अनाज, जड़ी-बूटी, मसाले, शक्कर, नील आदि का भी निर्यात होता था और आयातित वस्तुओं में घोड़े, अस्त्र-शस्त्र, गुलाम, मेवे, फल, दिल्ली सल्तनत उद्योग तथा व्यापार बहुत उन्नत था. व्यापार संतुलन भारत के पक्ष में था इसलिए भारत में सोना, चांदी, हीरे-जवाहरात, लाभ के रूप में प्रचुर मात्रा में आते थे. निर्यात में सूती कपड़े लोहा अनाज मसाले आदि प्रमुख थे जब कि ऊंची नस्ल के घोड़ों का बहुत ऊंची कीमत देकर आयात होता था. शराब का भी आयात होता था.

दिल्ली, थड्डा, अन्हिलवाड़, वाराणसी, लाहौर, सोनारगांव, देवल (यह अंतर्राष्ट्रीय बंदरगाह था) सल्तनत काल के प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र थे – दिल्ली, वाराणसी, थड्डा, लाहौर, अन्हिलवाड़, सुरसती आदि. सुल्तान इल्तुतमिश ने अपने साम्राज्य को इत्तों में विभाजित किया था प्रत्येक इत्तेदार के . इत्तों का शासन का दायित्व इत्तेदारों को सौंपा जाता था .

प्रशासनिक इक्तेदार अपने इक्ते का मुख्य प्रशासक भी होता था .पास एक निश्चित संख्या में सैनिक टुकड़ी होती थी सुविधा के लिए इक्तों को शिक अर्थात् जिलों में, और जिलों को परगनों में विभाजित किया जाता था.शिक का प्रशासनिक अधिकारी ,’अमीन‘ ,’आमिल‘ ,’मुशरिफ़‘ – परगना में मुख्य अधिकारी होते थे .कहलाता था ’शिकदार‘ ’कारकून‘ तथा ’कानूनगो‘ होते थे पंचायत प्रशासन का दायित्व-ग्राम्य .सबसे छोटी प्रशासनिक इकाई ग्राम होती थी. रेख का दायित्व-जोख से अभिलेखों की देख-राजस्व तथा ज़मीन की नाप-का होता था किन्तु शासन की ओर से भू .का होता था ’पटवारी‘

अभ्यास प्रश्न

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए

1. घुड़सवार सेना
2. खराज
3. सल्तनतकालीन न्याय-व्यवस्था

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 1.3.3 सेना के प्रमुख अंग
2. देखिए 1.4.6.1 खराज
3. देखिए 1.4.7 न्याय-व्यवस्था

2.7 पारिभाषिक शब्दावली

जिहाद – धर्म-विजय

क्रीग स्टैट – युद्ध पर आधारित राज्य

दो-अस्पा सवार – ऐसा घुड़सवार जिसके पास दो घोड़े हों

बलिस्ता – शिला-प्रक्षेपक

फ़लाखून – गुल्लक

गरगज़ – चलायमान मंच

सबात – दीवार से घिरी गाड़ी जिसके पीछे सैनिक दुश्मन की मार से सुरक्षित रह सकें

हक्र-ए-शर्ब – सिंचाई कर

तुलुगमा – तोपखाने और घुड़सवार सेना अप्रत्याशित असंयुक्त आक्रमण

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

इलियट, एच. एम., डाउसन, जे – ‘हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया एज़ टोल्ड बाय इट्स ओन हिस्टोरियंस’, 8 भागों में, लन्दन, 1867

मजूमदार, आर. सी. (संपादक) – ‘दि डेल्ही सल्तनत’ बॉम्बे, 1980

सैयद, एम. एच. – ‘हिस्ट्री ऑफ़ डेल्ही सल्तनत’ नई दिल्ली, 2005

चंद्रा, सतीश – ‘हिस्ट्री ऑफ़ मिडिवल इंडिया’, हैदराबाद, 2007
ईश्वरी प्रसाद – ‘ए हिस्ट्री ऑफ़ मिडिवल इंडिया’ दिल्ली, 2018
रिजवी, एस. ए. ए. – ‘तुगलककालीन भारत, भाग 1 तथा भाग 2,
अलीगढ़, 1956
रिजवी, एस. ए. ए. – ‘खलजीकालीन भारत’, नई दिल्ली, 2016
हुसेन. ए. एम. – ‘दि तुगलक डायनेस्टी’ कलकत्ता, 1963
इब्न बतूता – ‘दि रहला’ (अंग्रेज़ी अनुवाद – हुसेन, एम) बड़ौदा, 1953
जैक्सन, पीटर – ‘दि डेल्ही सल्तनत: पॉलिटिकल एंड मिलिट्री हिस्ट्री’ केम्ब्रिज, 2003
कुरैशी, आई. एच. – ‘दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ़ दि डेल्ही सल्तनत’ नई दिल्ली, 1996

2.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. सर्वोच्च प्रशासक, सर्वोच्च सेनानायक तथा सर्वोच्च न्यायाधीश के रूप में सुल्तान के अधिकारों और उसके कर्तव्यों की विवेचना कीजिए.

ब्लॉक चार

इकाई तीन: शर्की वंश

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 जौनपुर राज्य एक दृष्टि में
- 3.4 शर्की वंश का राजनीतिक उत्कर्ष
- 3.5 ख्वाजाजहाँ: प्रारम्भिक जीवन (1394-1399ई०)
- 3.6 सल्तनत का वजीर
- 3.7 ख्वाजाजहाँ: जौनपुर का स्वतन्त्र शासक
- 3.8 सैनिक कार्यवाहियाँ
- 3.9 बिहार पर आक्रमण: उज्जैनियाँ राजपूतों से युद्ध
- 3.10 मुबारक शाह (1399 - 1402 ई०)
- 3.11 इब्राहिम शाह (1402-1496 ई०)
- 3.12 महमूद शाह (1436-1457 ई०)
- 3.13 हुसैन शाह (1458-1500 ई०)
- 3.14 शर्की राजवंश की स्थापत्य कला
- 3.15 सारांश
- 3.16 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 3.17 सन्दर्भ ग्रन्थ
- 3.18 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

14 वीं शताब्दी में जिन स्वतंत्र राज्यों का उदय हुआ उसमें जौनपुर उत्तर भारत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं प्रतिष्ठित राज्य था। इसने न केवल राजनीतिक रूप से स्वतंत्रता हासिल की बल्कि आर्थिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी पर्याप्त विकास किया। साहित्य और स्थापत्य कला के क्षेत्र में काफी ख्याति अर्जित की। इसी कारण जौनपुर को शिराज-ए-मलिक कहा जाने लगा। इस राज्य ने अपने वैभव एवं सम्पन्नता के लिए काफी ख्याति अर्जित की।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान संकेगे कि-

- जौनपुर के शर्की वंश का स्थापना एवं विकास।
- शर्की वंश के शासकों के कला एवं साहित्य का संरक्षण।
- शर्की वंश के काल में जौनपुर का कलात्मक विकास।
- जौनपुर की राजनीतिक, आर्थिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियां।

3.3 जौनपुर राज्य एक दृष्टि में

तैमूर के तुफानी आक्रमण ने सल्तनत की बची-खुची शक्ति का भी नाश कर दिया। अब तो दिल्ली के सुल्तान में इतनी शक्ति भी शेष नहीं रह गयी कि वह स्वयं अपनी रक्षा करता। इस प्रकार धीरे-धीरे साम्राज्य संकुचित होता चला गया। सैय्यद और लोदी शासकों के शासन काल में सल्तनत का विस्तार सिर्फ पंजाब तथा दोआब के क्षेत्रों में रह गया था। इस समय तक विकेन्द्रीकरण तथा विघटनकारी तत्व अत्यन्त ही सक्रिय हो उठे। सुल्तान अपने अमीरों के षड्यन्त्रों और विद्रोहों का दमन करने में ही फँसे रह गये। उन्हें सल्तनत को संगठित करने का अवसर ही नहीं मिला और नहीं ऐसा करने की क्षमता अथवा योग्यता उनमें थी। इस प्रकार सारे उत्तर भारत में छोटे-छोटे राज्यों का प्रार्दुभाव हुआ जो अपने क्षेत्रीय विस्तार के लिए आपस में ही संघर्ष रत हो गये। सुल्तान चुपचाप इन घटनाओं को घटित होते देख रहे थे, क्योंकि इनकी स्वतन्त्रता अथवा राज्य विस्तार को रोकने में वे पूर्णतः असमर्थ थे। इन राज्यों की कोई प्राकृतिक सीमाएँ निर्धारित नहीं थी। ये राज्य शक्ति पर आधारित थे, अतः इनमें जो अधिक शक्तिशाली होता था वही अपने पड़ोसी राज्यों को जीत कर अपने अधीन कर लेता था। सारे भारत में अराजकता, अशान्ति, अव्यवस्था तथा संघर्ष का सूत्रपात हो गया था जिसका अन्त बाद में बाबर द्वारा मुगल साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् ही हो पाया।

वस्तुतः सल्तनत काल में विभिन्न प्रान्तों का शासन-सूत्र मुस्लिम प्रान्तपतियों के हाथ में ही था। अतः दिल्ली के स्वतन्त्र हो जाने के बाद भी इन प्रान्तों पर मुसलमान शासकों का ही प्रभुत्व बना रहा। इन स्वतन्त्र मुस्लिम शासकों ने

प्रशासन आदि के क्षेत्रों में दिल्ली के सुल्तान की नीतियों का ही अवलंबन किया। इस प्रकार देश में मुस्लिम सत्ता का हास नहीं हुआ। यद्यपि वह विकेंद्रित हो गया था। दूसरी ओर यह समझ लेना कि प्रान्तों में स्वतन्त्र मुस्लिम राज्यों की स्थापना से हिन्दुओं के राजनीतिक प्रभुत्व की समाप्ति हो गई, भ्रममूलक होगा। उत्तर में हिमालय की तराई के प्रदेश, काँगड़ा, नेपाल तथा असम, हिन्दू सत्ता, प्रभुत्व और संस्कृति के केन्द्र थे। मध्य प्रदेश, राजस्थान, उड़ीसा आदि में मुसलमानों का प्रभुत्व अभी भी स्थापित नहीं हो पाया था और इन क्षेत्रों में हिन्दुओं की राजनीतिक सत्ता स्थापित थी। दक्षिण में विजयनगर का राज्य इस काल में हिन्दू राजनीति, सभ्यता और संस्कृति का महान केन्द्र बन गया। इन हिन्दू राज्यों की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि इतना होने पर भी ये आपस में संगठित न हो सके और आपसी ईर्ष्या, द्वेष, कलह एवं संघर्ष के द्वारा इन्होंने अपनी शक्ति को क्षीण ही किया।

3.4 शर्की वंश का राजनीतिक उत्कर्ष

3.4.1 महमूद नासिरूद्दीन 1399 ई० तक

अपने चचेरे भाई मुहम्मद तुगलक (जूना खाँ) की स्मृति में फिरोज शाह तुगलक ने जौनपुर नगर की स्थापना की थी। फिरोज तुगलक की मृत्यु के पश्चात् कुछ ही वर्षों के भीतर दिल्ली सल्तनत के कुछ प्रान्तों ने अपनी स्वतन्त्रता की स्थापना कर ली थी। ऐसे राज्यों में जौनपुर पहला था। जौनपुर के प्रान्तपति ख्वाजा जहाँ ने तुगलक सुल्तान के शक्तिहीन होने और तैमूर के आक्रमण से व्याप्त विघटनकारी प्रवृत्ति का लाभ उठाकर अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी।

3.5 ख्वाजाजहाँ प्रारम्भिक जीवन (1394-1399 ई०)

जौनपुर की सल्तनत शर्की अर्थात् 'पूर्वी' सल्तनत के नाम से प्रसिद्ध है और शर्की शासक, जिन्होंने जौनपुर में शासन किया, मलिक उस्-शर्क या पूर्वी प्रदेश का अधिपति के नाम से जाने जाते हैं।

जौनपुर राजवंश का प्रतिष्ठाता मलिक सरवर था। उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है उसने प्रारम्भिक जीवन सुल्तान फिरोज तुगलक के गुलाम के रूप में प्रारम्भ किया था, जिसे 'ख्वाजासरा' कहा जाता था। इस प्रकार फिरोज शाह के काल में यह ख्वाजासरा था। सुल्तान नासिरूद्दीन मुहम्मद शाह (फिरोज शाह के पुत्र) ने मलिक सरवर को ख्वाजासराओं का नेता बनाया। मलिक सरवर ने अपनी योग्यता तथा बुद्धिमानी से इतनी ख्याति प्राप्त कर ली कि उसे 'हस्तिशाला का निरीक्षक' नियुक्त किया गया, जिसे दरोगा-ए-पीलखाना कहा जाता था।

मुहम्मद तुगलक (द्वितीय) को यह सिपहसालार सैय्यद रज्जब अली (गयासुद्दीन द्वितीय के भाई) द्वारा दिया गया था। तुगलक शाह (फिरोज शाह के पौत्र एवं फतह खाँ के पुत्र) ने जब दिल्ली सल्तनत पर अधिकार किया तो उसने मलिक सरवर की व्यवहारिक बुद्धि से प्रभावित होकर उसे दिल्ली शहर का 'शाहना' नियुक्त किया।

3.6 सल्तनत का वजीर

1389 ई0 में जब मुहम्मद शाह (फिरोजशाह का छोटा पुत्र) गद्दी पर बैठा तो उसने मलिक सरवर को 'ख्वाजाजहाँ' की सम्मानित उपाधि से विभूषित कर सल्तनत के वजीर का सम्मानित पद प्रदान किया। इस प्रकार मलिक सरवर ने अपनी तीव्र बुद्धि और निष्ठा के बल पर 1389 ई0 में 'वजीर' का उच्च पद प्राप्त किया।

जब दरबार के एक अन्य प्रतिष्ठित अमीर इस्लाम खाँ, को यह आभास हुआ कि यदि उसकी नियुक्ति ऐसी ही बनी रहेगी तो उसकी प्रतिष्ठा पूर्णरूप से समाप्त हो जायेगी। अतः उसके निरन्तर विरोध के कारण दूसरे ही वर्ष ख्वाजाजहाँ पदच्युत कर दिया गया। परन्तु ख्वाजाजहाँ चूँकि एक तीक्ष्ण बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति था। अतः उसने 1392 ई0 में इस्लाम खाँ द्वारा रचे जा रहे दरबारी शङ्खत्र की सूचना सुल्तान मुहम्मद शाह को दी क्योंकि वह स्वयं भी इस्लाम खाँ से विद्वेष रखता था। थोड़ी सी असन्तोश जनक छानबीन के बाद इस्लाम खाँ के ही भतीजे जाजू के साक्ष्य पर उसे मृत्यु-दण्ड दिया गया। इसके पश्चात् ख्वाजाजहाँ को पुनः विजारात का भार सौंपा गया।

एक वजीर के रूप में उसने सुल्तान मुहम्मद शाह, सुल्तान सिकन्दर शाह को अपनी महान सेवाएँ प्रदान की।

सन् 1394 ई0 में फिरोज शाह का पौत्र और मुहम्मद शाह का पुत्र महमूद शाह तुगलक सुल्तान नासिरुद्दीन की पदवी धारण कर गद्दी पर बैठा। उसको सिंहासन पर बैठाने में वजीर ख्वाजाजहाँ का प्रमुख हाथ था। सुल्तान ने उसकी राजभक्ति के परिणाम स्वरूप जमादि-उल-अव्वल, 796 हि0 (1394 ई0) में उसे मलिक-उस-शर्क की सम्मानित उपाधि से विभूषित किया। सुल्तान ने ख्वाजाजहाँ की यह प्रतिष्ठित उपाधि देने के साथ ही साम्राज्य के पूर्वी प्रदेश के गर्वनर के रूप में उसकी नियुक्ति की जिसका प्रमुख केन्द्र जौनपुर को बनाया गया।

बदायूनी ने महमूद तुगलक द्वारा दी गयी सम्मानपूर्ण उपाधि सुल्तान-उस-शर्क कही है। परन्तु फरिश्ता इत्यादि इतिहासकारों ने ख्वाजाजहाँ द्वारा प्राप्त की गयी प्रारम्भिक उपाधि 'मलिक-उस-शर्क' ही बतायी है। उनके अनुसार परवर्ती काल में महमूद तुगलक के शासन में व्याप्त विश्रंखलता से लाभ उठाकर ख्वाजाजहाँ ने सुल्तान-उस-शर्क की उपाधि स्वयं ग्रहण की थी जिसका अर्थ है 'पूर्वी प्रदेश का शासक।'

3.7 ख्वाजाजहाँ : जौनपुर का स्वतन्त्र शासक

सुल्तान महमूद तुगलक ने मलिक-उस-शर्क ख्वाजाजहाँ को कन्नौज से बिहार तक के समस्त प्रदेश का प्रशासन का भार सौंपा। जौनपुर नामा से यह ज्ञात होता है कि महमूद शाह ने उन अमीरों को, जिन्होंने उसकी परेशानी में उसका साथ दिया था, उनके पद एवं प्रतिष्ठा के अनुसार राजानुग्रह प्रदर्शित किया। अतः साम्राज्य से दूरवर्ती प्रान्तों के विद्रोहों का दमन करने के लिए उसने चार अमीरों को चार विभिन्न दिशाओं में भेजा। मलिक-उस-शर्क को पूर्वी प्रान्त की ओर, दिलावर खाँ को मालवा, जफर खाँ को गुजरात एवं खिज खाँ को मुल्तान की ओर भेजा। जिस समय ये चार अमीर गवर्नर की हैसियत से अपने-अपने प्रान्तों में जाने लगे तो दिल्ली दरबार के ज्योतिषियों में से मुहम्मद शरीफ ने यह भविष्यवाणी की कि जिन मुहूर्तों में ये अमीर दिल्ली से प्रस्थान कर रहे हैं, उसके फलस्वरूप प्रत्येक सूबेदार अपने-अपने प्रान्तों में स्वतन्त्र होकर, दिल्ली सल्तनत से पृथक राज्य की नींव डालेंगे। आगे चलकर ज्योतिषी की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई।

796 हि0 (मई, 1394 ई0) में मलिक-उस-शर्क ख्वाजाजहाँ ने विद्रोहियों को दण्ड देने हेतु दिल्ली से प्रस्थान किया। वह 20 सुसज्जित हाथियों के साथ इटावा कोल, खोर या कहूरा कनील, कंवल एवं कन्नौज के आस-पास के

विद्रोहियों का दण्ड देकर जौनपुर की ओर अग्रसर हुआ। उसने अत्यन्त सरलतापूर्वक कन्नौज, कड़ा, अवध, काम्पिल्य, डलमऊ, संडीला रापरी बहराइच बिहार एवं तिरहुत के प्रदेश को अपने अधीन किया। उड़ीसा, मैनपुर, सम्भल, बरेली, आगरा भी धीरे-धीरे उसके अधीन होते गये।

इन विजयों से उत्साहित होकर एवं तुगलक शासन में व्याप्त अराजकता से लाभ उठाकर मलिक-उस-शर्क ख्वाजाजहाँ 'सुल्तान-उस-शर्क' की उपाधि धारण कर ली।

सुल्तान-उस-शर्क ने पूर्वी प्रान्त के शासक को रूप में उन हिन्दू विद्रोहियों का दमन किया जिन्होंने उस क्षेत्र के प्रशासन को एक विकट परिस्थिति में ला दिया था। उन प्रान्तों को उसने सुव्यवस्थित किया। हिन्दुओं ने जिन किलों को मुसलामानों से छीनकर नष्ट कर दिया था उनको सुल्तान-उस-शर्क ने उनके आधिपत्य से मुक्त किया और नये सिरे से उनका पुननिर्माण किया। किलों तथा उनके समीपवर्ती क्षेत्रों में अपनी सेना नियुक्त की। परगना कोल (अलीगढ़), इटावा, बहराइच और काम्पिल्य के विद्रोहियों को दण्ड देकर दिल्ली की ओर कोल तथा रापरी तक और दूसरी ओर बिहार तथा तिरहुत तक के विद्रोहियों को दण्ड दिया।

इस प्रकार सुल्तान-उस-शर्क ने अल्पकाल में ही अपनी उच्चस्तरीय राजनीतिक प्रतिभा के प्रदर्शन से एक विशाल क्षेत्र में अपनी प्रभुता स्थापित की। जिसके अन्तर्गत अवध, गंगा की घाटी, पश्चिम में कोल से पूर्व में बिहार तक का प्रदेश शामिल था। 14 वीं शताब्दी के अन्त में दिल्ली के सुल्तान महमूद के पास राजधानी दिल्ली एवं समीपवर्ती 5 जिलों को छोड़कर कुछ भी अवशिष्ट नहीं था।

3.8 सैनिक कार्यवाहियाँ

रजब 798 हि0 (1395 ई0) में सुल्तान-उस-शर्क ने अपने दत्तक पुत्र मुबारक खाँ को मलिक-उस-शर्क (पूर्वी शासक) की उपाधि प्रदान कर उसे राज्य की समस्त राजकीय कार्यवाहियों का भार सौंपा एवं बंगाल पर आक्रमण के लिए भेजा। मुबारक खाँ ने विद्रोह एवं विद्रोहियों का अत्यन्त कुशलता से दमन किया और बंगाल के शासक से उपहार सामग्री एवं राजस्व प्राप्त कर लौटा। बदाऊँनी का कथन है कि सुल्तान-उस-शर्क ने उड़ीसा के जाजनगर तक सैनिक कार्यवाही की और उसे हस्तगत किया। उसने उस क्षेत्र से बहुत सी उपहार सामग्री एवं हाथी प्राप्त किये और उसी समय से लखनौती का शासक प्रति वर्ष हाथी भेजने लगा जैसा वह दिल्ली भेजा करता था।

फारिश्ता के अनुसार सुल्तान-उस-शर्क की शक्ति इतनी बढ़ गयी कि बंगाल के लखनौती में शासन कर रहे पूर्वी शासक रीति के अनुसार हाथी तथा अन्य उपहार-सामग्री (खिराज तथा पेशकश) दिल्ली सुल्तान को भेजने के स्थान पर शर्की शासक 'सुल्तान-उस-शर्क' की प्रगति से संशकित होकर उसी को भेंटस्वरूप देकर सन्तुष्ट किया।

निजामुद्दीन अहमद ने भी इस बात की पुष्टि की है कि लखनौती के शासक बिना मांगे राजस्व प्रतिवर्ष जौनपुर भेजने लगे, जो वे प्रतिवर्ष फिरोज को भेजते थे। यह कहा जाता है कि बंगाल का शासक गयासुद्दीन आजमशाह (795-813 हि0) जो सिकन्दर शाह का पुत्र था, जौनपुर के ख्वाजाजहाँ की निरन्तर प्रगति से संशकित होकर ख्वाजाजहाँ की निरन्तर प्रगति से संशकित होकर ख्वाजाजहाँ को राजस्व भेजने लगा, जो कि फिरोजशाह तुगलक के साथ की गयी सन्धि की शर्तों के अनुसार दिल्ली सुल्तान को भेजा जाना था। परन्तु इसका कोई साक्ष्य नहीं मिलता कि यह राजस्व लगातार दिल्ली सुल्तान को भेजा जाता था क्योंकि ख्वाजाजहाँ पर यह आरोप लगाया जाता है कि जिस समय यह

राजस्व दिल्ली भेजा जा रहा था उसने उसे बलपूर्वक हस्तगत कर लिया, परन्तु यह कथन सत्य नहीं है। जो राशि ख्वाजाजहाँ को भेजी गयी थी वह शायद एक प्रशंसनीय उपहार था। डिस्ट्रिक्ट गजेटियर बान्दा से यह ज्ञात होता है कि सुल्तान-उस-शर्क जमुना के दक्षिण ओर अपने अधिकार-क्षेत्र का विस्तार नहीं कर सका था।

इस प्रकार ख्वाजाजहाँ सुल्तान-उस-शर्क की क्रमशः प्रगति दिल्ली सल्तनत के स्वार्थ के विरुद्ध प्रमाणित हुई। 1398 ई0 में तैमूर के दिल्ली पर आक्रमण के समय जब दिल्ली का सुल्तान कठिनाईयों से घिरा हुआ था, ख्वाजाजहाँ ने दिल्ली के सुल्तान महमूद तुगलक को किसी प्रकार की सहायता प्रदान नहीं की और पूर्व में अपने क्षेत्रीय विस्तार में संलग्न रहा।

जब सुल्तान महमूद तुगलक ने तैमूर लंग के विरुद्ध युद्ध में अपनी पराजय के बाद गुजरात में शरण ली तो दिल्ली सल्तनत में किसी केन्द्रीय शक्ति एवं शक्तिशाली प्रभुत्व के अभाव में ख्वाजाजहाँ सुल्तान-उस-शर्क को जौनपुर में एक नवीन राजवंश को स्थायी रूप से स्थापित करने का स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ। उसने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर 'अतावक-ए-आजम' की सम्मानित उपाधि धारण की एवं दिल्ली से पृथक होकर जौनपुर में एक स्वतन्त्र राजवंश 'शर्की राजवंश' की स्थापना की।

3.9 बिहार पर आक्रमण-उज्जैनियाँ राजपूतों से युद्ध

ख्वाजाजहाँ सुल्तान-उस-शर्क की सबसे महत्वपूर्ण सैनिक कार्यवाही बिहार पर है। फरिश्ता के अनुसार ख्वाजाजहाँ ने गोरखपुर तथा बहराइच को अपने अधीन करके अन्तर्वेद तथा बिहार की ओर प्रस्थान किया। इससे सिद्ध होता है कि उसने बिहार पर सैनिक कार्यवाही की थी।

ख्वाजाजहाँ सुल्तान-उस-शर्क के बिहार के उज्जैनियाँ राजपूतों से संघर्ष के सम्बन्ध में बहुत से इतिहासकार मौन हैं। फारसी की हस्तलिखित पुस्तकों में भी इस सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की गयी है। केवल बिहार तक ख्वाजाजहाँ के अधिकार का समर्थन किया गया है।

बीकानेर के बोधराज द्वारा शर्कियों एवं दक्षिणी बिहार के शाहाबाद जिले के उज्जैनियाँ राजपूतों के पारस्परिक सम्बन्ध पर थोड़ा बहुत प्रकाश डाला गया है। इसके द्वारा हमें ख्वाजाजहाँ के उज्जैनियाँ राजपूतों के विरुद्ध आक्रामणात्मक कार्यवाही का कुछ संकेत मिलता है।

ख्वाजाजहाँ ने 1394 ई0 में बिहार पर आक्रमण करने के लिए जौनपुर से प्रस्थान किया। उस समय संवत् 1400 में भोजपुर की गद्दी पर देवराज के पश्चात् सोमराज बैठा था। हरराज, गजराज एवं जगदेव तीन पुत्रों का छोड़कर संवत् 1445 में स्वर्गवासी हुआ।

हरराज के समय संवत् 1450 (1394 ई0) में जौनपुर के सूबेदार ख्वाजाजहाँ के सैनिक जौनपुर से बिहार के लिए प्रस्थान करके चौसाघाट से उतरकर बक्सर में ठहरे। उनमें से कुछ सैनिक सैर करने हेतु गंगा के किनारे पहुंचे। ब्राह्मणों को पूजापाठ करते देख उन्हें सताने लगे एवं अशोभनीय कार्य करने लगे। ब्राह्मणों के विरोध करने पर वे उनसे उलझ पड़े एवं एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे। उज्जैनियाँ राजपूतों के संघर्ष का यह एक महत्वपूर्ण कारण बताया जाता है।

उसी समय राजकुमार गजराज के राजपूत सैनिक घटनास्थल पर पहुंचे। उन्होंने मुस्लिम सैनिकों को धर दबाया। महाराजकुमार गजराज इस संघर्ष का संवाद पाकर अपने सैनिकों की सहायता के लिए स्वयं उपस्थित हुआ। बहुत से यवन सिपाही मारे गये, जो शेष बचे वे भागकर जौनपुर पहुंचे।

ख्वाजाजहाँ उज्जैनियों के हाथों अपने सैनिकों के मारे जाने का समाचार पाकर भोजपुर पर आक्रमण हेतु प्रस्थान किया। इस युद्ध में महाराज हरराज लड़ता हुआ मारा गया। महाराजकुमार गजराज और देवराज राज-परिवार के समस्त सदस्यों के साथ निकल भागे। मुस्लिम सैनिकों ने नगर में प्रवेश कर लूटमार मचायी एवं मन्दिरों को विध्वंस कर दिया। राज प्रसाद में आग लगाकर भोजपुर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

उज्जैनियों ने भोजपुर से पलायन कर महाराजकुमार गजराज से गद्दी पर बैठाया। अगम्य जंगलों और पहाड़ों का आश्रय लेकर वे शर्की सैनिकों से लोहा लेते रहे। समय-समय पर वे पहाड़ों से उतरकर यवनों पर टूट पड़ते एवं लूट-मारकर वापस लौट जाते। इसी प्रकार उज्जैनी राजपूतों के सैनिक गुरिल्ला युद्ध के द्वारा शर्की सैनिकों से उस समय तक उलझते रहे जब तक कि वि०सं० 1456 (1399 ई०) में सुल्तान-उस-शर्क ख्वाजाजहाँ की मृत्यु के बाद पुनः महाराजकुमार गजराज ने पहाड़ों से निकलकर कुरूर पर अधिकार कर लिया।

ख्वाजाजहाँ के दक्षिणी बिहार पर आधिपत्य के प्रमाण स्वरूप हम कह सकते हैं कि बिहार पर महमूद तुगलक का आधिपत्य, जैसा कि उसके प्रलेखों से ज्ञात होता है, ख्वाजाजहाँ ने अपने को स्वतन्त्र घोषित नहीं किया, तब तक उसने सभी सार्वजनिक इमारतों में अपने सम्प्रभु (महमूद तुगलक) के नाम का ही प्रयोग किया था। क्योंकि महमूद तुगलक के बिहार में प्राप्त 4 प्रलेखों में से 3 प्रलेखों की तिथि 796 हि० के पश्चात् की है, जब मलिक सरवर ख्वाजाजहाँ सुल्तान की ओर से पूर्वी प्रदेश के प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त हुआ था।

इससे स्पष्ट होता है कि ख्वाजाजहाँ सुल्तान-उस-शर्क ने दक्षिणी बिहार के शहाबाद जिले तक अपनी सैनिक कार्यवाही की थी। मलिक सरवर ख्वाजाजहाँ सुल्तान-उस-शर्क अपनी समस्त कार्यवाहियों में एक स्वतन्त्र शासक के समान था, यद्यपि उसने 'सुल्तान' की उपाधि ग्रहण नहीं की थी।

परन्तु वह अपने को दिल्ली सल्तनत का अधीनस्थ मानने को भी तैयार नहीं था। इसलिए उसने केवल सुल्तान-उस-शर्क की उपाधि तक ही अपने को सीमित रखा। फरिष्ता के अनुसार सुल्तान-उस-शर्क की यह हार्दिक इच्छा थी कि वह खुतबा एवं सिक्का अपने नाम का पढ़वाए एवं ढाले। जिस प्रकार पूर्वी शासक (लखनौती के शासक) करते थे उसी प्रकार भी अपने सिर पर राजछत्र धारण करो। परन्तु मृत्यु ने उसे अधिक सोचने का अवसर नहीं दिया।

निजामुद्दीन अहमद इस सम्बन्ध में मौन है। यह भी हो सकता है कि मृत्यु ने उसे अधिक अवसर प्रदान नहीं किया क्योंकि 802 हि० (1399 ई०) में अपने अल्पकालीन शासन के पश्चात् ख्वाजाजहाँ सुल्तान-उस-शर्क की मृत्यु हो गयी। उसने 5 वर्ष 6 माह तक शासन किया।

इस अल्पावधि के शासन के बावजूद भी ख्वाजाजहाँ को जौनपुर में उस उज्ज्वल और गौरवशाली राजवंश की स्थापना का महान श्रेय प्राप्त हुआ जिसके आगे दिल्ली सल्तनत की ज्योति मद्धिम पड़ गयी। जौनपुर के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना का श्रेय सम्पूर्ण रूप से ख्वाजाजहाँ को ही है। उसने उस समय व्याप्त राजनीतिक अशान्ति को समाप्त कर जौनपुर में एक सुव्यवस्थित शासनकी नींव डाली, हेग ने तो उसके जौनपुर की ओर प्रस्थान की तिथि को ही शर्की राजवंश की स्थापना की तिथि के रूप में चिन्हित कर दिया है।

ख्वाजाजहाँ ने एक ऐसे राजवंश की स्थापना की जिसका अस्तित्व आगामी 100 वर्षों के लिए सुरक्षित हो गया। तैमूर के चले जाने के पश्चात् दिल्ली सल्तनत की ओर अराजकतापूर्ण परिस्थिति से मुक्ति पाने के लिए अनेक प्रतिष्ठित और उल्लेखनीय विद्वानों ने राजधानी दिल्ली को त्यागकर जौनपुर के दरबार में शरण ली, जिन्हें शर्की राजाओं की ओर से सम्पूर्ण राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ। अल्पकाल के भीतर ही जौनपुर भारत का शिराज-ए-हिन्द नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ख्वाजाजहाँ ने अत्यन्त उदारता एवं न्यायपूर्वक शासन किया। वह अपनी हिन्दू मुस्लिम प्रजा में समान रूप से प्रिय था। हिन्दुओं की विशेष सहायता से ही उसने स्वतन्त्रता प्राप्त कर जौनपुर में शर्की शासन की नींव डाली और शर्की सल्तनत की सीमा का विस्तार किया। ख्वाजाजहाँ ने इमाद-उल-मुल्क बख्तियार खाँ को सम्पूर्ण दरबारी अमीरों से पृथक करके राज्य का मंत्री बनाया। उसने जौनपुर को विशेष आकर्षण प्रदान किया। उसने धार्मिक शिक्षा को विशेष महत्व प्रदान किया और इसके लिए खानकाहें (मठ) और मदरसे खोले गये। 1399 ई० में उसके आकस्मिक निधन ने उसके शासन काल को अत्यन्त संक्षिप्त बना दिया। अपने जीवन-काल में ही उसने सैय्यद मुबारक शाह करनफल को अपना दत्तक पुत्र एवं शर्की राज्य का भावी उत्तराधिकारी घोषित कर दिया जिसे उसके उच्चस्तरीय मानसिक विवेचन, दूरदर्शिता एवं शर्की राज्य की सुदृढ़ता के ज्वलन्त उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

3.10 मुबारक शाह (1399-1402 ई०)

1399 ई० में ख्वाजा जहाँ का दत्तक पुत्र मलिक करनफूल गद्दी पर बैठा और उसने 'मुबारक शाह' की उपाधि धारण की। वह शर्की वंश का पहला शासक था जो सुल्तान कहलाया और जिसके नाम के सिक्के प्रचलित हुए तथा खुतबे पढ़े गये। मुबारक शाह के समय से ही जौनपुर का दिल्ली के साथ कटु सम्बन्ध शुरू हुआ।

3.11 इब्राहिम शाह (1402-1496 ई०)

1402 ई० में मुबारक शाह की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई इब्राहिम शाह जौनपुर का सुल्तान बना। वह शर्की वंश का सर्वश्रेष्ठ शासक था। दिल्ली के साथ उसका सम्बन्ध अच्छा नहीं था। एक बार जब सुल्तान महमूद अपने वजीर मल्लू से तंग आकर भाग कर जौनपुर आया तो इब्राहिम ने उसके साथ सम्मानोचित व्यवहार नहीं किया। इससे चिढ़कर महमूद ने जौनपुर के कन्नौज जिले पर अधिकार कर लिया। महमूद के उत्तराधिकारी खिज खाँ के साथ भी इब्राहिम के संघर्ष हुए। इब्राहिम ने कन्नौज को पुनः प्राप्त करने और बंगाल को जीतने का प्रयत्न किया, किन्तु इसमें वह असफल रहा।

इब्राहिम निःसंदेह शर्की वंश का महानतम शासक था। उसने चौँतीस वर्ष तक शासन करके अपने राज्य को विशाल एवं उन्नत बनाया। वह एक सुसंस्कृत सुल्तान तथा कला एवं विद्या का महान् प्रेमी था। उसने पाठशालाओं तथा विद्यालयों की स्थापना की और राजकोष से उन्हें उदार धर्मस्व प्रदान किये। उसने देश के विभिन्न भागों से विद्वानों तथा धर्मशास्त्रज्ञों को आमन्त्रित किया और उन्हें निर्वाह के लिए भत्ते तथा हर प्रकार से राज्य की ओर से संरक्षण दिया। उसने शिक्षा-साहित्य और कला को राज्य का संरक्षण आमन्त्रित कर उन्हें राज्य की ओर से संरक्षण प्रदान किया। उसकी राज्य सभा में उच्चकोटि के विद्वान थे। उसके शासनकाल में जौनपुर इस्लामी धर्म-शास्त्रों का नूतन तथा अन्य विषयों पर

अनेक ग्रंथों की रचना हुई। उसने अनेक भारतीय ग्रंथों का अनुवाद फारसी में भी करवाया। उसके शासनकाल में जौनपुर मुस्लिम शिक्षा तथा संस्कृति का एक प्रधान केन्द्र बन गया। इब्राहिम शाह ने अनेक भवनो का निर्माण कर जौनपुर को अधिक सुंदर, आर्कषक और वैभवशाली बनाया। उसके द्वारा निर्मित मस्जिदों में जौनपुर की अटाला मस्जिद सबसे अधिक प्रसिद्ध है। उसके शासनकाल में स्थापत्य कला के क्षेत्र में एक नवीन शैली का विकास हुआ जो शर्की शैली के नाम प्रसिद्ध है। इस शैली में निर्मित मस्जिदों में सामान्य मीनारों का अभाव था और इस पर हिन्दू स्थापत्य का भी प्रभाव पड़ा था। इब्राहिम को संगीत तथा अन्य ललित कलाओं से भी प्रेम था। संस्कृति के क्षेत्र में अपनी उपलब्धियों के कारण जौनपुर उसके शासनकाल में 'भारत के शिराज' के नाम से विख्यात हुआ। किन्तु, योग्य होने पर भी धर्मान्ध और असहिष्णु था। उसने हिन्दुओं पर अत्याचार किये। अटाला मस्जिद का निर्माण अटाला देवी के मंदिर को विध्वंस करके उसके भग्नावशेषों पर किया गया था। 1436 ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

3.12 : महमूद शाह (1436-1457 ई०)

इब्राहिम की मृत्यु के बाद उसका पुत्र महमूद शाह जौनपुर का शासक बना। उसने इक्कीस वर्ष (1436-1457 ई०) तक शासन किया। उसने अनेकों बार दिल्ली पर आक्रमण किये और उसको जीतने का प्रयास किया किन्तु सुल्तान बहलोल लोदी ने उसे परास्त कर दिया। महमूद शाह भी योग्य शासक था। शिक्षा-साहित्य तथा कला-कौशल के क्षेत्र में उसके शासनकाल में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई। उसने भी कई मस्जिदों का निर्माण करवाया। 1457 ई० में महमूद शाह की मृत्यु हो गई। उसके बाद उसका पुत्र मिखन मुहम्मद शाह के नाम से गद्दी पर बैठा, पर वह बड़ा ही निर्दयी, अत्याचारी और अदूरदर्शी शासक था। उसने अपने अमीरों से झगड़ा मोल ले लिया और अपने एक भाई की हत्या भी करवा दी। उसके कार्यों और नीतियों से असंतुष्ट और क्षुब्ध होकर अमीरों ने उसका वध करके उसके छोटे भाई हुसैन शाह को गद्दी पर बैठा दिया।

3.13 हुसैन शाह (1458-1500 ई०)

हुसैन शाह ने लगभग बयालीस वर्ष (1458-1500 ई०) तक राज्य किया। हुसैन शाह को संगीत से प्रेम था। जौनपुर के सुल्तान ने प्रसिद्ध राग हुसैनी, कान्हड़ा और तोड़ी का आविष्कार किया था। उसके दरबार में हिन्दू और मुसलमान दोनों समुदाय के विद्वान थे जिनमें नायक बख्श, बैजू (बावरा), पांडवी, लोहंग, जुजू देवी और डालू के नाम प्रमुख हैं। उसने बिहार के जमींदारों का दमन किया तथा उसके राज्य से कर वसूल कर लिया। उसने ग्वालियर को जीतने का भी असफल प्रयास किया था। इसी बीच में दिल्ली तथा जौनपुर के बीच पुनः संघर्ष आरम्भ हो गया। सन् 1489 ई० में सुल्तान बहलोल लोदी ने उसे परास्त और पदच्युत करके अपने ज्येष्ठ पुत्र बरबरक शाह को जौनपुर का शासक नियुक्त कर दिया। हुसैन शाह शर्की वंश का अंतिम शासक था। उसकी पराजय से जौनपुर की स्वतंत्रता समाप्त हो गई। हुसैन शाह को बिहार में शरण लेनी पड़ी। बिहार में बैठकर उसने दिल्ली के सुल्तान के विरुद्ध कुचक्र चलाये और जौनपुर राज्य के जमींदारों को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का भड़काया। सिकंदर लोदी को इससे काफी ईर्ष्या हो गई और उसने जौनपुर को स्थायी रूप से दिल्ली सल्तनत में मिला लिया। हुसैन शाह की मृत्यु 1500 ई० में निर्वासित दशा में हो गई। इसके साथ ही शर्की राजवंश का अवसान हो गया।

लगभग अस्सी वर्षों तक जौनपुर शर्की वंश के अधीन स्वतंत्र रहा। इस काल में वह इस्लामी शिक्षा, कला और संस्कृति का एक मुख्य केन्द्र बन गया। शर्की शासकों के प्रयत्न से शिक्षा-साहित्य तथा कला-कौशल का काफी विकास हुआ। यहाँ अनेक मस्जिदों, मकबरों और भवनों का निर्माण किया गया। मध्यकालीन भारतीय इतिहास में अल्पकालिक होते हुए भी जौनपुर का शर्की राजवंश बड़ा ही महत्वपूर्ण माना जाता है।

3.14 शर्की राजवंश की स्थापत्य कला

मध्य काल में स्थापत्य कला का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण केन्द्र जौनपुर रहा है। इस शहर की स्थापना 1359-60 ई० में फिरोजशाह तुगलक ने की थी। यह एक लम्बे काल तक दिल्ली सल्तनत के अधीन रहा। 1394 ई० में ख्वाजाजहाँ के अधीन जौनपुर एक स्वतंत्र राज्य बन गया। यह लगभग एक सदी तक स्वतंत्र राज्य रहा जिसके पश्चात् सिकन्दर लोदी ने पुनः उसे जीत कर सल्तनत का अंग बना लिया। ख्वाजाजहाँ ने जौनपुर में शर्की राजवंश की स्थापना की थी जिसके शासकों ने लगभग एक सदी तक स्वतंत्र रूप से जौनपुर पर शासन किया। शर्की शासकों ने जौनपुर में स्थापत्य को काफी प्रोत्साहन दिया। उन्होंने यहाँ बहुत ही इमारतों का निर्माण करवाया जिनमें महल, मस्जिदें और मकबरे आदि सभी शामिल थे। दुर्भाग्यवश आज इनमें से अधिकांश नष्ट हो गये हैं, किन्तु जो बचे हुए हैं उनसे शर्की-शैली की महानता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। शर्की शासकों द्वारा निर्मित भवनों में हिन्दू एवं मुस्लिम शैलियों का सुन्दर समन्वय मिलता है। यहाँ की शैली की अपनी कुछ खास विशेषताएँ थीं। यहाँ पर जितने भी भवन बनाए गये हैं, उनमें भारी ढालू दीवारें, संकीर्ण दहलीजें तथा चौकोर स्तम्भों का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है। यहाँ की अधिकांश मस्जिदों में विध्वंस किये गये हिन्दू मन्दिरों की सामग्री का ही प्रयोग हुआ है। मस्जिदों में इस्लामी शैली की मीनारें भी देखने को नहीं मिलती है।

जौनपुर के किले का निर्माण 1377 ई० में किया गया था। अब यह किला खण्डहर के रूप में परिणित हो गया है। इसका केवल पूर्वी द्वार बचा हुआ है जिसकी स्थिति भी दयनीय है।

जौनपुर की शर्की शैली का सबसे महत्वपूर्ण इमारत अटालादेवी की मस्जिद है। इसका निर्माण कार्य 1377 ई० में प्रारम्भ हुआ था और यह 1408 ई० में बन कर तैयार हो गयी। इसमें हिन्दू शैली का अपूर्व समन्वय है, जैसा कि इसके नाम से ही परिलक्षित होता है। आज जहाँ यह मस्जिद स्थापित है वहाँ इससे पहले अटालादेवी का मन्दिर था। उसे नष्ट कर उस स्थान पर ही मस्जिद का निर्माण किया गया। इसके निर्माण में अटालादेवी के मन्दिर की सामग्री का प्रयोग किया गया है। इस मस्जिद में एक खुला वर्गाकार आँगन है जिसके उत्तर और दक्षिण पूर्व में खम्भेदार कमरे हैं। इसके पश्चिम में प्रार्थना-स्थल है। मस्जिद के तीन ओर प्रवेश-द्वार हैं जो गुम्बदों द्वारा आच्छादित हैं। यद्यपि निर्माण एवं शैली की दृष्टि से यह मस्जिद तुगलक-मस्जिदों से बहुत हद तक मिलती-जुलती है, फिर भी इनके बीच अनेक बातों में भिन्नता है। यह अपेक्षाकृत अधिक अलंकृत है। इसके प्रार्थना स्थल के सामने जो विशाल एवं प्रभावशाली महाराबी जालियाँ लगी हुई हैं, यह शर्की-शैली की खास विशेषता है। इस प्रकार अटालादेवी की मस्जिद में मस्जिद निर्माण की शैली का एक नवीन आदर्श प्रस्तुत किया गया है, जो बाद में चलकर जौनपुर की स्थापत्य कला शैली की एक विशेषता बना गया। स्थापत्य की दृष्टि से अटालादेवी मस्जिद एक प्रभावशाली एवं आकर्षक नमूना है।

सुल्तान इब्राहिम (1401-40 ई0) के शासन काल में एक अन्य मस्जिद का निर्माण उसके दो गर्वनर मलिक खालिस और मलिक मुखालिस ने अपने नाम पर किया। यह एक अलंकरणहीन सादा मस्जिद है।

जौनपुर के भवनों में सबसे प्रमुख जामा मस्जिद है। इसका निर्माण हुसैनशाह शर्की ने 1417 ई0 के लगभग करवाया था। यह जौनपुर की सबसे विशाल मस्जिद है। सम्पूर्ण इमारत एक बहुत बड़े चबूतरे पर स्थित है। इसका प्रार्थना-स्थल दुमंजिला है। मस्जिद के मध्य का सिंह-द्वार बड़ा ही आकर्षक है। अन्दर का प्रार्थना-कक्ष पाँच भागों में विभाजित है। इसके दोनों ओर दो मंजिले खम्भेदार भाग हैं। इसका बड़ा हॉल, जिसकी छत बिना किसी आधार के टिकी है, खास रूप से आकर्षक है। जामा मस्जिद की योजना और शिल्प-शैली अटालादेवी की मस्जिद से बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

इब्राहिम शर्की ने 1430 ई0 में झंझरी मस्जिद का निर्माण करवाया। आज यह खण्डहर की अवस्था में पड़ी हुई है। इसके अवशेषों में केवल मध्य का बड़ा प्रवेश-द्वार ही बचा हुआ है। झंझरी मस्जिद भी अटालादेवी मस्जिद के नमूने पर बनी है। मस्जिद की भीतरी दीवारों पर अलंकरण और नक्काशियाँ की गयी हैं।

पन्द्रह सदी के मध्य में 'लाल दरवाजा' मस्जिद का निर्माण किया गया। इसके मुख्य प्रवेश-द्वार का रंग लाल है, अतः इसे इस नाम से पुकारा जाता है। यद्यपि यह मस्जिद भी अटालादेवी मन्दिर के समान है, परन्तु उससे कुछ बातों में भिन्न है। यह भिन्नता दोनों मस्जिदों के मुख्य प्रवेश-द्वारों में खास तौर पर देखने को मिलती है। इस मस्जिद के प्रवेश-द्वार की ऊँचाई उसके आधार की चौड़ाई की तुलना में कम है। पुनः अराला मस्जिद में महिलाओं की गैलरियाँ दूर कोनों में हैं जबकि झंझर मस्जिद में वे लगभग मध्य भाग में हैं। इसके भीतरी महराबी-निम्बर के मध्य भाग के ऊपर केवल एक ही गुम्बद है और उसके बगल में निकली छत भी अटाला मस्जिद से भिन्न है। इस प्रकार लाल दरवाजा मस्जिद अपनी कुछ मौलिकता लिए हुए हैं।

उपर्युक्त मस्जिदों के अतिरिक्त शर्की शैली में कई अन्य मस्जिदों एवं मकबरो का निर्माण हुआ। किन्तु, उनकी शैली में कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है। शर्की शैली में कुछ खास दोष है: गुम्बदों की कम ऊँचाई, निर्माण योजनाओं की भद्दी बनावट तथा इमारती अनुपात की कल्पना का अभाव। यद्यपि इस शैली में बनी इमारतों के अलग-अलग भाग सुन्दर एवं प्रभावोत्पदक है, परन्तु इन दोषों के कारण सम्पूर्ण इमारत स्थापत्य की दृष्टि से प्रभावोत्पादक एवं आकर्षक प्रतीत नहीं होते हैं। फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि शर्की वंश के शासकों ने प्रथम श्रेणी के अनेक इमारतों का निर्माण करवाया जिनका मध्यकालीन भारतीय स्थापत्य कला के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है।

3.15 सारांश

शर्की सल्तनत का अस्तित्व लगभग सौ वर्ष (1394-1500 ई0) तक ही बना रहा। अपनी उन्नति के काल में शर्की वंश की राज्य सीमा पश्चिमी उत्तर-प्रदेश के अलीगढ़ से उत्तरी बिहार के दरभंगा तक और उत्तर नेपाल से दक्षिणी में बुन्देलखण्ड तक थी। यद्यपि जौनपुर नगर की स्थापना फिरोजशाह तुगलक ने की थी, परन्तु स्वतंत्र शर्की वंश राज्य की स्थापना करने का श्रेय मलिक सरवर ख्वाजाजहाँ को जाता है। जौनपुर के शर्की वंश के सभी शासकों ने कला एवं साहित्य को संरक्षण प्रदान किया। कला एवं साहित्य के उत्थान के कारण जौनपुर न केवल महत्वपूर्ण शिक्षा का केन्द्र

बन गया बल्कि इसे शिराज-ए-मशरिक के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। इस समय लोग दूर-दूर से शिक्षा प्राप्त करने जौनपुर आया करते थे। बीबी राजा बेगम का मदरसा जौनपुर की प्रसिद्ध शिक्षण संस्था थी। प्रारम्भिक अवस्था में शेरशाह सूरी ने भी जौनपुर में ही शिक्षा प्राप्त की थी। जौनपुर के शासकों ने स्थापत्यकला की ओर भी अपना विशेष ध्यान दिया तथा कलाकारों को संरक्षण एवं प्रोत्साहन भी प्रदान किया था। हिन्दू और इस्लामिक शैली के समन्वय से स्थापत्यकला से महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस नई विकसित शैली को जौनपुर की शैली का नाम भी दिया गया। इस शैली के प्रमुख इमारतों में जामा मस्जिद, अटाला देवी मस्जिद, झँझरी मस्जिद और लाल दरवाजा मस्जिद आदि प्रमुख हैं। जौनपुर राज्य न केवल राजनीतिक एवं आर्थिक उन्नति की बल्कि सांस्कृतिक क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति की। दिल्ली सल्तनत के बिखराव के बाद यह एक सम्पन्न और समृद्ध राज्य के रूप में विख्यात हुआ। अनेक विद्वानों एवं कलाकारों ने जौनपुर को अपना स्थाई ठिकाना बनाया। इन कलाकारों एवं विद्वानों के आगमन से कला और साहित्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई। संक्षेप में हम कह सकते हैं नवउदित सभी स्वतंत्र राज्यों में जौनपुर का स्थान सर्वोत्तम और सराहनीय बन गया।

3.16 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. इब्राहिम शाह शर्की की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
 2. जौनपुर की कलात्मक उपलब्धि की व्याख्या कीजिए।
 3. जौनपुर स्वतंत्र राज्य के पतन के कारणों का उल्लेख कीजिए।
-

3.17 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. एल० पी० शर्मा- मध्यकालीन भारत
 2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव- भारत का इतिहास
 3. लईक अहमद- मध्यकालीन भारतीय संस्कृति
 4. हरिष्चन्द्र वर्मा- मध्यकालीन भारत-भाग-1
 5. विपिन बिहारी सिन्हा- मध्यकालीन भारत
 6. आर० एस० त्रिपाठी- हिस्ट्री ऑफ कन्नौज
-

3.18 निबंधात्मक प्रश्न

1. जौनपुर शर्की वंश के उदय पर एक लेख लिखिए।
2. जौनपुर को शिराज-ए-मलिक क्यों कहा जाता है।